इकाई 01- समाजशास्त्र – अर्थ,परिभाषा व प्रकृति

Sociology-Meaning, Defintions & Nature

इकाई की रूपरेखा

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 समाजशास्त्र का अर्थ व परिभाषा

1.2.1 समाजशास्त्र समाज का अध्ययन

1.2.2 समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का अध्ययन

1.2.3 समाजशास्त्र सामाजिक जीवन,घटनाओं, व्यवहार एवं कार्यों का अध्ययन है

1.3 समाजशास्त्र की प्रकति

1.3.1 समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में

1.4 सारांश

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

1.7 संदर्भ ग्रंथ

1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है यह एक ऐसा विषय है, जिसमें मानव समाज के विभिन्न स्वरूप, संरचना व प्रक्रियाओ का क्रमबद्ध तरीके से अध्ययन किया जाता है। अगस्त कॉम्टे प्रथम विचारक हैं, जिन्होंने एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र विषय का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किया। उनको मानवीय तथा सामाजिक एकता पर बल देना वाला प्रथम समाजशास्त्री माना जाता है। उनका विचार था कि कोई भी ऐसा नहीं है जिसने कि समाज के विभिन्न पहलुओं का समग्र रूप में अध्ययन किया हो। इस कमी को दूर करने के लिए उन्होंने इस नवीन विषय का निर्माण किया। इसीलिए कॉम्टे को समाजशास्त्र विषय का जनक या जन्मदाता माना जाता है। समाजशास्त्र विषय का जनक मात्र इसीलिए नहीं कि उन्होंने इस नवीन विषय को प्रथमतः नाम प्रदान किया अपितु इसीलिए भी कि उन्होंने इस विज्ञान को 'विज्ञानों के संस्तरण' में तार्किव व उचित स्थान दिलवाने में तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग की संभावना को जोरदार शब्दो में व्यक्त करने में भी सफलता प्राप्त की। इस इकाई का उदेश्य समाजशास्त्र के अर्थ, प्रकृति, विषय क्षेत्र की विवेचना करना है।

समाजशास्त्र की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना एक कठिन कार्य है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से दी है। समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं को हम निम्नलिखित पांच प्रमुख श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं-

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समाजशास्त्र का अर्थ , समाजशास्त्र की प्रकति व समाजशास्त्र व विज्ञान के बीच संबंध को विस्तृत रूप से जान सकेंगे ।

1.2 समाजशास्त्र का अर्थ व परिभाषा

समाजशास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों से मिलकर बनी है जिसमें से पहला शब्द 'सोसियस' (Socius) लैटिन भाषा से ओर दूसरा शब्द 'लोगस' (logus) ग्रीक भाषा से लिया गया है। इस प्रकार समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ समाज का शास्त्र या समाज का विज्ञान है। डॉन मार्टिनल ने बताया है कि यदि मानव प्रकृति से दार्शनिक है तो स्वभावतः वह समाजशास्त्री भी है,

क्योंकि सामाजिक जीवन उसका स्वाभाविक उद्देश्य है। समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान के रूप में स्थापित करने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान आगस्त काँम्टे को है, आपने ही 1838 में इस नवीन शास्त्र को समाजशास्त्र (Sociology) नाम दिया। अतएव आपको समाजशास्त्र के जनक के रूप में भी जाना जाता है। कालांतर में दुर्खीम, सपेंसर, मैक्स वेबर एवं अन्य विद्वानों ने समाजशास्त्र को एक अकादमिक विज्ञान के रूप में विकसित करने हेतु अपने महत्वपूर्ण योगदान दिए। समाजशास्त्र की उत्पत्ति के मूल स्रोतों पर प्रकाश डालते हुए गिंसबर्गने लिखा है कि यह स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति राजनीति दर्शन , इतिहास, विकास के जैविकीय सिद्धांत एवं उन सभी सामाजिक और राजनीतिक सुधार आंदोलनों पर आधारित है जिन्होंने सामाजिक दिशाओं का सर्वेक्षण करना आवश्यक समझा। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन व मानवीय संबंधों की जटिलता के अध्ययन का विश्लेषण दोनों को यथार्थता की कसौटी पर कसने के लिए समाजशास्त्र का अविर्भाव एक समाजविज्ञान के रूप में 19वीं शताब्दी में हुआ।

विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र को एक समाज-वैज्ञानिक विषय व सामाजिक विषय के रूप में अपने - अपने तरीकों से परिभाषित करने के प्रयास किए। विषयांतर्गत सार को समझने हेतु कुछ परिभाषाएं निम्नवत हैं:-

वार्ड के अनुसार - " समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है"।

गिडिंग्स के अनुसार – " समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है"।

मैक्स बेवर के अनुसार – "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो कि सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, जिससे उसकी प्रक्रिया व प्रभावों की बुद्धिसंगत व्याख्या की जा सके"।

गिंसबर्ग के अनुसार – "समाजशास्त्र मानवीय अंतर्कियाओं और अंर्तसंबंधों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है"।

1.2.1 समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है

अधिकांश विद्वान जैसे ओडम, वार्ड, जिसबर्ट, गिडिंग्स आदि समाजशास्त्र को समाज के अध्ययन या समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं। यही दृष्टिकोण अधिकांश प्रारंभिक

समाजशास्त्रियों का भी रहा है जिन्होंने समाज का समग्र के रूप में अर्थात् इसे एक संपूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करने पर बल दिया है। ओडम के अनुसार "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।'' वार्ड के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।'' जिसबर्ट के अनुसार, "समाजशास्त्र सामान्यतः समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है।'' इसी भांति गिडिंस के अनुसार, "समाजशास्त्र समग्र के रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन तथा व्याख्या है।''

समाज के अध्ययन के रूप में दी गई समाजशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि केवल ' समाजशास्त्र ' का शाब्दिक अर्थ ही 'समाज का अध्ययन' या 'समाज का विज्ञान' नहीं है अपितु ओडम, वार्ड, जिसबर्ट तथा गिडिंस आदि विद्वानों ने इसकी परिभाषा देते समय भी समाज को इस विषय का मुख्य अध्ययन बिंदु बताया है। समाज का अर्थ सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था, जाल अथवा ताने -बाने से है इससे किसी समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक अंर्तसंबंधों की जटिलता का बोध होता है। अन्य शब्दों में जब सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था पनपती है तभी हम उसे समाज कहते हैं। विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान या किसी तथ्य अथवा घटना से संबंधित वस्तुनिष्ठ रूप से जानकारी प्राप्त करने का एक तरीका है। इसमें अवलोकन, परीक्षा, प्रयोग, वर्गीकरण तथा विश्लेषण द्वारा वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है। यह प्रघटना के पीछे छिपे तथ्य अथवा वास्वविकता को प्राप्त करने का एक मार्ग है। इस प्रकार, जब हम समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान कहते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसे विषय से है जो समाज तथा इसके विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

1.2.2 समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का अध्ययन है

कुछ विद्वानों यथा मैकाइवर एवं पेज, क्यूबर, रोज, सिमेल, ग्रीन आदि ने समाजशास्त्र को सामाजिक संबंधों के क्रमबद्ध अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। सामाजिक संबंधों से हमारा अभिप्राय दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों के संबंधों से है जिन्हें एक दूसरे का आभास है तथा जो एक दूसरे के लिए कुछ न कुछ कार्य कर रहे है। यह जरूरी नहीं है कि संबंध मधुर तथा सहयोगात्मक ही हों, ये संघर्षात्मक या तनावपूर्ण भी हो सकते हैं। समाजशास्त्री इन दोनों तरह से संबंधों का अध्ययन करते हैं। सामाजिक संबंध उसी परिस्थिति में पाए जाते हैं। जिसमें दो या अधिक व्यक्ति अथवा दो या अधिक समूह परस्पर अंर्तक्रिया में भाग लें। सामाजिक संबंध तीन प्रकार के हो

सकते हैं-प्रथम, व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच, द्वितीय व्यक्ति तथा समूह के बीच तथा तृतीय एक समूह और दूसरे समूह के बीच। पति, पत्नी, भाई, बहिन, पिता, पुत्र के संबंध पहली श्रेणी के उदाहरण हैं। छात्रों का अध्यापक के साथ संबंध दूसरी श्रेणी का उदाहरण है। एक टीम का दूसरी टीम अथवा एक राजनीति दल का दूसरे राजनीति दल से संबंध तीसरी श्रेणी का उदाहरण है। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों के विषय में है। संबंधों के इस जाल को हम 'समाज' कहते है। क्यूबर के अनुसार "समाजशास्त्र को मानव संबंधों के वैज्ञानिक ज्ञान के ढांचे के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। रोज के अनुसार, समाजशास्त्र मानव संबंधों का विज्ञान है। सिमेल के अनुसार, 'समाजशास्त्र मानवीय अंर्तसंबंधों के स्वरूपों का विज्ञान है'। इसी भांति ग्रीन के अनुसार, इस प्रकार समाजशास्त्र मनुष्य का उसके समस्त सामाजिक संबंधों के रूप में समन्वय करने वाला और सामान्य अनुमान निकालने वाला विज्ञान है।

सामाजिक संबंधों के अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र को परिभाषित करने वाली उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट पता चल जाता है कि समाजशास्त्र की मुख्य विषयवस्तु व्यक्तियों में पाये जाने वाले सामाजिक संबंध है।

1.2.3 समाजशास्त्र सामाजिक जीवन, घटनाओं, व्यवहार एवं कार्यों का अध्ययन है

कुछ विद्वानों यथा ऑर्गबर्न एवं निमकॉफ, बेनेट एवं ट्यूमिन, किंबल यंग, सोरोकिन आदि ने समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन, व्यक्तियों के व्यवहार एवं उनके कार्यों तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। ऑर्गबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार "समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन है।'' बेनेट एवं ट्यूमिन के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के ढांचे और कार्यों का विज्ञान है।'' यंग के अनुसार समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन करता है। इसी भांति सोरोकिन के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक, सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्रारूपों और विभिन्न प्रकार के अंतर्संबंधों का सामान्य विज्ञान है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें पता चलता है कि समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र समाज के अन्य विज्ञानों यथा राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि से भिन्न है। इसमें हम सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करते हैं। इसके साथ ही साथ सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक कार्यों का अध्ययन भी इस विषय को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक करता है। सामाजिक

व्यवहार का अर्थ ऐसा व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार या उनकी प्रत्याशित अनुक्रिया को ध्यान में रखकर किया जाता है।

1.2.4 समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का अध्ययन है

व्यक्ति समाज में अकेला नहीं रहता अपितु अन्य व्यक्तियों के साथ रहता है। वास्तव में, व्यक्ति का जीवन विभिन्न सामाजिक समूहों का सदस्य होने के कारण ही संगठित जीवन है। हेरी एम जॉनसन के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, उनके आंतरिक स्वरूपों या संगठन के स्वरूपों, उन प्रक्रियाओं जो उसे संगठन में बनाए रखती हैं या परिवर्तित करती हैं और समूहों के बीच पाए जाने वाले संबंधों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।'' जॉनसन की परिभाषा से हमें पता चलता है कि समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, इनमें पाए जाने वाले संगठनों तथा इनसे संबंधित प्रक्रियाओं का अध्ययन है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी लक्ष्य या उद्देश्य को पाने के लिए एक दूसरे को प्रभावित करते हैं या अंतर्क्रिया करते हैं और इसके परिणामस्वरूप उनके मध्य सामाजिक संबंध स्थापित होते हैं। तभी उन व्यक्तियों के संग्रह को समूह कहा जा सकता है। इस प्रकार समूह के तीन तत्व हो सकते है- प्रथम, दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह, द्वितीय, उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंधों का होना तथा तृतीय, उनकी क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना।

सभी समूह सामाजिक संबंधों के संकाय होते हैं। इस अर्थ में किसी भी समूह में उनके सदस्यों के बीच कुछ लक्ष्यों की प्राप्तियों के लिए आंशिक सहकार निहित करता है। समूह के सहकारिता पक्ष का यह अर्थ नहीं है कि इसके सदस्यों के बीच वैमनस्य हो ही नहीं सकता। एक समूह में प्रतिद्वंदिता और स्थायी घृणा का बाजार गर्म हो सकता है। जैसे कि कुछ परिवार होते हैं, लेकिन वह फिर भी समूह बना रहता है। उसके सदस्य भी यदा कदा अपनी अंतर्क्रियाओं में कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सहकार करते रहते हैं। समाजशास्त्र व्यक्ति - व्यक्ति के परस्पर संबंधों की अपेक्षा समूह-समूह के परस्पर संबंधों तथा एक जाति से दूसरी जातियों से संबंध तथा एक वर्ग से दूसरे वर्गों से संबंध को अधिक महत्व देता है।

बोध प्रश्न

i) समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है – सत्य /असत्य

ii) किसके अनुसार, 'समाजशास्त्र मानवीय अंतर्संबंधों के स्वरूपों का विज्ञान है'

i) सिमेल ii) वार्ड

iii) ग्रीन iv) काँम्टे

1.3 समाजशास्त्र की प्रकृति

क्या समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है या नहीं? यह प्रश्न समाजशास्त्र की स्थिति या प्रकृति से संबंधित प्रश्न है, अर्थात् इसका संबंध इस तथ्य का पता लगाना है कि क्या समाजशास्त्र विज्ञान है या नहीं? तो इसमें वैज्ञानिक पद्धति की कौन सी विशेषताएं पाई जाती हैं और यदि यह विज्ञान नहीं है तो इसमें कौन सी ऐसी आपत्तियां हैं जिनके आधार पर इसे विज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इस प्रश्न के बारे में विद्वानों में मतैक्य का अभाव पाया जाता है। प्रमुख रूप से हमारे सामने दो दृष्टिकोण रखे गए हैं- समाजशास्त्र एक विज्ञान है तथा समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है।

प्रथम दृष्टिकोण में इस बात पर बल दिया जाता है कि समाजशास्त्र अन्य विज्ञानों की तरह ही एक विज्ञान है तथा समाज, सामाजिक प्रघटनाओं एवं सामाजिक पहलुओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। दूसरे दृष्टिकोण के समर्थक इस बात पर बल देते हैं कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति एवं सामाजिक व्यवहार इतना जटिल है कि इनका वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं है। अतः समाजशास्त्र को एक विज्ञान नहीं कहा जा सकता । इन दोनों दृष्टिकोणों के समर्थकों ने अपने -अपने दृष्टिकोणों की पुष्टि करने के लिए अनेक तर्क दिए हैं जिनका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है-

1.3.1 समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में

समाजशास्त्र में विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं-

1. समाजशास्त्र में सामाजिक संबंधों सामाजिक अंतर्क्रियाओं, सामाजिक व्यवहार एवं समाज का अध्ययन कल्पना के आधार पर नहीं किया जाता अपितु इनको वास्तविक रूप से वैज्ञानिक पद्धति द्वारा समझने का प्रयास किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा ही उपकल्पनाओं का परीक्षण एवं सामाजिक नियमों या सिद्धांतों का निर्माण किया जाता है।

2. समाजशास्त्रीय ज्ञान प्रमाण पर आधारित है क्योंकि समाजशास्त्री किसी बात को बलपूर्वक मानने के लिए नहीं कहते अपितु तर्क एवं प्रमाणों के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं।

3. समाजशास्त्र तथ्यों का यथार्थ रूप से वर्णन ही नहीं करता अपितु इनकी व्याख्या भी करता है। इसमें प्राप्त तथ्यों का बढ़ा-चढ़ाकर या आदर्श एवं कल्पना से मिश्रित करने प्रस्तुत नहीं किया जाता अपितु वास्तविक घटनाओं (जिस रूप में वह विद्यमान है) का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

4. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा एकत्र आंकड़ों को व्यवस्थित करने के लिए उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया जाता है तथा तर्क के आधार पर निर्वचन करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। क्योंकि तथ्यों का वर्गीरकण, उनके क्रम का ज्ञान व सापेक्षित महत्व का पता लगाना है कि विज्ञान है और इन सब बातों को हम समाजशास्त्रीय विश्लेषणों में स्पष्ट देख सकते हैं, अतः समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

5. समाजशास्त्र अपनी विषयवस्तु में कार्य-कारण संबंधों की खोज करता है, अर्थात इसका उद्देश्य विभिन्न सामाजिक घटनाओं के बारे में आंकड़े एकत्र करना ही नहीं है अपितु उनके कार्य-कारण संबंधों एवं परिणामों का पता लगाना भी है। प्राकृतिक विज्ञानों में कार्य-कारण संबंधों का निरीक्षण प्रयोगशाला में किया जाता है परंतु समाजशास्त्र में यह अप्रत्यक्ष प्रयोगात्मक पद्धति अर्थात् तुलनात्मक पद्धति द्वारा ही संभव है।

6. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अध्ययन किए जाते हैं तथा सामाजिक वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है इसलिए इसमें सामान्यीकरण करने एवं सिद्धांतों का निर्माण

करने के प्रयास भी किए गए हैं, यद्यपि एक आधुनिक विषय होने के कारण इनमें अधिक सफलता नहीं मिल पाई है।

रोबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) का कहना है समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति वैज्ञानिक है। इसे उन्होंने निम्नांकित विशेषताओं द्वारा स्पष्ट किया है-

1. **समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, प्राकृतिक विज्ञान नहीं** - समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है क्योंकि इसकी विषयवस्तु मौलिक रूप से सामाजिक है अर्थात् इनमें समाज, सामाजिक घटनाओं सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक संबंधों तथा अन्य सामाजिक पहलुओं एवं तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। प्रत्यक्ष रूप से इसका प्राकृतिक या भौतिक वस्तुओं से कोई संबंध नहीं है अतः यह प्राकृतिक विज्ञान नहीं है। समाजशास्त्र स्वयं संपूर्ण सामाजिक विज्ञान नहीं है अपितु सामाजिक विज्ञानों में से एक विज्ञान है।

2. **समाजशास्त्र एक वास्तविक (निश्चयात्मक) विज्ञान है, आदर्शात्मक विज्ञान नहीं** - समाजशास्त्र वास्तविक घटनाओं का अध्ययन, जिस रूप में वे विद्यमान हैं, करता है तथा विश्लेषण में किसी आदर्श को प्रस्तुत नहीं करता या अध्ययन के समय किसी आदर्शात्मक दृष्टिकोण को नहीं अपनाया जाता। अतः यह एक वास्तविक विज्ञान है, आदर्शात्मक नहीं। अवलोकन प्रविधि द्वारा आंकड़ों के संकलन तथा कार्य-कारण संबंधों के अध्ययन पर बल देने के कारण भी यह एक वास्तविक विज्ञान है। समाजशास्त्र इस बात का अध्ययन नहीं करता है कि वास्तविक स्थिति क्या है।

3. **समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है, व्यावहारिक विज्ञान नहीं** - समाजशास्त्र विशुद्ध विज्ञान है क्योंकि इसका सम्मुख उद्देश्य मानव समाज से संबंधित सामाजिक घटनाओं का अध्ययन, विश्लेषण एवं निरूपण कर ज्ञान का संग्रह करना है। विशुद्ध विज्ञान क्योंकि सैद्धांतिक होता है इसीलिए इसके द्वारा संचित ज्ञान अनिवार्य रूप से व्यावहारिक रूप में नहीं लाया जा सकता।

रोबर्ट बीरस्टीड ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि समाजशास्त्र व्यर्थ या अव्यावहारिक विज्ञान है, परंतु समाजशास्त्र की इसमें कोई रूचि नहीं कि प्राप्त ज्ञान का प्रयोग व्यावहारिक क्षेत्रों पर कैसे लागू किया जाता है।

समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति के बारे में रोबर्ट बीरस्टीड द्वारा बताई गई विशेषताओं से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जो निरपेक्ष वास्तविक, विशुद्ध, अमूर्त और

सामान्य होने के साथ-साथ तार्किक तथा अनुभवाश्रित भी है। यह प्राकृतिक विज्ञान, विशेष विज्ञान, व्यावहारिक विज्ञान, आदर्शात्मक विज्ञान तथा मूर्त विज्ञान नहीं है।

1.4 सारांश

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। यह एक विषय है जिसमें मानव समाज के विभन्न स्वरूपों, उसकी विविध संरचनाओं, प्रक्रियाओं इत्यादि का वस्तुनिष्ट एवं क्रमबद्ध रूप में अध्ययन किया जाता है, ये अन्य विषयों की तरह एक स्वतंत्र विषय है , इस प्रकार जब हम समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान कहते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसे विषय से है जो समाज तथा इसके विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

समाजशास्त्र – समाजशास्त्र वह विषय है जो समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करता है

सामाजिक अंतर्क्रिया – दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच होने वाली अर्थपूर्ण क्रिया को सामाजिक अंतर्क्रिया कहते है

परिप्रेक्ष्य- परिप्रेक्ष्य का अर्थ एक विशिष्ट नजरिया है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने अध्ययन को समन्वित व सुव्यवस्थित करता है

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न

i) सत्य

ii) सिमेल

1.7 संदर्भ ग्रंथ

Arnold M.Rose, Sociology, Boston:Houghton Mifflin, 1962

Bierstedt, Robert, The Social Order, New York:McGraw Hill, 1957

Bottomore, T.B., Sociology:A Guide to Problems and Literature, London:Allen and Unwin, 1969

Johnson, Harry M..,Sociology:A Systematic Introduction, London:Routledge & Kegan Paul, 1961

1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Lumley, F.E., Principles of Sociology, New York: MacGraw-Hill Book Company, 1935.

Johnson, Harry M.,Sociology : A Systematic Introduction, London : Routledge & Kegan Paul,1961.

Gisbert,P.,Fundamentals of Sociology, New Delhi:Prentice-Hall of India,1965.

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.समाजशास्त्र किया है कुछ प्रमुख परिभाषाओं के संदर्भ में विवेचना कीजिए?

2. समाजशास्त्र की प्रकति की विवेचना कीजिए ?

इकाई 02- समाजशात्र का विषय क्षेत्र तथा विषय-वस्तु

Scope & Subject Matter of Sociology

इकाई की रूपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र

2.2.1 स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टवादी संप्रदाय

2.2.2 समन्वयात्मक संप्रदाय

2.3 समाजशास्त्र की विषय वस्तु

2.4 सारांश

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

2.7 संदर्भ ग्रंथ

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

समाज विज्ञानों में समाजशास्त्र एक नया विषय है। अन्य समाज विज्ञानों जैसे राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि तो पुराने हैं, लेकिन समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास की कहानी लगभग 170 वर्ष पुरानी है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को तथा

विभिन्न घटनाओं को अपने - अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र आर्थिक दृष्टिकोण से, राजनीतिशास्त्र राजनीतिक दृष्टिकोण से, मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से तथा समाजशास्त्र सामाजिक दृष्टिकोण से घटनाओं का अध्ययन करते हैं। विभिन्न दृष्टिकोण होने के बावजूद किसी भी सामाजिक विज्ञान का विषय क्षेत्र निर्धारित करना एक कठिन कार्य है । प्रस्तुत इकाई में समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र व विषय वस्तु पर विस्तृत चर्चा की गई है ।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य-

i) समाजशात्र की विषय वस्तु व विषय क्षेत्र की पूर्ण जानकारी प्रदान करना है ,वस्तुत: विषय वस्तु व विषय क्षेत्र को एक की समझ लिया जाता है लेकिन जबकि दोनों में प्रर्याप्त अंतर है इस इकाई के अध्ययन के बाद आप दोनों में अंतर स्पष्ट कर सकेंगे ।

2.2 समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र

प्रायः कुछ लोग विषय क्षेत्र (Scope) तथा विषय वस्तु (Subject-Matter) को एक ही समझ लेते हैं जबकि दोनों में पर्याप्त अंतर है। विषय क्षेत्र का तात्पर्य वे संभावित सीमाएं हैं जहां तक किसी विषय का अध्ययन संभव होता है, जबकि विषय वस्तु से निश्चित सीमाएं हैं जिनके अंतर्गत अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को तथा विभिन्न घटनाओं को अपने - अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र आर्थिक दृष्टिकोण से, राजनीतिशास्त्र राजनीतिक दृष्टिकोण से, मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से तथा समाजशास्त्र सामाजिक दृष्टिकोण से घटनाओं का अध्ययन करते हैं । विभिन्न दृष्टिकोण होने के बावजूद किसी भी सामाजिक विज्ञान का विषय क्षेत्र निर्धारित करना एक कठिन कार्य है। एक आधुनिक विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र में यह कठिनाई अन्य विज्ञानों की अपेक्षा कहीं अधिक है। कालबर्टन (Calberton) के अनुसार समाजशास्त्र क्योंकि लचीला विज्ञान है अतः यह निश्चित करना पूर्ण रूप से कठिन कार्य है कि इसकी सीमा कहां से प्रारंभ होती है, कहां समाजशास्त्र मनोविज्ञान तथा कहां मनोविज्ञान समाजशास्त्र बन जाता है अथवा जैविक सिद्धान्त समाजशास्त्रीय

सिद्धान्त बन जाता है। समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र के बारे में प्रमुख विद्वान एकमत नहीं हैं। इसके बारे में हमारे सामने निम्नांकित दो प्रमुख परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण (या संप्रदाय) प्रस्तुत किए गए हैं-

2.2.1 स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टवादी संप्रदाय

इस संप्रदाय के प्रमुख प्रणेता तथा समर्थक जॉर्ज सिमेल, स्माल, वीरकांत, मैक्स वेबर, वॉन वीज आदि विद्वान हैं। इन विद्वानों के दृष्टिकोण में समाजशास्त्र स्वतंत्र, विशिष्ट तथा शुद्ध विज्ञान है। इसका प्रमुख लक्ष्य मानवीय संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन करना है । इस संप्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में पृथक् अस्तित्व रखता है। अन्य सामाजिक विज्ञान वही अध्ययन नहीं करते हैं जो समाजशास्त्र करता है।

स्माल - स्माल यह मानते है कि समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का विशिष्ट अध्ययन है। इनका मत जॉर्ज सिमेल के मत से मिलता-जुलता है। उनका कहना है कि समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक संबंधों और व्यवहारों या क्रियाओं के मूल रूप का विशिष्ट अध्ययन करना मात्र है, न कि समाज मे होने वाली प्रत्येक घटना अथवा क्रिया का।

वीरकांत - वीरकांत भी समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार समाजशास्त्र को मानसिक संबंधों के उन स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए जो एक-दूसरे को बांधते है। वीरकांत के अनुसार ये मानसिक संबंध प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, ममता, सम्मान आदि से व्यक्त होते हैं।

वॉनविज का विचार है कि समाजशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र के अंतर्गत सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन किया जाना चाहिए। इसके लिए उन्होंने सामाजिक संबंधों के 650 प्रकारों की चर्चा भी की है।

मैक्सवेबर का विचार है कि समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करना चाहिए। सामाजिक व्यवहार एक प्रकार की ऐसी क्रिया है जो कर्त्ता के अभिप्राय से दूसरों के व्यवहारों से संबंधित है और उसी से निश्चित होती है।

टॉनिज ने शुद्ध समाजशास्त्र के अध्ययन करने की दलील दी है। इन्होंने समाज एवं समुदाय में संबंधों के स्वरूपों के आधार पर अंतर किया है।

2.2.2 समन्वयात्मक संप्रदाय

इस समुदाय के प्रमुख समर्थक दुर्खीम, लेस्टर वार्ड, सारोकिन, हॉबहाउस आदि हैं। इस संप्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र विशिष्ट विज्ञान न होकर एक सामान्य विज्ञान है। समाज का प्रत्येक भाग परस्पर संबंधित है। यदि उसके किसी एक भाग में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है, अतएव सारे समाज का अध्ययन करना आवश्यक है।

1. दुर्खीम - इस्माइल दुर्खीम ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए कहा है कि "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्वों (प्रतिनिधानों) का विज्ञान है '' । प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार, धारणाएं और भावनाएं होती हैं, जोकि सामाजिक अंतर्क्रिया के समय व्यक्तिगत चेतना के पारस्परिक प्रभावों के कारण स्पष्ट हो जाती हैं और जीवन में सामने आने लगती हैं। इसी कारण समाज के अधिकांश सदस्य उसे अपना लेते है और उनका विकास सामाजिक प्रतीकों के रूप में हो जाता है चूंकि इन प्रतीकों को समाज के अधिकांश सदस्य मानते हैं, इसीलिए यह सामूहिक रूप से समस्त समूह के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते है। समाजशास्त्र को सामूहिक प्रतिनिधित्वों को अपने विषय क्षेत्र में सम्मिलित करना चाहिए।

2. वार्ड -लेस्टर वार्ड का विचार है कि जिस प्रकार रसायनशास्त्र में दो वस्तुओं को मिला देने से एक नई वस्तु का जन्म होता है और उसका अध्ययन रसायनशास्त्र करता है, उसी प्रकार समाजशास्त्र ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का समन्वय मात्र है। समाज का निर्माण करने वाले समूह एवं संस्थाएं आदि परस्पर एक-दूसरे से संबंधित हैं, जिसके कारण एक पर हुआ परिवर्तन दूसरों पर प्रभाव डालता है। इसी प्रकार समाजशास्त्र का आधार, अन्य सामाजिक विज्ञानों के परिणाम है। अतएव समाजशास्त्र को विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त केंद्रीय विचारों का समन्वय एवं अध्ययन करना चाहिए।

3. हॉबहाउस - हॉबहाउस का दृष्टिकोण भी समन्वयात्मक है। इनके अनुसार विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन इस प्रकार से किया जाना अनिवार्य है, जिसमें कि उनके सिद्धांतों में समन्वय संभव हो पाए । समाजशास्त्र सामान्य जीवन का अध्ययन उसी समय पर कर सकता है जब समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों के आधार भूत विचारों का अध्ययन करे अथवा सामान्य केंद्रीय धारणाओं के खोजने का प्रयत्न करे इसलिए समाजशास्त्र अपने को विशेष प्रकार के संबंधों तक सीमित नहीं रख सकता।

उपर्युक्त दोनों विचारधाराएं परस्पर विरोधी हैं तथा दोनों का समान महत्व है। एक संप्रदाय के दृष्टिकोण से समाजशास्त्र विशेष संबंधों का अध्ययन करने वाला तथा दूसरे दृष्टिकोण से सामान्य संबंधों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। वास्तव में समाजशास्त्र के क्षेत्र से संबंधित दोनों दृष्टिकोणों में समन्वय करने की आवश्यकता है। एक ओर हमें समाज के मूल एवं सामान्य तत्वों का ज्ञान होना अनिवार्य है, जबकि दूसरी ओर सामाजिक जीवन के विशिष्ट पहलुओं की अवहेलना भी नहीं की जा सकती। अतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विषय-क्षेत्र के बारे में झगड़ा व्यर्थ है क्योंकि अपनी अध्ययन पद्धति के अनुरूप समाजशास्त्र विशिष्ट एवं सामान्य दोनों ही है।

बोध प्रश्न

i) स्वरूपात्मक संप्रदाय के बारे मैं चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) किस विद्वान के अनुसार "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्वों (प्रतिनिधानों) का विज्ञान है "

.....

.....

.....

2.3 समाजशास्त्र की विषय वस्तु

किसी भी विषय की विषय वस्तु से तात्पर्य उन पहलुओं अथवा बातों से है जिनका अध्ययन उसमें किया जाता है। विषय वस्तु का निर्धारण करना इसीलिए अनिवार्य है कि किसी भी विषय में सभी पहलुओं या बातों का अध्ययन नहीं किया जा सकता। ऐसा किसी भी विषय विशेष को अन्य विषयों से अलग करने के लिए भी अनिवार्य है। अन्य विषयों की भांति समाजशास्त्र की भी निश्चित विषय

वस्तु है, परंतु एक नवीन विषय होने के कारण समाजशास्त्र की विषय वस्तु के संदर्भ में विद्वानों में मतभेद पाए जाते हैं।

दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र को निम्न तीन भागों से विभक्त कर अध्ययन किया जाना चाहिए-

1. **सामाजिक स्परूपशास्त्र** -इसके अंतर्गत सामाजिक संगठन बनाए रखने में सहायता करने वाली शक्तियों का अध्ययन किया जाता है। इसमें मुख्यतः भौगौलिक परिस्थितियां, जैसे जनसंख्या का घनत्व आदि, जिनका प्रभाव समाज के संगठन पर पडता है, का अध्ययन किया जाता है।

2. **सामाजिक शरीर रचना** -यह खंड अनेक उपखंडों में वर्गीकृत है तथा इनके अंतर्गत वे विषय आते हैं जिनका अध्ययन अन्य विशेष विज्ञान करते हैं, जैसे धर्म का समाजशास्त्र , कानून का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र आदि। समाजशास्त्र इनका समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करता है।

3. **सामान्य समाजशास्त्र** - इसमें उन विधियों का अध्ययन किया जाता है जो सामान्य हितों व सामाजिक नियमों को सुरक्षित रखने के लिए महत्वपूर्ण हैं। दुर्खीम के दृष्टिकोण में यह भाग समाज का दार्शनिक अंग है।

एलेक्स इंकलिस ने अपनी पुस्तक सोशियोलॉजी में समाजशास्त्र की विषय वस्तु का निर्धारण निम्नलिखित तीन विधियों द्वारा करने का प्रयास किया है-

1. **ऐतिहासिक विधि** - इस विधि द्वारा इंकलिस ने यह जानने का प्रयास किया है कि समाजशास्त्र के जन्मदाताओं ने इसकी विषय वस्तु के बारे में क्या कहा है। इसमें इन्होंने चार ऐसे प्रारंभिक समाजशास्त्रियों के विचारों का उल्लेख किया है जिन्होंने समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने में सहायता की है। ये विद्वान निम्नलिखित हैं-

(i). **ऑगस्ट कॉम्टे** -कॉम्टे समाजशास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने ही 1838 ई0 में प्रथमतः समाजशास्त्र का प्रयोग किया था। उन्होंने अपना अधिक ध्यान समाजशास्त्र के अस्तित्व को स्वीकार करवाने में ही लगाया। वास्तव में कॉम्टे क्योंकि समाजशास्त्र को एक ऐसा विज्ञान मानते थे जिसमें सभी दृष्टिकोणों को एक साथ रखकर अध्ययन किया जा सकता है, अतः उन्होंने इसकी कोई विषयवस्तु निर्धारित नहीं की है। उन्होंने समाजशास्त्र की दो शाखाओं सामाजिक स्थैतिकी एवं

सामाजिक गत्यात्मकता का उल्लेख किया है। प्रथम शाखा में उन्होंने अर्थव्यवस्था, परिवार, राजनीति आदि प्रमुख संस्थाओं के विश्लेषण पर बल दिया है, जबकि दूसरी शाखा में समाज को इकाई मानकर इसके विकास एवं परिवर्तन के अध्ययन पर बल दिया है। उन्होंने समाज का सम्रग रूप में अध्ययन करने को ही नही, अपितु समाजों के तुलनात्मक अध्ययनों को भी समाजशास्त्र की विषय वस्तु स्वीकार किया है।

(ii) **हरबर्ट स्पेंसर** - स्पेंसर की पुस्तक प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी जोकि 1877 ई0 में तीन खंडों में प्रकाशित हुई, प्रथम समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने वाली कृति मानी जाती है। उन्होंने कॉम्टे के विपरीत समाजशास्त्र में अध्ययन की जाने वाली बातों को अधिक स्पष्ट रूप से विवेचना की है। उन्होंने परिवार, धर्म, सामाजिक नियंत्रण तथा उद्योग अथवा कार्य को ही समाजशास्त्र की विषय वस्तु नहीं बताया अपितु समितियों, समुदायों, श्रम-विभाजन सामाजिक विभिन्नीकरण तथा सामाजिक स्तरीकरण ज्ञान के समाजषास्त्र विज्ञान के समाजशास्त्र और कला के समाजशास्त्रीय विश्लेषण को समाजशास्त्र की विषय वस्तु में सम्मिलित किया है। उन्होंने भी संपूर्ण समाज को एक इकाई मानकर व्यापक पैमाने पर अध्ययन करने पर बल दिया है।

(iii). **इस्माइल दुर्खीम** - दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के अध्ययन पर बल दिया तथा स्वयं श्रम विभाजन, आत्महत्या और धर्म जैसे सामाजिक तथ्यों का अध्ययन किया। उन्होंने व्यक्तित्व धर्म, कानून, प्रतिमान, अपराध जनसंख्या, विज्ञान, कला आदि को तथा आर्थिक पहलुओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन को समाजशास्त्र की विषयवस्तु में विशेष स्थान दिया है।

(iv). **मैक्स वेबर** - वेबर ने सामाजिक क्रिया, धर्म, आर्थिक जीवन के अनुपम पहलुओं जिसमें मुद्रा तथा श्रम विभाजन भी सम्मिलित है राजनीति दल, शक्ति एवं सत्ता अधिकारीतंत्र तथा अन्य बडे संगठनों, जाति एवं वर्ग नगर अथवा संगीत पर स्वयं अध्ययन किए और इनकी महत्ता पर प्रकाश डाला।

(v). **अनुभाविक विधि** - इस विधि द्वारा इंकलिस ने यह जानने का प्रयास किया है कि आज समाजशास्त्र में किन बातों को अधिक महत्व दिया जा रहा है अर्थात् समकालीन समाजशास्त्री क्या कर रहे हैं? यह पता तीन स्त्रोतों द्वारा लगाया जा सकता है - अ- पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण ब- विभिन्न विद्वानों द्वारा समाजशास्त्र की भिन्न शाखाओं का समर्थन तथा स- अनुसंधान पत्रिकाओं व अन्य रिपोर्टों में प्रकाशित लेख। होर्नल हार्ट ने 1952 ई0 से 1958 तक की अवधि में अमेरिका में

प्रकाशित 24 पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण करके 12 ऐसे पहलुओं या बातों का पता लगाया जिन्हें कम से कम 20 पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित किया गया था।

ये पहलू निम्नलिखित हैं-

1. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति
2. समाजशास्त्र में व्यक्तित्व
3. संस्कृति
4. मानव समूह
5. जनसंख्या
6. जाति तथा वर्ग
7. प्रजाति
8. सामाजिक परिवर्तन
9. आर्थिक संस्थाएं
10. परिवार
11. शिक्षा
12. धर्म

3. **विशलेषण विधि -** इंकलिस का कहना है कि समाजशास्त्र के जन्मदाताओं के विचार तथा समकालीन समाजशास्त्रियों के अध्ययन की रूचि के विषय समाजशास्त्र की विषय वस्तु को निर्धारित करने में पर्याप्त नहीं हैं। अतः समाजशास्त्र की विषयवस्तु को तार्किक विश्लेषण द्वारा निर्धारित करना अनिवार्य है। अन्य शब्दों में इस विधि द्वारा इंकलिस ने समाजशास्त्र की वृहद विषय वस्तु को तार्किक दृष्टि से परिसीमित करने का प्रयास किया है। इंकलिस के अनुसार समाजशास्त्र की

विशिष्ट विषयवस्तु में तीन पहलुओं में घटते क्रम में सम्मिलित किया जा सकता है। ये पहलू निम्नलिखित हैं-

अ- **समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है** - समाजशास्त्र एक ऐसा विशिष्ट विज्ञान है, जिसमें समाज को समग्र के रूप में विश्लेषण की एक इकाई माना जाता है। इस पहलू में विशेष समाजों के आंतरिक विभेदीकरण तथा उनकी बाहरी विशेषताओं से संबंधित समाज के विकास तथा समस्याओं के अध्ययनों को सम्मिलित किया जा सकता है। मैक्स वेबर तथा किंग्सल डेविस के अध्ययन इस श्रेणी के अध्ययनों के उदारहण हैं।

ब- **समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है**- समाजशास्त्र की विषय वस्तु का दूसरा विशिष्ट पहलू सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है। समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न अंगों तथा सामाजिक संस्थाओं जैसे परिवार, चर्च, स्कूल, तथा राजनीतिक दल आदि के अध्ययन पर बल दिया जाता है। संस्थाओं की सामान्य विशेषताओं, इनके परस्पर एवं संबंधों एवं कार्यों के अध्ययन भी इस पहलू में सम्मिलित किए जा सकते है। इंकलिस के अनुसार इस पहलू में अधिक अध्ययन नहीं हुए हैं तथा आज बड़ी संस्थाओं की अपेक्षा छोटी संस्थाओं के अध्ययन में रूचि बढ़ती जा रही है।

स- **समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का अध्ययन है**- इंकलिस ने इस पहलू में सामाजिक संबंधों के अध्ययन पर बल दिया है। सामाजिक संबंध तीन प्रकार के हो सकते हैं- व्यक्ति- व्यक्ति के बीच व्यक्ति समूह के बीच तथा एक समूह और दूसरे समूह के बीच मेक्स वेबर, वॉन वीज, जॉर्ज सिमेल तथा टॉलकट पारसंस ने इस पहलू में महत्वपूर्ण अध्ययन किए हैं।

2.4 सारांश

उपर्युक्त इकाई के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट होता है,अधिकांश लोग समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र (Scope) तथा विषय वस्तु (Subject-Matter) को एक ही समझ लेते हैं, जबकि दोनों में पर्याप्त अंतर है। विषय क्षेत्र का तात्पर्य वे संभावित सीमाएं हैं जहां तक किसी विषय का अध्ययन संभव होता है, जबकि विषय वस्तु से निश्चित सीमाएं हैं जिनके अंतर्गत अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को तथा विभिन्न घटनाओं को अपने -

अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है इसके अध्ययन का एक पृथक दृष्टिकोण है तथा इसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक संबंधो एवं सामाजिक संरचना की व्यवस्थित व्याख्या करना है

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

सामाजिक विज्ञान – वे विज्ञान जो समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हैं, सामाजिक विज्ञान कहे जाते हैं

समाजशास्त्र – समाजशास्त्र वह विषय है जो समाज का क्रमब्रद्ध अध्ययन करता है

सामाजिक अंतर्क्रिया– दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच होने वाली अर्थपूर्ण क्रिया को सामाजिक अंतर्क्रिया कहते हैं

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न

i) उत्तर के लिए देखिए 2.2.1

ii) दुर्खीम

2.7 संदर्भ ग्रंथ

Lumley, F.E., Principles of Sociology, New York: MacGraw-Hill Book Company, 1935.

Johnson, Harry M.,Sociology : A Systematic Introduction, London : Routledge & Kegan Paul,1961.

Gisbert,P.,Fundamentals of Sociology, New Delhi:Prentice-Hall of India,1965.

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Cuber,J.F., Sociology,Mishawaka:Addison-Welsey, 1983.

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problems & Literature, London:Allen & Unwin,1969.

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. समाजशास्त्र की विषय वस्तु व विषय क्षेत्र पर चर्चा कीजिए**?**

2. "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्वों (प्रतिनिधानों) का विज्ञान है '' चर्चा कीजिए

इकाई 03- एक वैज्ञानिक विषय के रूप में समाजशास्त्र का उद्भव

Emergence of Sociology as a Scientific Discipline

इकाई की रूपरेखा

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 समाजशास्त्र की परिभाषा

3.3 समाजशास्त्र की प्रकृति

3.4 विज्ञान का अर्थ

3.5 विज्ञान के प्रमुख तत्व या विशेषताएं

3.6 समाजशास्त्र का वैज्ञानिक स्वरूप

3.7 समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध आपत्तियां

3.8 समाजशास्त्र की प्रकृति की विशेषताएं

3.9 सारांश

3.10 पारिभाषिक शब्दावली

3.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.14 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

समाजशास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों से मिलकर बनी है, जिसमें से पहला शब्द सोशियस (Socious) लैटिन भाषा से ओर दूसरा शब्द 'लोगस' (Logus) ग्रीक भाषा से लिया गया है। इस प्रकार समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ समाज का शास्त्र या समाज का विज्ञान है। डॉन मार्टिनल ने बताया है कि यदि मानव प्रकृति से दार्शनिक है तो स्वभावतः वह समाजशास्त्री भी है क्योंकि सामाजिक जीवन उसका स्वाभाविक उद्देश्य है। समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान के रूप में स्थापित करने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान आगस्त कांम्टे को है, आपने ही 1838 में इस नवीन शास्त्र को समाजशास्त्र (Sociology) नाम दिया। अतएव आपको समाजशास्त्र के जनक के रूप में भी जाना जाता है। कालांतर में दुर्खीम, स्पेंसर, मैक्स वेबर एवं अन्य विद्वानों ने समाजशास्त्र को एक अकादमिक विज्ञान के रूप में विकसित करने हेतु अपने महत्वपूर्ण योगदान दिए। समाजशास्त्र की उत्पत्ति के मूल स्रोतों पर प्रकाश डालते हुए, गिंसबर्ग ने लिखा है कि यह स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति राजनीति दर्शन , इतिहास, विकास के जैविकीय सिद्धांत एवं उन सभी सामाजिक और राजनीतिक सुधार आंदोलनों पर आधारित है जिन्होंने सामाजिक दशाओं का सर्वेक्षण करना आवश्यक समझा। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन व मानवीय संबंधों की जटिलता के अध्ययन का विश्लेषण दोनों को यथार्थता की कसौटी पर कसने के लिए समाजशास्त्र का अविर्भाव एक समाजविज्ञान के रूप में 19वीं शताब्दी में हुआ।

3.1 इकाई का उददेश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- समाजशास्त्र के उद्भव
- विज्ञान का अर्थ
- वैज्ञानिक पद्धति की विशेषताएं
- विज्ञान के आवश्यक तत्व
- समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति
- समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति के बारे में जान सकेंगे।

3.2 समाजशास्त्र की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र को एक समाज-वैज्ञानिक विषय व सामाजिक विषय के रूप में अपने - अपने तरीकों से परिभाषित करने के प्रयास किए । विषयांतर्गत सार को समझने हेतु कुछ परिभाषाएं निम्नवत हैं:-

वार्ड के अनुसार – 'समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।'

गिडिंग्स के अनुसार – 'समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।'

मैक्स बेवर के अनुसार –'समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो कि सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है जिससे उसकी प्रक्रिया व प्रभावों की बुद्धिसंगत व्याख्या की जा सके।

गिंसबर्ग के अनुसार - 'समाजशास्त्र मानवीय अंतर्क्रियाओं और अंर्तसंबंधों उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।'

3.3 समाजशास्त्र की प्रकृति

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। समाजशास्त्र के जनक ऑगस्त कॉम्टे ने सदैव ही समाजशास्त्र को एक विज्ञान माना और इसे 'विज्ञानों की रानी' (Queen of Sciences) की संज्ञा दी । विद्वानों में स्पष्ट मतभेद है कि समाजशास्त्र की प्रकृति सामाजिक है, न कि वैज्ञानिक । प्राकृतिक विज्ञानों की भांति समाजशास्त्र यथार्थ विज्ञान नहीं है। परंतु प्रो. बीरस्टीट (Bierstedt) ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि "सामाजिक घटनाओं में कुछ भी कृत्रिमता, विलक्षणता या अलौकिकता नहीं है। सामाजिक घटनाएं उतनी ही प्राकृतिक हैं जितनी कि चुंबक की आकर्षण शक्ति, पृथ्वी की मध्याकर्षण शक्ति और विद्युत शक्ति की घटनाएं और एक आधुनिक नगर उतना ही प्राकृतिक है जितना कि एक बल्मीक ।''

अतः यह आवश्यक हो जाता है कि सर्वप्रथम 'विज्ञान क्या है' इस प्रश्न को जाना जाए , साथ ही विज्ञान के प्रमुख तत्व क्या हैं और यदि उन तत्वों का समावेश समाजशास्त्रीय पद्धति में होता है तो फिर इसे विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है।

3.4 विज्ञान का अर्थ

विज्ञान अर्थात् यथार्थ को कैसे परिभाषित किया जाए। वास्तव में, विज्ञान अपने आप में कोई विषय सामग्री नहीं होकर वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किया गया व्यवस्थित ज्ञान है। राबर्ट बीरस्टीट ने सन 1960 में अमेरिकन सोशियोलाजिकल एसोसिएशन के सभापति पद से भाषण देते हुए कहा था कि समाजशास्त्र का स्थान न केवल विज्ञानों में है, बल्कि उन कलाओं में भी है जो कि मनुष्य के मस्तिष्क को अज्ञानता से मुक्त करती हैं। सी राइट मिल्स ने तो समाजशास्त्र को एक शिल्प कहा और इस बात पर चिंता व्यक्त की कि समाजशास्त्री सुधार की प्रवृति से परे हटते चले गए हैं।

चर्चमैन व एकोफ के अनुसार, 'विज्ञान ज्ञान प्राप्त करने का व्यवस्थित तरीका है'। व्हाइट के शब्दों में 'साइंस इज साइंसिंग' अर्थात् विज्ञान का अर्थ वैज्ञानिकता है। लैंडिस की मान्यता है कि विज्ञान विज्ञान ही है, चाहे वह भौतिकशास्त्र में या समाजशास्त्र में।

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि विज्ञान कोई विषय वस्तु नहीं बल्कि अध्ययन की पद्धति है जिसमें घटनाओं को उनकी क्रमबद्धता के आधार पर जानने का प्रयास किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति का निर्माण तथ्यों के संकलन के लिए अत्यंत जरूरी होता है । इस पद्धति के अर्थ को समझाते हुए लुंडवर्ग लिखते हैं- ''व्यापक अर्थ में वैज्ञानिक पद्धति तथ्यों के व्यवस्थित अवलोकन, वर्गीकरण तथा व्याख्या से निर्मित है। इस पद्धति को अपनाने हेतु अध्ययन कर्त्ता को निम्नलिखित चरणों से गुजरना पड़ता है -

(i) समस्या का चुनाव

(ii) उपकल्पना का निर्माण

(iii) अवलोकन करना और उसे लिखना,

(iv) वर्गीकरण एवं निरूपण,

(v) विश्लेषणों एवं व्याख्या,

(vi) सामान्यीकरण

(vii) जांच या परीक्षण

(viii) निष्कर्ष के आधार पर भविष्यवाणी।

जोबर्ग एवं नेट ने विज्ञान के मूलभूत आधारों की चर्चा करते हुए कहा है कि वैज्ञानिक अध्ययन में हमें निम्नलिखित बातें स्वीकार करनी पड़ेंगी:

(अ) घटनाओं की निरंतरता एक निश्चित क्रम पर निर्भर करती है।

(ब) ज्ञान का उद्देश्य अज्ञानता का निराकरण है। अतः वह बलप्रदायक व श्रेष्ठ है।

(स) वैज्ञानिक एवं वाह्य सत्ता के मध्य अवलोकन के माध्यम सांचारिक संबंध बनते हैं। अतः

अवलोकन विज्ञान की महत्वपूर्ण पद्धति है।

(द) भौतिक व सामाजिक व्यवस्था में कार्य व कारण का संबंध होता है।

3.5 विज्ञान के प्रमुख तत्व या विशेषताएं -

3.5.1 अवलोकन - विज्ञान अवलोकन से प्रारंभ होता है। यंग ने अवलोकन को 'नेत्रों द्वारा एक उद्देश्यपूर्ण अध्ययन' नाम दिया है। गुडे एवं हाट ने लिखा है कि विज्ञान अवलोकन से प्रारंभ होता है और उसकी वैधता को जांचने के लिए अंततः अवलोकन पर ही लौट आना पड़ता है।

3.5.2 सत्यापन तथा वर्गीकरण - अवलोकन द्वारा प्राप्त तथ्यों का प्रमाणीकरण अर्थात सत्यापन विज्ञान की महत्वपूर्ण विशेषता है । प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना वर्गीकरण कहलाता है ताकि वैज्ञानिक निष्कर्ष की पुष्टि हो सके।

3.5.3. सामान्यीकरण - अनुसंधानकर्ता द्वारा कुछ तथ्यों के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष को संपूर्ण वर्ग या पूरे समग्र पर लागू किया जाता है।

3.5.4. भविष्यवाणी - विज्ञान का एक प्रमुख तत्व उसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता का होना है। यदि किसी भी विषय में प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर भविष्य की घटनाओं के संबंध में पहले से अनुमान लगा लिया जाए तो इस विषय को विज्ञान कहा जाएगा।

3.5.5. वैज्ञानिक प्रवृत्ति - गिलिन व गिलिन ने वैज्ञानिक प्रवृत्ति को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हुए इसकी पांच विशेषताओं का उल्लेख किया हैः (i) घटनाओं का निष्पक्ष अध्ययन, (ii) धैर्यपूर्वक अध्ययन (iii) कठिन परिश्रम, (iv) जिज्ञासा की प्रवृत्ति, एवं (v) रचनात्मक विचार शक्ति । इसी प्रकार जॉनसन ने विज्ञान की चर्चा करते हुए, किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन में चार बातों की सुनिश्चितता पर बल दिया । उनके अनुसार विज्ञान आनुभाविक, सैद्धांतिक, संचयी व नैतिकता मुक्त होता है।

बोध प्रश्न

i) विज्ञान से आप क्या समझते हैं, चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए

.....

.....

.....

.....

ii) समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है, किसने कहा?

.....

.....

3.6 समाजशास्त्र का वैज्ञानिक स्वरूप -

गुप्ता व शर्मा के अनुसार समाजशास्त्र को विज्ञान मानने के प्रमुख आधार या कसौटियां निम्नलिखित हैं:

3.6.1. समाजशास्त्रीय ज्ञान का आधार वैज्ञानिक पद्धति है - समाजशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने हेतु समाजमिति (Sociomotery) अवलोकन, सर्वेक्षण पद्धति, सांख्कीय पद्धति, अनुसूची व प्रश्नावली, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति आदि का प्रयोग किया जाता है। यह आशा की जाती है कि इन पद्धतियों के द्वारा अधिक निश्चित निरीक्षण तथ्यों का संग्रह तथा यथार्थ काम संभव है ।

3.6.2. समाजशास्त्र निरीक्षण द्वारा तथ्यों का संग्रह करता है तथा उनका वर्गीकरण व विश्लेषण करता है- असंबद्ध या बिखरे हुए आंकड़ों या तथ्यों के आधार पर हर कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है। सही निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाए।

3.6.3. समाजशास्त्र में 'क्या है' का उल्लेख किया जाता है - घटनाओं का यथार्थ चित्रण किया जाता है। उदाहरण के रूप में, यह संयुक्त परिवार प्रथा या जाति व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी रूप में उल्लेख करता है जिस रूप में वे हैं, न कि यह बताने का प्रयत्न कि वे अच्छी हैं, या बुरी।

3.6.4. समाजशास्त्र में कार्य-कारण संबंधों की विवेचना होती है - कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धांत एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धांत, कार्य-कारण के सहसंबंध को स्पष्ट करते हैं। समाजशास्त्र में घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कार्य - कारण संबंधों को जानने का प्रयत्न किया जाता है। यह शास्त्र किसी घटना या समस्या के पीछे छिपे कारणों को खोजा करता है।

3.6.5. समाजशास्त्र के सिद्धांत सार्वभौमिक हैं – यह सर्वविदित है कि पारिवारिक विघटन सामाजिक विघटन पर आधारित हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि परिस्थितियां समान रहें तो समाजशास्त्रीय सिद्धांत विभिन्न समाजों और कालों में खरे उतरते हैं।

3.6.6. समाजशास्त्रीय सिंद्धांतों की पुनर्परीक्षा संभव है - समाजशास्त्र भी भौतिक शास्त्र या रसायनशास्त्र के समान अपने सिद्धांतों या नियमों की परीक्षा एवं पुनर्परीक्षा करने में सक्षम है। उदाहरणार्थ तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस निष्कर्ष की कि टूटे परिवार बाल अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं कीअलग - अलग स्थानों पर परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती है।

3.6.7. समाजशास्त्र में भविष्यवाणी करने की क्षमता है - समाजशास्त्र यह बता सकता है कि बदलते सामाजिक परिवेश में जाति - व्यवस्था किस रूप में रहेगी तथा परिवारों के कौन से प्रकार विशेष रूप से पाए जाएगे।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र में भी विज्ञान के समस्त आवश्यक तत्व व्याप्त होते हैं और समाजशास्त्र भी वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा सामाजिक घटनाओं के संबंध में ज्ञान का क्रमबद्ध संग्रह करने योग्य है।

3.7 समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध आपत्तियां -

समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रतिपादन को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि सामाजिक तथ्य निरंतर गतिशील हैं, उन्हें वैज्ञानिकता के आधार पर जांचा नहीं जा सकता है। प्रमुख आपत्तियां इस प्रकार हैं:

3.7.1. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक तटस्थता का अभाव है - विद्वानों का मत है समाजशास्त्री जिस सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता है। कहीं न कहीं उसमें स्वयं के परिवेश का प्रभाव परिलक्षित हो जाता है जो कि यथार्थता को बाधित कर देता है। अतः यह विज्ञान नहीं है। इसके अतिरिक्त सामाजिक घटनाएं या सामाजिक संबंधों में परिवर्तन भी अतिशीघ्रता व निरंतर गति से होता है। सामाजिक घटनाओं की निरंतर गतिशील प्रकृति के कारण आज जिस सामाजिक घटना के बारे में अध्ययन किया गया है, उस अध्ययन का निष्कर्ष कल भी खरा उतरेगा इस बात की कुछ भी निश्चितता नहीं होती है।

3.7.2. सामाजिक घटनाओं का जटिल स्वरूप होता है - सामाजिक घटनाएं व्यक्ति, काल व समाज के संदर्भ में बहुआयामी होती हैं। लुण्डवर्ग ने लिखा है "मानव समूह व्यवहार से संबंधित एक वास्तविक विज्ञान होने के लिए संभवतः एक सबसे बड़ी बाधा इसकी अध्ययन - वस्तु की जटिलता है''। सामाजिक प्रघटनाओं की जटिलता और परिवर्तनशीलता के कारण ही कई विद्वान समाजशास्त्र को विज्ञान मानने से इनकार करते हैं।

3.7.3. सामाजिक घटनाओं की माप में कठिनाई होती है - सामाजिक घटनाएं अमूर्त हैं और इसलिए उन्हें निश्चित रूप में नापना या तौलना संभव नहीं। फलस्वरूप उनमें वैज्ञानिकता का अभाव होता है। मुकर्जी स्पष्ट करते हैं कि पिता - पुत्र या पति- पत्नी के संबंध को न किसी प्रकार नापा या तौला या अंकों में व्यक्त किया जा सकता है और न ही यह काम हरिजनों के प्रति तथाकथित 'उच्च' जातियों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए किया जा सकता है।

3.7.4. समाज में कार्य-कारण संबंध का अभाव है - वैज्ञानिक घटनाएं कार्य - कारण संबंध पर निर्भर होकर यथार्थता को व्यक्त करती हैं। इसके विपरीत सामाजिक घटनाएं जटिल मानवीय व्यवहार का निर्माण कर देश व स्थिति के आधार पर भिन्नता को दर्शाती है। समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध आपत्ति यह उठाई जाती है कि इसमें कार्य-कारण संबंध का अभाव पाया जाता है। स्वयं आगस्त कॉम्टे ने समाजशास्त्र में प्रघटन के अंतरंग कारणों की खोज को अस्वीकार किया है।

3.7.5. समाजशास्त्र में प्रयोगशाला नहीं है - समाजशास्त्र के पास प्राकृतिक विज्ञानों की भांति प्रयोगशालाएं नहीं हैं। फलस्वरूप तथ्यों के अधार पर प्राप्त निष्कर्ष अनुमानों पर आधारित होते हैं और इसी कारण समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं माना जा सकता। गार्नर इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि हम समुदाय के एक भाग को हाथ में नहीं ले सकते और न ही उसके विभिन्न पहलुओं को टेस्ट ट्यूब में डालकर या विभिन्न स्थितियों में रखकर, सामाजिक समस्याओं का हल करने या अपनी विचारवान जिज्ञासा को संतुष्ट करने हेतु, उसका निरीक्षण परीक्षण कर सकते हैं।

3.7.6. समाजशास्त्र भविष्यवाणी करने में असमर्थ है - इसके नियम सार्वभौमिक रूप से सत्य नहीं हैं जिन्हें सभी समाजों व कालों में लागू किया जा सके। हालांकि कई विद्वान समाजशास्त्र के प्रति इस प्रकार के आरोप को खंडित करते हैं, उनका मानना है कि प्राकृतिक विज्ञान भी कोई सटीक भविष्यवाणी नहीं कर सकता है। इस संबंध में चेस्टर अलेक्जेंडर ने लिखा है -

(क) अस्तु विज्ञान के विषय पांच दिन पहले ही मौसम के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि भविष्य में क्या होगा।

(ख) अत्यधिक कुशल डॉक्टर भी किसी बीमारी के संबंध में यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि वास्तव में कौन सी बीमारी है।

(ग) प्राणीशास्त्री शीघ्रअतिशीघ्र यह नहीं बता सकते हैं कि कौन सा खरगोश नव-अंकुरित मटर के पौधे के अंकुर को खाएगा।

(घ) वनस्पतिशास्त्री यह भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि कौन सा बीच पहले अंकुरित होगा,

(ड़) भूगर्भशास्त्री यह नहीं बता सकते कि आगामी शीतकाल में कौन सी रेल की पटरी टूटेगी।

3.8. समाजशास्त्र की प्रकृति की विशेषताएँ -

राबर्ट बीरस्टीड ने अपनी पुस्तक 'The Social Order' में समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला है जो इस प्रकार है:

3.8.1 समाजशास्त्र एक सामाजिक, न कि प्राकृतिक विज्ञान है – समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं, सामाजिक संबंधों, सामाजिक प्रक्रियाओं एवं सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करता है, अतः इसकी प्रकृति सामाजिक विज्ञान की है। ओडम लिखते हैं कि समाजशास्त्री केवल वैज्ञानिक ही नहीं, सामाजिक वैज्ञानिक भी होना चाहिए। प्राकृतिक घटनाओं के सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का भी अध्ययन एक समाजशास्त्री द्वारा किया जाता है।

3.8.2 समाजशास्त्र एक निरपेक्ष या वास्तविक विज्ञान है न कि आदर्शात्मक - समाजशास्त्री तटस्थ भाव से सामाजिक घटनाओं को यथास्थिति स्वरूप में बताने का प्रयास करता है एक निरपेक्ष विज्ञान के रूप में इसका कार्य वास्तविक तथ्यों के आधार पर पक्षपात रहित होकर घटनाओं की वास्तविकताओं का अध्ययन, विश्लेषण तथा निरूपण करना है, न कि उचित - अनुचित, सही-गलत या भले व बुरे आदर्शों को प्रस्तुत करना।

3.8.3 समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है न कि व्यावहारिक विज्ञान -समाजशास्त्री नीति निर्धारक का कार्य नहीं करते हैं। इस अर्थ में यह एक विशुद्ध विज्ञान है जबकि सामाजिक कार्य (Social Work) को व्यावहारिक विज्ञान माना जाता है। मार्टिनडाल और मोनाकेसी के अनुसार विशुद्ध विज्ञानों का प्रमुख कार्य तथ्यों के अंर्तनिहित सिद्धांतों को विकसित और क्रमबद्ध करना, पुराने सिद्धांतों को नए तौर पर परीक्षा करना तथा मौजूदा सिद्धांतों को नियमबद्ध और सरल करना है। प्रसिद्ध दार्शनिक कांत ने स्पष्ट लिखा है, "तथ्य सिद्धांत के बिना अंधा और सिद्धांत तथ्य के बिना खोखला है।"

3.8.4 समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है ना कि मूर्त विज्ञान -समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं व सामाजिक संबंधों को व्यक्तियों या समूहों के बीच होने वाले व्यवहारों अर्थात सामाजिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करता है जिनका स्वरूप अमूर्त होता है। उदाहरणार्थ यह

युद्ध जैसी ऐतिहासिक घटना को एक सामान्य प्रक्रिया मान कर, जो कि सामाजिक संघर्ष के रूप में प्रगटित है, अध्ययन करता है।

3.8.5 समाजशास्त्र एक सामान्यीकरण विज्ञान है न कि विशेषीकरण विज्ञान - समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं को उनकी संपूर्णता के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करता है । किसी भी सामाजिक घटना के घटित होने का कारण कोई एक न होकर, अनेक कारकों की परस्पर अंतर्क्रिया होती है । इसलिए समाजशास्त्र को एक सामान्यीकरण, न कि विशेषीकरण विज्ञान कहा गया है।

3.8.6 समाजशास्त्र एक तार्किक और साथ ही अनुभवात्मक विज्ञान है -समाजशास्त्र किसी भी सामाजिक समूह व सामाजिक घटनाओं का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति व प्रणाली के आधार पर करता है। तार्किकता के आधार पर सामाजिक सिद्धांतों की वास्तविक रूप में परीक्षा और पुनर्परीक्षा कर समाजशास्त्री नियमों का प्रतिपादन करता है।

3.8.7 समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है, ना कि विशेष विज्ञान - समाजशास्त्र की इस प्रकृति के संदर्भ में समाज विचारकों में मतभेद है, किंतु अधिकांश समाजशास्त्री समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान मानते हैं । इनके अनुसार समाजशास्त्र में उन घटनाओं के अध्ययन पर जोर दिया जाता है जो सभी मानवीय अंतर्क्रियाओं से सामान्य है।

3.9 सारांश

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकति व समाजशास्त्र को एक विज्ञान समझने में विद्वानों में मतभेद हो सकता है किंतु इस बात पर सभी एक मत हो सकते हैं कि समाजशास्त्रीय अध्ययनों में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग होता है। इस प्रकार समाजशास्त्र एक विज्ञान है। कार्ल पियर्सन ने इस पक्ष पर और भी बल देते हुए लिखा है कि वह व्यक्ति जो तथ्यों का, चाहे वे किसी भी तरह के क्यों न हों, वर्गीकरण करता है, जो उनके पारस्परिक संबंधों को देखता और उनके अनुक्रमों का वर्णन करता है वह वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग कर रहा है और एक वैज्ञानिक है । ये सभी गुण समाजशास्त्र में होते हैं ।

3.10 पारिभाषिक शव्दावली

विज्ञान- वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किया गया व्यवस्थित ज्ञान, विज्ञान है

3.11 अभ्यास प्रश्न

1- विज्ञान क्या है ?

2- क्या समाजशास्त्र एक विज्ञान है ?

3- समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति पर प्रकाश डालिए।

4- समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति का विश्लेषण कीजिए।

5- वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख तत्व क्या हैं ?

6- समाजशास्त्र का एक विज्ञान के रूप में विश्लेषण कीजिए।

3.12 संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. सिंधी, नरेंद्र कुमार व वसुधाकर गोस्वामी 2000. समाजशास्त्र विवेचन, जयपुरः राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी

2. गुप्ता, एम.एल.व डी.डी. शर्मा, 1996, समाजशास्त्र, आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन्स

3. मुकर्जी, रवींद्रनाथ, 1994, समकालीन उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धांत, दिल्ली : विवेक प्रकाशन

3.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सिंधी, नरेंद्र कुमार व वसुधाकर गोस्वामी 2000. समाजशास्त्र विवेचन, जयपुरः राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी

2. गुप्ता, एम.एल.व डी.डी. शर्मा, 1996, समाजशास्त्र, आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन्स

3. मुकर्जी, रवींद्रनाथ, 1994, समकालीन उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धांत, दिल्ली : विवेक प्रकाशन

3.14 निबंधात्मक प्रश्न

समाजशास्त्र और विज्ञान पर एक लेख लिखिए?

इकाई-4- समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञान

Sociology & Other Social Sciences

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान

4.3 समाजशास्त्र और मानवशास्त्र

4.4 समाजशास्त्र और मनोविज्ञान

4.5 समाजशास्त्र और इतिहास

4.6 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र

4.7 समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

4.8 सारांश

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

मानव जीवन के सभी पहलुओं को समझने के लिए उसके किसी एक नहीं वरन सभी पक्षों का अध्ययन आवश्यक होता है। मनुष्य के जीवन को प्राकृतिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के तत्व प्रभावित करते हैं। सामाजिक ज्ञान की सीमाएं इतनी अधिक विस्तृत हैं कि सभी सामाजिक विज्ञानों को इसमें से आवश्यक विषयवस्तु प्राप्त हो जाती है। इसीलिए विषयवस्तु की दृष्टि से विज्ञानों को प्रमुखतः दो श्रेणियों में बांटा गया है:-

(i) प्राकृतिक विज्ञान

(ii) सामाजिक विज्ञान

प्राकृतिक विज्ञानों के अंतर्गत क्रमशः भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान आदि आते हैं। सामाजिक विज्ञानों में अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, इतिहास आदि का अध्ययन किया जाता है। जहां प्राकृतिक विज्ञानों के अंतर्गत भौतिक जगत या उससे संबंधित घटनाओं का अध्ययन किया जाता है वहीं सामाजिक विज्ञानों में मानवीय क्रियाओं, समाज और सामाजिक प्रघटनाओं का विश्लेषण एवं व्याख्या की जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस समानता के बाद भी विभिन्न सामाजिक विज्ञानों को एक-दूसरे के पूर्णतया समान क्यों नहीं माना जाता है। वास्तविकता में इसका मुख्य कारण 'विशेष सामाजिक विज्ञान' और सामान्य सामाजिक विज्ञान की धारणा है। जैसे अर्थशास्त्र के अंतर्गत केवल आर्थिक क्रियाओं का, राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत राज्यों से संबंधित तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। यह दोनों ही विज्ञान एक विशेष प्रकार के एवं अपने ही क्षेत्र का अध्ययन करते हैं। इसी लिए इन्हें विशेष विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है। वहीं समाजशास्त्र समाज के किसी विशेष पहलू का अध्ययन न करके संपूर्ण समाज का अध्ययन करता है। इसीलिए समाजशास्त्र की प्रकृति अन्य विशेष विज्ञानों की तुलना में भिन्न हो जाना स्वाभाविक है। उक्त तथ्यों को विभिन्न विद्वानों द्वारा इस प्रकार परिभाषित किया गया है।

कॉम्टे के अनुसार, "समाज एक समग्रता है जिसका अध्ययन अनेक भागों में विभाजित करके नहीं किया जा सकता।''स्पेंसर का कहना है कि समाजशास्त्र अनेक विज्ञानों का समन्वय है।

सोरोकिन के कथनानुसार ,"समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों का जनक नहीं है अपितु उसी प्रकार एक स्वतंत्र विज्ञान है जिस प्रकार दूसरे सामाजिक विज्ञानों का एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है।''

सेलिगमेन के अनुसार समाज विज्ञानों को उन मानसिक या सांस्कृतिक विज्ञानों के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है जो कि व्यक्ति की क्रियाओं का समूह का सदस्य मानकर अध्ययन करते हैं।

गिलिन और गिलिन का कहना है कि समस्त सामाजिक विज्ञान मुख्य रूप से मानव क्रियाओं और व्यवहारों का उनके सामाजिक समूहों के सदस्य के रूप में अध्ययन करता है। वे आपस में मुख्य रूप से अपनी रूचियों की व्यवस्था के कारण अलग हैं।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे -

- समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान से आशय
- समाज विज्ञानों के बीच संबंध
- समाजशास्त्र और अन्य समाज विज्ञानों के बीच अंतर
- समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र में अंतर
- समाजशास्त्र और इतिहास में अंतर
- समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में संबंध
- समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान में अंतर

इस प्रकार इन सभी पक्षों का अध्ययन करने के पश्चात आप विषय या घटना को समग्र रूप से देखना एवं समझना सीख सकेंगे।

4.2 समाजशास्त्र एक समाज विज्ञान

मनुष्य एक जिज्ञासु प्राणी है और इसी कारण मनुष्य की हमेशा से ही नई-नई खोज करना प्रकृति रही है। वह अपने इर्द-गिर्द व्याप्त समस्याओं को सुलझाने में प्रयासरत रहा है। इसीलिए विश्व

की आधारभूत जिज्ञासाओं को तुष्ट करने के लिए एवं प्राकृतिक विश्व को भलीभांति समझने के लिए ही मनुष्य ने विज्ञान एवं वैज्ञानिक विधियों का निर्माण किया। इसी आवश्यकता ने समाजशास्त्र में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग समाज एवं मानवीय व्यवहारों के अध्ययन के लिए किया जैसे अवलोकन एवं सांख्यिकीय, गणना आदि। समाजशास्त्र का अन्य विज्ञानों से संबंध को हम इस प्रकार समझ सकते है कि यदि समाजशास्त्र को हम मनोविज्ञान से जोड़कर देखते हैं तो पाते हैं कि इसके अंतर्गत हम सामाजिक सीख, मानव व्यक्तित्व एवं मानव व्यवहार को समाज में रहकर ही सीखते हैं। मानवशास्त्र का संबंध भी इसी तरह का है जिसमें हम संस्कृति, सामाजिक संगठन एवं नातेदारी व्यवस्था को समाज के संदर्भ में देखते हैं। राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत सामाजिक नियंत्रण, व्यक्ति और समाज एवं सामाजिक चेतना के संदर्भ में, इतिहास के अंतर्गत ऐतिहासिक पद्धति, सामाजिक परिवर्तन एवं कार्य-कारण संबंध के परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र से जोड़ते है। अन्त में दर्शनशास्त्र को सामाजिक दर्शन, सामाजिक मूल्य एवं सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में जोड़ सकते हैं।

विभिन्न समाज विज्ञानों में से प्रत्येक द्वारा सामाजिक-जीवन के किसी न किसी पहलू का अध्ययन किए जाने के कारण उन सभी में पास्परिक संबंधों का होना स्वाभाविक है। प्रत्येक समाज विज्ञान समाज और मानवीय क्रियाओं का एक विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन करता है, प्रत्येक का अपना एक विशिष्ट ध्यानबिंदु होता है। इस कृति से प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की अपनी-अपनी विशिष्ट विषय-वस्तु या अध्ययन-सामग्री है और प्रत्येक ने अपनी विशेष अध्ययन-पद्धतियां को विकसित भी किया है।

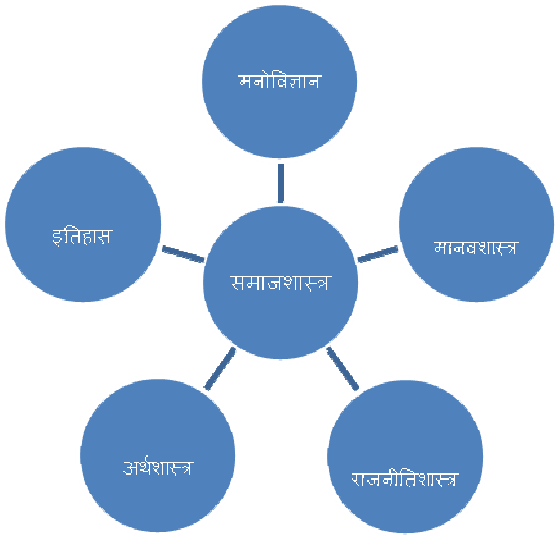

अतः जहां तक समाजशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों के साथ संबंध का प्रश्न है, तो यह इन सभी में पारस्परिक आदान-प्रदान है। समाजशास्त्र अन्य समाज विज्ञानों से और अन्य समाज विज्ञान समाजशास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। विभिन्न समाज विज्ञानों के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित होने के बावजूद समाजशास्त्र का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इस प्रकार समाजशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों के बीच पाए जाने वाले संबंधों को हम इस प्रकार समझ या विवेचना कर सकते हैं।

4.3 समाजशास्त्र और मानवशास्त्र

इवांस प्रिचार्ड का मानना है कि सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा कहा जा सकता है, वह शाखा जो प्रमुखतः अपने को आदिम समाजों के अध्ययन में लगाती है। समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग सभ्य समाजों की विशिष्ट समस्याओं के अध्ययन के लिए किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच निकट का संबंध है, क्योंकि दोनों प्रबल रूप से समूह-व्यवहार के वैज्ञानिक सामान्यीकरणों से संबंधित हैं। सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों द्वारा समाजों का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा विशेषतः आदिम समाजों का अध्ययन किया जाता है जबकि समाजशास्त्र आधुनिक जटिल समाजों का अध्ययन करता है। दोनों सामाजिक विज्ञान सूक्ष्म एवं विशाल दोनों प्रकार से अध्ययन करते हैं। सामाजिक मानवशास्त्र में समाजों का उनकी संपूर्णता में अध्ययन किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्री आदिम लोगों की अर्थव्यवस्था, उनके परिवार और नातेदारी संगठनों का, उनकी प्रौद्योगिकी तथा कलाओं का सामाजिक व्यवस्थाओं के भागों के रूप में अध्ययन करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक परिस्थितियों में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करता है। यहां पर यदि हम कुछ विद्वानों की परिभाषाओं के माध्यम से स्पष्ट करें कि मानवशास्त्र एवं समाजशास्त्र में क्या विभिन्नता एवं समानता है तो हम अच्छे से समझ सकेंगे।

क्रोबर के अनुसार समाजशास्त्र और मानवशास्त्र जुड़वा बहिनें हैं। सामाजिक मानवशास्त्री सरल और छोटे आदिम समाजों का अध्ययन कर समाजशास्त्री को आधुनिक जटिल सभ्य समाजों को समझने में सहायता पहुंचाता है। मानवशास्त्री समाजशास्त्री को मानव की प्रकृति को अधिक क्षमता

के साथ समझने में योग देता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री भी आधुनिक जटिल समाजों में विशिष्ट समस्याओं का अध्ययन कर मानवशास्त्री के लिए अनेक उपकल्पनाएं प्रस्तुत करता है।

समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र की दो शाखाओं-सांस्कृतिक एवं सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन, सामाजिक संस्थाएं, धर्म आदि का अध्ययन किया जाता है। अर्थात दोनों की विषय वस्तु सामान्य है लेकिन परिप्रेक्ष्य अलग-अलग हैं। संस्कृति के विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र समाजशास्त्र के काफी निकट है। किसी भी समाज के संबंध में यथार्थ जानकारी प्राप्त करने के लिए उस समाज की संस्कृति को समझना अत्यंत आवश्यक है।

मानवशास्त्रीय अध्ययन समाजशास्त्रीय अनुसंधानकर्ता के लिए अनुसंधान कार्य की पृष्ठभूमि तैयार करता है। यही कारण है कि इन दोनों विषयों का निकट का संबंध अनुसंधान की दृष्टि से भी अधिक लाभप्रद है। बोटोमोर ने भारत के संदर्भ में समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतीय समाज न तो आदिम समाजों के समान पूरी तरह पिछड़ा हुआ है और न ही औद्योगिक समाजों के समान पूर्णतः विकसित। ऐसे समाजों में समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के मध्य अधिक अंतर कोई अर्थ नहीं रखता। अतः निश्चित रूप से समाजशास्त्र और मानवशास्त्र घनिष्ठरूप से परस्पर एक-दूसरे से संबंधित हैं। हॉबल कहते हैं कि 'विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र एक ही हैं, समान हैं।'

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में यद्यपि घनिष्ठ संबंध पाया जाता है, परंतु दोनों एक नहीं हैं, दोनों में कुछ महत्वपूर्ण अंतर निम्नानुसार हैं:

इनमें विषय-क्षेत्र की दृष्टि से अंतर पाया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र प्रमुखतः आदिम समाजों का अध्ययन करता है, जबकि समाजशास्त्र सभ्य समाजों का अध्ययन करता है। इन दोनों में पद्धति संबंधी अंतर भी पाया जाता है। वर्तमान में सामाजिक मानवशास्त्र में प्रमुखतः अर्द्ध-सहभागी अवलोकन पद्धति का प्रयोग किया जाता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री साक्षात्कार अनुसूची या प्रश्नावली आदि बनाकर सूचनाएं एकत्र करता है तथा प्रलेखों एवं सांख्यिकीय पद्धति का सहारा लेता है।

अभ्यास के लिए आप यहां एक स्थिति का अध्ययन कर देख सकते हैं जिसमें आदिम समाज के अध्ययन में समाज की प्रासंगिकता को भी शामिल किया जाए तो आप यह देख सकेंगे कि किस प्रकार समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र का अर्न्तसंबंध है।

4.4 समाजशास्त्र और मनोविज्ञान

समाज का निर्माण करने वाले परस्पर सामाजिक संबंध व्यक्ति, की मानसिकता से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति का मनोविज्ञान सामाजिक जीवन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यह सामाजिक दशाओं द्वारा निर्धारित होता है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक दशाएं जिस प्रकार होंगी मनुष्य उसी प्रकार से सोचेगा एवं व्यवहार करेगा। इस प्रकार हम समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींच सकते हैं। हां कुछ हद तक समाजशास्त्र को मनोविज्ञान पर निर्भर अवश्य मान सकते है। इस संदर्भ में कहॉ जा सकता है कि सामाजिक संबंधों एवं सामाजिक जीवन का अध्ययन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक हम मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों, इच्छाओं, स्मृति, बुद्धि एवं प्रेरणाओं और उद्देश्यों का हमें कोई ज्ञान न हो। ये सभी आधार मनोवैज्ञानिक हैं।

किंबाल यंग ने सामाजिक मनोविज्ञान को 'पारस्परिक क्रियाएं करते हुए व्यक्तियों का अध्ययन कहकर परिभाषित किया है।

इस प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान समाज में व्यक्तियों के अंतर्संबंधों एवं व्यवहारों का अध्ययन करता है।

टालकट पार्संस के अनुसार "मनोविज्ञान व्यवहार की प्राथमिक प्रक्रियाओं, जैसे-संज्ञान ,सीख तथा स्मरण से संबंधित है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जहां समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता है वहीं मनोविज्ञान मानसिक व्यवस्था का अध्ययन करता है।

4.5 समाजशास्त्र और इतिहास

समाजशास्त्र और इतिहास परस्पर घनिष्ठ रूप से अंतर्संबंधित हैं। जहां इतिहास समाज की अतीत की घटनाओं, समाज में रहने वाले लोगों के जीवन, समाज में आए परिवर्तनों, उन विचारों जो

समाज को प्रभावित करते हैं और उन भौतिक दशाओं जो विकास में सहायक या असहायक हैं, का संकलन या रिकार्ड है। किसी भी समाज का वर्तमान चाहे उसके अतीत की प्रतिलिपि भले ही न हो परंतु अतीत की छाप उस पर अवश्य ही छोड़ता है। वर्तमान भविष्य का इतिहास है लेकिन वर्तमान ही भविष्य का निर्माण भी करता है। समाजशास्त्र समाज के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से संबंधित है। इन दोनों विषयों के बीच कुछ महत्वपूर्ण संबंध निम्न प्रकार हैं:

समाजशास्त्र समाज के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से संबंधित है। समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं के रूप में जीवन के विभिन्न चरण, परंपरा, रीति-रिवाज आदि का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र को इन सभी तथ्यों के अध्ययन के लिए इतिहास पर निर्भर रहना पड़ता है। इतिहास को जाने बिना वर्तमान का अध्ययन नहीं किया जा सकता। किसी भी समाज के अध्ययन एवं वास्तविक मूल्यांकन के लिए उसके इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। दूसरी ओर इतिहास भी समाजशास्त्र द्वारा प्रतिपादित समाज व संगठन के सिद्धांतों की सामान्य दृष्टि को अध्ययन के लिए आधार बनाता है। इतिहास के द्वारा रीति-रिवाज, परंपराएं, मनोवृत्तियां, विचार, मूल्य, दर्शन आदि की जानकारी ली जाती है। इतिहास समाज की गतिशीलता पर प्रकाश डालता है और समाजशास्त्रीय अध्ययन में सहायक सिद्ध होता है।

घटनाओं के घटने के क्रम के संबंध में इतिहासकार की व्याख्या समाजशास्त्री के वर्तमान सामाजिक विश्लेषण का मार्गदर्शन करती है। अतीत के कार्य-करण संबंध के विश्लेषण में वर्तमान के लिए इस विश्लेषण को जो कि समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र है, दोनों विज्ञानों को और अधिक समीप कर दिया है।

टॉयनबी की पुस्तक ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री समाजशास्त्रीय अध्ययन में बहुत महत्वपूर्ण है। वर्तमान में इतिहास का अध्ययन भी सामाजिक दृष्टिकोण से किया जाने लगा है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों और प्रौद्योगिकी विकास से विश्व की भौतिक निरंतरता कम होती जा रही है लेकिन मानसिक परिप्रेक्ष्य में विभिन्न समाजों को समीप लाने का प्रयत्न सम्मिलित रूप से इतिहासकार और समाजशास्त्री ही करेंगे। यदि इतिहासकार सृजनात्मक दृष्टिकोण में इतिहास लिखता है तो यहां रहने वाले विभिन्न सप्रंदायों में पारस्परिक मेलजोल, सौहार्द और सहिष्णुता पनप सकती है, जो सभी के लिए हितकर है।

बीयरस्टीड के अनुसार 'अगर अतीत को शताब्दियों से लुढ़कता हुआ एक वस्त्र मान लिया जाए तो इतिहास की रूचि उन विशिष्ट धागों और किनारों में होगी जो उस वस्त्र को बनाता है, जबकि समाजशास्त्र की रूचि उस वस्त्र से दिखने वाले प्रतिमानों में होगी'। अतः इतिहास और समाजशास्त्र एक-दूसरे से संबंधित हैं। इतिहास का अध्ययन समाजशास्त्र के अध्ययन के बिना और समाजशास्त्र का अध्ययन इतिहास के अध्ययन के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। जहां समाजशास्त्र में वर्तमान का तानाबाना होता है वहीं इतिहास में अतीत की सच्चाई होती है जो निश्चित रूप से आधार प्रदान करता है। जी. ई. हावर्ड के अनुसार 'इतिहास भूतकाल का समाजशास्त्र है और समाजशास्त्र वर्तमान का इतिहास'

समाजशास्त्र और इतिहास में समानता होने पर भी कुछ असमानता हैः

- इतिहास व्यक्तिकरण का विज्ञान है जबकि समाजशास्त्र एक सामान्यीकरण का विज्ञान है। इतिहास और समाजशास्त्र में अंतर काल का है। इतिहास अतीत का अध्ययन करता है तो समाजशास्त्र वर्तमान का। समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र इतिहास की पृष्ठभूमि का अध्ययन है। जहां समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रिया के अंर्तगत घटने वाली कुछ घटनाओं का अध्ययन है। समाजशास्त्र भविष्य की ओर संकेत करने की क्षमता रखता है जबकि इतिहास केवल अतीत के यथार्थ का निरूपण करता है। समाजशास्त्र सामग्री संकलन में ऐतिहासिक सामग्री तथा ऐतिहासिक पद्धति को एक पद्धति के रूप में अपनाता है जबकि अन्य पद्धतियां भी उपयोग में लाई जाती हैं। इतिहास में अन्य पद्धतियों के प्रयोग की संभावनाएं नहीं हैं।

- समाजशास्त्र व्यापक है जबकि इतिहास संकुचित। समाजशास्त्री का मुख्य लक्ष्य समाज के सामान्य नियमों की खोज करना होता है, वहीं इतिहासकार का मुख्य लक्ष्य ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध तरीके से विवरण देना है। विशिष्ट समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रयोग की संभावना रहती है जबकि इतिहास के अध्ययन में प्रयोग संभव नहीं होता क्योंकि जो ऐतिहासिक घटना घटित हो चुकी है। उसे पुनः नहीं दोहराया जा सकता। इतिहास महत्वपूर्ण घटनाओं के विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र किसी भी घटना को सामाजिक संबंधों के संदर्भ में समझता है। उदाहरण के लिए, इतिहासकार युद्ध

के हर पहलू का अध्ययन करेंगे जबकि समाजशास्त्री युद्ध का एक सामाजिक घटना के रूप में अध्ययन करेंगे। वे लोगों पर युद्ध के प्रभाव आदि का अध्ययन करेंगे।

बोध प्रश्न - 1

i) ' समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र दोनों जुड़वा बहनें हैं' किसने कहा है ?

---

ii) समाजशास्त्र-सामाजिक मानवशास्त्र में कोई दो अंतर बताइए।

---

iii) समाजशास्त्र व इतिहास के बीच कोई दो अंतर बताइए।

4.6 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र

समाजशास्त्र का अर्थशास्त्र से संबंध को समझने से पहले हम अर्थशास्त्र को समझ लेंगे, तो विषय-वस्तु को समझने में आसानी होगी। अर्थशास्त्र के अंतर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं या आर्थिक व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र का अध्ययन भौतिक वस्तुओं या सेवाओं

के उत्पादन, वितरण और उपभोग से संबंधित व्यक्ति के व्यवहार से है। ब्रिटिश अर्थशास्त्री मार्शल के अनुसार 'अर्थशास्त्र मनुष्य की उन क्रियाओं का अध्ययन करता है जो कि आवश्यकताओं की संतुष्टि के भौतिक साधनों को प्राप्त करने के लिए की जाती है।' जबकि समाजशास्त्र के अंतर्गत मनुष्य की सामाजिक क्रियाओं या गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र समग्र रूप में मानवीय व्यवहार एवं समाज को समझने का प्रयास करता है।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के बारे में सिल्वरमैन ने लिखा है कि सामान्य कार्यों या लक्ष्यों के लिए इसे (अर्थशास्त्र) समाजशास्त्र नामक पितृ विज्ञान की, जो सभी सामाजिक संबंधों के सामान्य सिद्धांतो का अध्ययन करता है, एक शाखा माना जा सकता है। अर्थशास्त्र में मानव की आर्थिक क्रियाओं का जबकि समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन भी करता है। इसकी एक विशिष्ट शाखा समाजशास्त्रीय अर्थशास्त्र भी होगा लेकिन वास्तविकता यह है कि ये दोनों अपने-अपने अध्ययन क्षेत्र और विषय-सामग्री की दृष्टि से स्वतंत्र विज्ञान है।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र घनिष्ट रूप से एक-दूसरे से संबंधित हैं। कॉम्ट, जे.एस. मिल, पैरेंटो, वेबलिन, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर आदि विद्वानों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं, इनका पृथक-पृथक रूप से अध्ययन नहीं किया जा सकता। इन दोनों समाजविज्ञानों में घनिष्ट संबंध है:

(1) व्यक्ति की सामाजिक क्रियाओं और व्यवहार पर आर्थिक परिस्थितियों का और आर्थिक क्रियाओं एवं व्यवहार पर सामाजिक परिस्थितियों का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। मैकाइवर के अनुसार आर्थिक घटनाएं सदैव सभी प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं एवं क्रियाओं के द्वारा निर्धारित होती हैं और बदले में स्वयं भी निरंतर सभी प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं तथा क्रियाओं का पुनर्निधारण, सृष्टि, संगठन एवं रूपांतरण करती रहती हैं।

(2) भौतिक साधनों को जुटाने के दौरान मनुष्य अन्य व्यक्तियों, समूहों, समाजों आदि के संपर्क में आता है। इस प्रकार उसकी आर्थिक क्रिया बहुत अंशों में सामाजिक क्रिया हो जाती है। आर्थिक क्रिया सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों से संचालित होती है।

(3) व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति की व्यय-क्षमता सामाजिक स्थिति को प्रभावित करती है। भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कई सामाजिक आवश्यकताएं जैसे निश्चित तथा विशेष स्तर की वेशभूषा, शादी-विवाह तथा उत्सवों, धार्मिक कृत्यों का व्यय आदि यद्यपि आर्थिक क्रिया से संबंधित नहीं है लेकिन इनका प्रभाव आर्थिक स्थिति पर एवं आर्थिक स्थिति का प्रभाव इन पर पड़ता है।

(4) दोनों शास्त्र एक-दूसरे के अध्ययन को व्यापकता और साथ ही निश्चितता प्रदान करने में भी सहायता प्रदान करते हैं।

(5) समाज विशेष की परपराएं, प्रथाएं, संस्थाएं तथा लोक विश्वास आर्थिक क्रियाओं को काफी प्रभावित करते हैं और स्वयं आर्थिक क्रियाएं सामाजिक संरचना को बहुत प्रभावित करती हैं।

(6) अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र ऐसी समस्याओं का अध्ययन करते हैं जो एक-दूसरे के क्षेत्र के अंतर्गत आती हैं - जैसे उद्योगीकरण, नगरीकरण, श्रम समस्याएं, श्रम कल्याण, बेकारी, निर्धनता, ग्रामीण समस्याएं, ग्रामीण पुनर्निर्माण आदि। इन समस्याओं पर जब तक आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जाता तब तक न तो इन्हें ठीक से समझा जा सकता है और न ही इन्हें हल किया जा सकता है।

मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स आदि विद्वानों ने अपने अध्ययनों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक और सामाजिक कारकों में घनिष्ट संबंध पाया जाता है। मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टेंट इथिक्स और स्पिरिट ऑफ केपिटेलिज्म में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के अंतर को स्पष्ट किया है। दूसरी और कार्ल मार्क्स समाज के आर्थिक ढांचे को मूल संरचना कहते हैं। शेष सभी संस्थाएं उसकी उपज होती हैं और आर्थिक ढांचे में परिवर्तन से समाज की अन्य संस्थाओं में परिवर्तन की बात करते हैं। केरन के अनुसार, 'अर्थशास्त्रियों ने यह जान लिया है कि समाजशास्त्र सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक सामंजस्य, सामाजिक शक्तियां, प्रतिस्पर्धा और सामूहिक व्यवहार की समस्या के स्पष्टीकरण में सहायक है तथा समाजशास्त्री समाज के अर्थशास्त्रीय पहलू को समझने के लिए बहुत अधिक अर्थशास्त्र की ओर झुकने लगे हैं। अतः समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में घनिष्ट संबंध है। वर्तमान में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में दिन-प्रतिदिन सहयोग बढ़ता जा रहा है। दूसरी और अर्थशास्त्र के आधुनिक विज्ञान समाज के मानवीय पक्ष को आर्थिक पक्ष के लिए महत्वपूर्ण आधार के रूप में देखने लगे हैं।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में निम्नलिखित अंतर भी पाए जाते हैं-

- समाजशास्त्र मानव जीवन का सामान्य सर्वपक्षीय अध्ययन है जबकि अर्थशास्त्र केवल आर्थिक पक्ष का विशिष्ट अध्ययन है।
- समाजशास्त्र में प्रमुखतः सामाजिक संबंधों का जबकि अर्थशास्त्र में आर्थिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है।
- समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का जबकि अर्थशास्त्र में मानव जीवन के केवल आर्थिक पक्षों का अध्ययन किया जाता है।
- समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय, बहुकारकीय और काफी व्यापक है जबकि अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण आर्थिक और तुलनात्मक दृष्टि से सीमित है। अर्थशास्त्रीय विश्लेषण में केवल आर्थिक कारक को ही प्रमुखता दी जाती है।

इस प्रकार समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र समानताओं और असमानताओं के बावजूद एक-दूसरे से पारस्परिक संबंध रखते हैं क्योंकि आधारभूत एकता की कड़ी मानव है जिसके जीवन का अध्ययन दोनों ही करते हैं।

4.7 समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

राजनीतिशास्त्र की रूचि, प्रमुखत समाज के अध्ययन में है इस शास्त्र के द्वारा राज्य तथा राजकीय प्रशासन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र राजनीतिक संबंधों का विस्तृत अध्ययन है। राजनीतिशास्त्र संगठित मानव संबंधों (राजनीतिक संबंधों) का अध्ययन करता है और ये संबंध सामाजिक संबंधों का ही एक अंग है। समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के बीच घनिष्ठ संबंध है। कुछ समय पूर्व तक राज्य और समाज में कोई भेद नहीं किया जाता था और इसी कारण समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एक ही विषय के अंतर्गत आते थे। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में राज्य और समाज में अंतरकिया जाने लगा तथा राज्य का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के द्वारा और जाति, वर्ग, परिवार, धर्म एवं कानून आदि का समाजशास्त्र के द्वारा किया जाने लगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का घनिष्ट संबंध है। इन विज्ञानों के संबंध को निम्नलिखित बिंदु दर्शाते हैं -

(1) पूर्व काल में सामाजिक विषयों पर मुख्य पुस्तकें थीं - प्लेटो की रिपब्लिक, अरस्तू की पॉलिटिक्स और अन्य प्रतिष्ठित पुस्तकें जो कि पूर्वी और पश्चिमी राजनीतिशास्त्र में पूर्ण मानी जाती थीं।

(2) राजनीतिशास्त्र मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है पर वह राजनीतिक प्राणी क्यों और कैसे बना, यह जानकारी समाजशास्त्र ही प्रदान करता है। इस प्रकार समाजशास्त्र की नींव पर राजनीतिशास्त्र के भवन का निर्माण होता है।

(3) राजनीतिशास्त्र मानव संबंधों का अध्ययन करता है जो कि सामाजिक संबंधों का अंग है। गिलक्राइस्ट के अनुसार 'राजनीतिशास्त्र मानव संबंधों के तथ्यों और सिद्धांतो को ग्रहण करता है, जिन सिद्धांतो और तथ्यों का अध्ययन तथा प्रतिपादन करना समाजशास्त्र का कर्तव्य है।'

(4) वर्तमान में दोनों शास्त्रों का संबंध इतना बढ़ गया है कि परिणामस्वरूप राजनीति का जीवन पर प्रभाव अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्र की एक नवीन शाखा 'राजनीतिक समाजशास्त्र' का विकास हुआ है।

(5) राज्य की सदस्यता भी प्रायः जन्म से निधार्रित होती है। राज्य किस प्रकार का है, इसका सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा अन्य बातों पर प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक प्रकार, शिक्षा, आस्थाएं, परम्पराएं एवं रीति-रिवाज इत्यादि राजनीतिक स्थिति द्वारा संचालित होते हैं।

भारतीय, अमेरिकी, रूसी या चीनी परिवारों का गठन एवं संरचना यहां की राजनीतिक विचारधारा के अनुकूल है। इस प्रकार राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता। दोनों ही एक-दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव डालते हैं। जिंसबर्ग के अनुसार 'समाजशास्त्र की उत्पति राज्य के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं के अध्ययन करने के लिए राजनीतिक अन्वेषण के क्षेत्र में विकास के फलस्वरूप हुई। उदाहरणतः परिवार के स्वरूप और संस्कृति और सभ्यता के अन्य तत्व जैसे आधार, धर्म और कला ये सामाजिक उपज माने जाते हैं और एक-दूसरे के संदर्भ में इनका अवलोकन किया जाता है।'

(6) समाजशास्त्रीय सिद्धांतों एवं पद्धतियों का राजनीतिशास्त्र में काफी प्रयोग होने लगा है।

(7) राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए, उदाहरण के रूप में मतदान-व्यवहार को जानने के लिए सामाजिक तथ्यों, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं जैसे जाति प्रणाली, संयुक्त परिवार प्रणाली, वर्ग-भेद, स्त्रियों की स्थिति आदि के संबंध में जानकारी आवश्यक है। प्रामाणिक आधार पर यह जानकारी समाजशास्त्र से ही मिल सकती है।

राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच कुछ स्पष्ट अंतर हैं जो निम्नलिखित हैं-

(1) राजनीतिशास्त्र मानव के राज्य, राजनीतिक दल, नीति, आदि का अध्ययन करता है राजनीति शास्त्र जहां भी शक्ति है उसका अध्ययन करता है जाति में शक्ति है, राजनीति शास्त्री इसका भी अध्ययन करता है। जबकि समाजशास्त्र मानव के संपूर्ण संगठनों का अध्ययन करता है।

(2) समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र एक विशेष विज्ञान है। राजनीतिशास्त्र जीवन के एक विशिष्ट पक्ष का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र जीवन के सामान्य पक्षों का अध्ययन करता है।

(3) समाजशास्त्र सभी प्रकारों के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र सामाजिक संबंधों के एक भाग संगठित संबंधों विशेषतः राजनीतिक संबंधों का अध्ययन करता है

(4) समाजशास्त्र विभिन्न संस्थाओं, जिनमें सरकार भी शामिल हैं, के परस्पर-संबंध पर जोर देता है जबकि राजनीतिशास्त्र सरकार के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओं पर।

(5) राजनीतिशास्त्र का दृष्टिकोण एकांगी या एक पक्षीय है जबकि समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समग्र अथवा समष्टिमूलक है। इस भांति राजनीतिशास्त्र का दृष्टिकोण संकुचित है जबकि समाजशास्त्र का व्यापक।

(6) समाजशास्त्र सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक सभी प्रकार के साधनों के अध्ययन में, जबकि राजनीतिशास्त्र उन औपचारिक साधनों के अध्ययन में जिन्हें राज्य की अभिमति प्राप्त है, जैसे कानून में रूचि रखता है।

(7) समाजशास्त्र राज्य को महत्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं में से एक मानता है जबकि राजनीतिशास्त्र राज्य को समुदाय संचालित करने वाली सर्वोच्च शक्ति और राजनीतिक विधि का स्रोत मानता है।

(8) समाजशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान है, परंतु राजनीतिशास्त्र व्यवहारात्मक विज्ञान की श्रेणी में नहीं आता। राजनीतिशास्त्र का ज्ञान केवल राजनीति के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है जबकि समाजशास्त्र का ज्ञान जीवन के सभी क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध होगा।

(9) दोनों शास्त्रों की अध्ययन-पद्धतियों में भी काफी अंतर पाया जाता है।

(10) समाज का विकास राज्य से पहले हुआ है और इस दृष्टि से समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र की तुलना में अधिक प्राचीन है।

बोध प्रश्न -2

1 जी.ई. हावर्ड के अनुसार 'इतिहास भूतकाल का ..... और समाजशास्त्र वर्तमान का'।

2 राजनीतिशास्त्र संगठित ..... का अध्ययन करता है।

3 समाजशास्त्र एक ..... विज्ञान है।

4 वर्तमान में सामाजिक मानवशास्त्र में प्रमुखत.....का प्रयोग किया जाता है।

4.8 सारांश

विभिन्न सामाजिक विज्ञान परस्पर निर्भर हैं। हर समाज विज्ञान सामाजिक घटना में अपने विशिष्ट पहलू का अध्ययन करता हैं। परंतु मानव के संपूर्ण अध्ययन के लिए यह पर्याप्त नहीं है यद्यपि उसे पूरी तरह समझने के लिए संपूर्ण अध्ययन की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। समाजशास्त्र इस दिशा में प्रयास करता है। लेकिन इस विषय की भी अपनी सीमाएं हैं। इसलिए यह केवल सामान्य अध्ययन से ही अपने को संतुष्ट कर लेता है। सभी सामाजिक विज्ञानों का विषय एक है लेकिन उनके दृष्टिकोण भिन्नता के कारण उनकी विषय सामग्री में अंतर आ जाता है। सामाजिक

विज्ञानों के एकीकरण से ही किसी सामाजिक घटना का पूर्ण रूप से अध्ययन किया जा सकता है। यदि किसी घटना का गहन अध्ययन करना है तो यह आवश्यक होगा कि इसके विभिन्न पक्षों का अलग-अलग विद्वानों द्वारा अध्ययन किया जाए तथा अंत में इनका एकीकरण करके संपूर्ण के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाए। इस प्रकार 'सामाजिक विज्ञानों में एकता है, यह एकता काल्पनिक एकता नहीं है, यह विभिन्न भागों की एक गतिशील एकता है और एक भाग दूसरे भाग के लिए तथा अन्य भागों के लिए अनिवार्य है।'

अतः यह कहा जा सकता है कि समस्त सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे पर निर्भर हैं। हर सामाजिक विज्ञान किसी घटना का विशिष्ट अध्ययन भी करता है और सामाजिक विज्ञानों के एकीकरण के द्वारा संपूर्ण अध्ययन करने का प्रयास भी किया जाता है।

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. देखें 4.4

2. देखें 4.4

3. देखें 4.6

बोध प्रश्न-2

1 समाजशास्त्र व इतिहास

2 मानव संबंधों (राजनीतिक संबंधों)

3 व्यवहारात्मक

4 अर्द्ध-सहभागी अवलोकन पद्धति

4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Bottomore, T.B., Sociology

2. Berger, Peter, Invitation to Sociology, Doubleday, New York, 1963.

3. Mills, C.k., Wright, Sociological Imagination, Oxford, New York, 1959.

4. Forands, Abraham, Sociological Thoughts, Macmillan India, Delhi, 1985.

4.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Berger, Peter, Invitation to Sociology, Doubleday, New York, 1963.
- Mills, C.k., Wright, Sociological Imagination, Oxford, New York, 1959.
- Forands, Abraham, Sociological Thoughts, Macmillan India, Delhi, 1985.

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.समाजशात्र और इतिहास के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए ?

इकाई 5- समाज
Society

इकाई की रूपरेखा

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 समाज का अर्थ व विशेषताएं

5.3 समाज की विशेषताएं

5.4 समाज और एक समाज

5.5 मानव और पशु समाज

5.6 सारांश

5.7 पारिभाषिक शब्दावली

5.8 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

5.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

मानव-समाज का सुव्यवस्थित रीति से वैज्ञानिक अध्ययन करना समाजशास्त्र का मुख्य विषय है। समाजशास्त्र जिस महत्त्वपूर्ण बिंदु के चारों ओर घूमता है, उसे 'समाज' कहते हैं। समाज को केवल मानव तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है। यह कीड़े-मकोड़ों, पशु-पक्षियों तक फैला हुआ है।

क्योंकि वे भी अपने जीवन को बेहद व्यवस्थित तरीके से जीते हैं। इस आधार पर यह कहना गलत नहीं होगा कि समाज हर उस जगह पर है जहां-जहां जीवन पाया जाता है। आज मानव-जाति विकास के कई चरणों को पार करके सभ्यता के उच्च-स्तर पर पहुँच गई है। अन्य जीव जगत से अलग मानव ने अनेक संस्थाओं को बनाकर ऐसे सूक्ष्म एवं कठिन सामाजिक संबंध विकसित किए जो कि, केवल मनुष्य द्वारा संभव है। इसी कारण हम समाजशास्त्र के अंतर्गत केवल मानव-समाज का ही अध्ययन और विवेचन करते हैं।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- समाज क्या है जान सकेंगे
- समाज की विशेषताओं के बारे में ज्ञान अर्जित कर सकेंगे

5.2 समाज का अर्थ एवं परिभाषा

साधारण बोलचाल की भाषा में 'समाज' शब्द को व्यक्तियों के समूह के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। हालांकि 'समाज' की कोई ऐसी परिभाषा अभी तक नहीं मिल पाई है जिसे सभी ने एक मत से मान लिया हो। विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा 'समाज' शब्द के कई अर्थ लगाए गए हैं। किसी के लिए 'समाज' व्यक्तियों का समूह है तो किसी के लिए समुदाय, किसी के लिए वह पूरी मानव-जाति भी रहा है। कोई समाज को अमूर्त मानता है तो कोई उसे मूर्त भी मानता है। अतः हम देख सकते हैं कि 'समाज' को अलग-अलग अर्थ देने के कारण इसकी कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं मिल पाती है।

समाजशास्त्र के अंतर्गत 'समाज' शब्द का एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। समाज एक ऐसी व्यवस्था है जिसका आधार व्यक्तियों के बीच में बनने वाले सामाजिक संबंध होते हैं। जब अनेक व्यक्तियों के बीच होने वाला व्यवहार अर्थपूर्ण हो तथा एक-दूसरे की क्रियाओं को प्रभावित करता हो तब यह अर्थपूर्ण व्यवहार 'सामाजिक-संबंध' को प्रकट करता है। जैसे अगर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ अपनी जैविक आवश्यकताओं को पूरा करने का उद्देश्य से कोई क्रिया कर रहा है,

जिसके कारण दोनों के बीच किसी तरह का कोई संबंध बन रहा हो तो यह सामाजिक संबंध कहा जाएगा।

सामाजिक संबंधों तथा भौतिक संबंधों के मध्य एक प्रमुख अंतर पाया जाता है -पारस्परिक जागरूकता । जहां भौतिक सम्बधों में पारस्परिक जागरूकता का अभाव होता है अर्थात एक वस्तु को दूसरी वस्तु के बारे में ज्ञान नहीं होता है, वहीं दूसरी ओर पारस्परिक जागरूकता सामाजिक संबंधों का प्रमुख आधार है। भौतिक संबंध भौतिक वस्तुओं में पाया जाता हैं जैसे-की-बोर्ड के जरिए सारी सूचनाएं कम्प्यूटर में डाली जाती हैं की-बोर्ड और कंप्यूटर के बीच भौतिक संबंध है, किंतु कंप्यूटर को की-बोर्ड के बारे में ज्ञान नहीं हैं।

सामाजिक संबंध का प्रमुख तत्व मानसिक संबंध है

सामाजिक संबंध सामाजिक अंतर्किया के द्वारा बनते हैं। सामाजिक अंतर्किया के तीन संभावित स्तर माने जाते हैं-

(क) व्यक्ति - व्यक्ति के बीच अंतर्किया

(ख) व्यक्ति - समूह के बीच अंतर्किया

(ग) समूह - समूह के बीच अंतर्किया

ऊपर लिखे तीनों स्तरों पर जब ऐसी क्रियाओं का आदान-प्रदान हो जो कि विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों के बनने का कारण बने तब यह पूरी प्रक्रिया 'समाज' कहलाती है।

जब अनेक व्यक्ति किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर पूरी तरह जागरूक दशा में, जानबूझकर सामाजिक क्रियाओं को करें तब यह क्रिया 'अर्थपूर्ण' कही जाती है। अर्थात् यदि दो व्यक्तियों के बीच कोई क्रिया अनजाने में हो जाए तो यह सामाजिक क्रिया नहीं कही जाएगी। जैसे यदि किसी व्यक्ति की टक्कर रास्ते में किसी कार से हो जाए तो व्यक्ति और कार चालक के बीच होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया को सामाजिक संबंध नहीं कहेंगे।

रियूटर ने समाज को अमूर्त मानते हुए कहा है - 'समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले-पारस्परिक संबंधों की एक व्यवस्था है।'

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार - 'समाज रीतियों एवं कार्य-प्रणालियों, अधिसत्ता एवं पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों एवं विभाजनों, मानव-व्यवहार के नियंत्रणों एवं स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। यह सतत परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था है जिसे हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का जाल है और यह निरंतर परिवर्तशील है''।

गिडिंग्स ने समाज को औपचारिक रूप से बने संबंधों का प्रतिफल बताते हुए कहा है 'समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए या संबद्ध हैं।'

गिंसबर्ग ने समाज में व्यक्तियों के बीच व्यवहार की समानता को महत्त्व देते हुए समाज को इस प्रकार परिभाषित किया है -'ऐसे व्यक्तियों के समुदाय को समाज कहा जाता है जो कतिपय संबंधों या बर्ताव की विधियों द्वारा परस्पर एकीभूत हों। जो व्यक्ति इन संबंधों द्वारा संबद्ध नहीं होते या जिनके बर्ताव भिन्न होते हैं, वे समाज से पृथक् होते हैं"।

5.3 समाज की विशेषताएं

1- पारस्परिक जागरूकता - सामाजिक संबंधों का ताना-बाना ही समाज को बनाने में सहायक होता है। जब लोग एक-दूसरे को परोक्ष या अपरोक्ष रूप से जानते-पहचानते हैं तभी सामाजिक संबंध बनते हैं। व्यक्ति और प्रकृति, सूर्य और पृथ्वी, मनुष्य और किताब आदि के बीच पाए जाने वाले संबंध भौतिक होते हैं, जिनमें पारस्परिक जागरूकता नहीं पाई जाती है। जब जागरूकता नहीं होगी तो न यह एक दूसरे से प्रभावित होंगे और न उनमें कोई अंतर्किया होगी। अतः कह सकते हैं कि पारस्परिक जागरूकता सामाजिक-संबंधों को बनाने के लिए बहुत जरूरी है।

2- समानता एवं असमानता - समाज को बनाने हेतु समानता एवं असमानता, इन दोनों तत्त्वों का होना आवश्यक है।

(1) समानता - मैकाइवर और पेज ने समानता को समाज का आधार माना है। शारीरिक बनावट, उम्र या रंग की समानता नहीं बल्कि व्यक्तियों के विचारों, जीवन-मूल्यों और उद्देश्यों की समानता समाज की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। लोगों के बीच कोई संबंध जुड़ने के लिए उनके बीच कोई-न-कोई समानता का होना जरूरी है। उदाहरण के तौर पर एक परिवार के सभी सदस्यों के बीच विचारों या

उद्देश्यों की समानता ही परिवार का मुख्य आधार होती है, इसके बिना परिवार का विघटन हो सकता है।

(2) समाज में असमानता - समाज में समानता और भिन्नता दोनों ही पाई जाती हैं। यह भिन्नता कई रूपों में दिखाई देती है जैसे व्यक्ति - व्यक्ति के बीच योग्यताओं, कार्यक्षमता, विचारों, इच्छाओं, आकांक्षाओं, शारीरिक-बनावट और लैंगिक-भिन्नता (स्त्री-पुरूष) का पाया जाना इसका प्रमाण है। इस असमानता के कारण समाज में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण उत्पन्न होता है जो समाज की प्रगति में अपना योगदान देता है। भिन्न-भिन्न प्रकृति, योग्यता, क्षमता तथा विचार वाले लोगों के बीच लगातार होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा ही समाज का अस्तित्व बना रहता है।

3- समाज में सहयोग और संघर्ष - सहयोग और संघर्ष प्रत्येक समाज में सदैव चलने वाली प्रक्रियाओं के रूप में मिलते हैं।

(1) सहयोग - प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक जीवन सहयोग पर आधारित है।

(2) संघर्ष - यह भी समाज के लिए सहयोग के जितना ही महत्त्वपूर्ण है। अनेक लोगों के बीच शारीरिक एवं वैयक्तिक भिन्नताओं, सांस्कृतिक-भिन्नताओं, स्वार्थों के टकराने और तेजी से होने वाले सामाजिक परिवर्तनों के कारण 'संघर्ष' उत्पन्न होता है। कार्ल-मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण माना है। आर्थिक-शोषण से मुक्ति पाने और सामाजिक अन्याय का विरोध करना एवं उसके लिए लड़ना, यह सब सामाजिक संघर्ष के द्वारा किया जाता है। सामाजिक संघर्ष हिंसक, और अहिंसक दोनों तरीकों से किया जा सकता है।

4- पारस्परिक निर्भरता - व्यक्ति को अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरे व्यक्तियों या समूहों की आवश्यकता होती है। इसके लिए व्यक्ति को अन्य के साथ अपनी आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सामाजिक संबंध विकसित करने होते हैं और जिसके लिए वह एक तरह उन पर निर्भर भी होता है। मानव-समाज में समानता, सौहार्द तथा भाई-चारे की भावना के पैदा होने का कारण 'पारस्परिक-निर्भरता' ही है। वर्तमान में जटिल समाजों के बनने बाद श्रम-विभाजन बढ़ गया है। जिसके कारण व्यक्तियों और समाज के अनेक अंगों के बीच एक-दूसरे पर निर्भर होने की प्रवृत्ति में भी और बढ़ोत्तरी हो गई है। जैसे विवाह समारोह की व्यवस्था

करने के लिए परिवार को बैंकट हॉल, मंडप-निर्माण, भोज का आयोजन आदि अनेक कार्यों हेतु विभिन्न व्यक्तियों का सहयोग लेना पड़ता है, उन पर निर्भरता बढ़ती है।

5- समाज अमूर्त है - समाज केवल व्यक्तियों का समूह मात्र न होकर उनके बीच उत्पन्न सामाजिक संबंधों का एक जाल है। सामाजिक संबंधों को न तो आंखों द्वारा देखा जा सकता है, न उनका स्पर्श किया जा सकता है। वह तो निराकार हैं, अमूर्त हैं, इनको केवल अनुभव किया जा सकता है। विभिन्न अवसरों और परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करना चाहिए यह हमें परिवार, गांव या शहर में रहकर अनुभव द्वारा ही समझ में आता है। सामाजिक संबंधों को मूर्त रूप में न देखकर उसे सामाजिक सदस्यों के बीच होने वाले व्यवहार और भावात्मक एकता द्वारा समझा जा सकता है।

6- समाज सतत् परिवर्तनशील है - समाज में व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक संबंध स्थिर नहीं रहते हैं, अनेकानेक कारणों के प्रभाव से उनमें परिवर्तन आता रहता है। परिवर्तन समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो कि बाहरी परिस्थितियों के बदलने पर और भी तेजी से होता है। समय बीतने के साथ जनसंख्या बढ़ती है जिससे लोगों की जरूरतें, इच्छाएं भी बढ़ती हैं। जरूरतें पुराने संबंधों को बदलकर नए सामाजिक संबंधों को बनाती हैं, जैसे कुछ साल पहले तक भारतीय समाज में पति-पत्नी के जो संबंध थे वह अब बदले स्वरूप में हैं। जहां पहले भारतीय नारी पति को परमेश्वर मानकर उसे पूजती थी, वहीं आज वह उसे अपने समान मनुष्य मानकर उसे जीवन-साथी मानती है।

जॉनसन द्वारा प्रदत्त समाज की विशेषताएं

आज समाजशास्त्र के अंतर्गत 'समाज' का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने मैकाइवर और पेज द्वारा परिभाषित 'समाज सामाजिक संबंधों का जाल' को अस्वीकार कर दिया। क्योंकि सामाजिक संबंध अमूर्त हैं। मैकाइवर और पेज की यह परिभाषा बहुत पुरानी हो गई है। आज समाजशास्त्र की परिभाषा मूर्त रूप में दी जा रही है। एच.एम. जॉनसन ने समाज को मूर्त रूप में परिभाषित करते हुए समाज का निर्माण चार तत्त्वों द्वारा माना है। यह चार तत्व इस प्रकार हैं:-

1- निश्चित - क्षेत्र

2- काम - प्रजनन

3- विस्तृत - संस्कृति

4- स्वतंत्रता

इन विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:-

1- निश्चित -क्षेत्र - जहां तक एक समाज-विशेष के सदस्य फैले हुए होते हैं, वहां तक समाज की सीमा होती है। जोकि प्रत्येक समाज का अपना एक निश्चित क्षेत्र होता है।

2- काम-प्रजनन - समाज की वृद्धि और उसके विकास के लिए नए-नए सदस्यों की आवश्यकता रहती है जोकि समाज की निरंतरता को बनाए रखने के लिए जरूरी भी है। यह निरंतरता प्रजनन के द्वारा संभव होती है। अतः प्रजनन एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक विशेषता है। इस प्रक्रिया के न होने पर समाज निश्चित रूप से जल्दी समाप्त हो जाएगा। समाज में नए सदस्यों का प्रवेश कई माध्यमों द्वारा किया जा सकता है जैसे उपनिवेशवाद, गोद लेने की प्रथा, सामान्य विस्तार और अप्रवासन। हालांकि यह ऐसे बड़े कारक नहीं हैं जो समाज को लंबे समय तक चलाते रह पाएं। इसके लिए प्रभावी तरीका प्रजनन ही है।

3-विस्तृत-संस्कृति- हर एक वृहत संस्कृति के अंतर्गत कुछ छोटी छोटी उपसंस्कृति होती हैं जैसे भारत में तमिल, पंजाबी , गुजराती संस्कृति इत्यादि जैसी कई उपसंस्कृति मौजूद हैं। ये सभी छोटी-छोटी संस्कृतियां वृहद संस्कृति की पूरक संस्कृति हैं।

4- स्वतंत्रता - समाज का अपना एक अलग और स्वतंत्र अस्तित्व होता है। यदि किसी राज्य के ऊपर दूसरे राज्य का अधिकार हो, राजनीतिक-आर्थिक नियंत्रण हो, तब भी समाज स्वतंत्र रह सकता है। जैसे जब भारत अंग्रेजों का एक उपनिवेश था, तब भी भारतीय समाज एक स्वतंत्र समाज ही था। यहां स्वतंत्रता का अर्थ 'आत्मनिर्भरता' से भी लिया गया है। समाज की संरचना इस प्रकार की होती है कि वह अपने-आप में पूर्ण होता है और उसके सदस्यों के लिए यह जरूरी नहीं होता कि वे समाज से बाहर जाकर अंतर्कियाकरें।

बोध प्रश्न-1

i) समाज अमूर्त है – सत्य /असत्य

.....

.....

5.4 समाज एवं एक समाज

सामान्य शब्दों में लोग समाज तथा एक समाज दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में करते है, किंतु समाजशास्त्र में इन दोनों शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं अपितु दोनों में पर्याप्त अंतर पाया जाता है। समाज तो सामाजिक संबंधों का ताना बाना या जाल है। क्योंकि सामाजिक संबंध अमूर्त हैं अतः इन संबंधों के जाल द्वारा निर्मित समाज भी अमूर्त है। समाज शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया जाता है जबकि एक समाज शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट समाज के लिए किया जाता है, जिसकी निश्चित भौगोलिक सीमाएं है तथा जो अन्य समाजों से भिन्न है। उदाहरण के लिए- भारतीय समाजए अमेरिकी समाजए फ्रांसीसी समाज इत्यादि एक समाज के ही उदाहरण हैं-

रियूटर तथा जिंसबर्ग की एक समाज की परिभाषा से समाज एवं एक समाज में अंतर और अधिक स्पष्ट हो जाता है। रियूटर के अनुसार एक समाज पुरूषों, स्त्रियों तथा बच्चों का स्थायी तथा निरंतर चलने वाला समूह है जिसमें लोग स्वतंत्र रूप से सांस्कृतिक स्तर पर अपनी प्रजाति को जीवित एवं स्थायी रखने में समर्थ होते है। एक समाज में मनुष्य अपना सामान्य जीवन व्यतीत करता है।

जिंसबर्ग के अनुसार एक समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं संबंधों अथवा व्यवहारों के तरीकों द्वारा संगठित है और जो उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इन संबंधों से नहीं बंधे हैं अथवा जो उनसे भिन्न व्यवहार करते हैं।

सभी एक समाज एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। प्रत्येक एक समाज के एक मूल्य, आदर्श तथा कार्यपद्धति होती है। एक समाज का एक और आवश्यक तत्व है- निश्चित भू-भाग जिसके कारण समानता की भावना का जन्म होता है। समाज तथा एक समाज में निम्नलिखित अंतर पाए जाते हैं-

1. समाज सामाजिक संबंधों का जाल है जिसमें सामाजिक संबंधों की संपूर्ण व्यवस्था पाई जाती है जबकि एक समाज व्यक्तियों का समूह है जिसमें संबंध विशेषीकृत होते हैं।

2. समाज संबंधों का जाल होने के कारण अमूर्त है, जबकि एक समाज व्यक्तियों का समूह होने के नाते मूर्त है।

3. समाज शब्द का प्रयोग विस्तृत क्षेत्र के लिए होता है तथा यह एक समाज से जटिल होता है, जबकि एक समाज का प्रयोग सीमित क्षेत्र के लिए होता है तथा यह अपेक्षाकृत सरल संगठन होता है।

4. समाज के सदस्यों में व्यवहारों, मनोवृत्तियों और क्रियाओं का एक होना आवश्यक नहीं वरन् इनमें भिन्नता पाई जाती है। एक समाज के सदस्यों में समानता का कुछ न कुछ होना आवश्यक है, अन्यथा एक समाज का अस्तित्व ही नहीं होगा।

5. समाज को भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत नहीं बांधा जा सकता। इसके विपरीत एक समाज को भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत बांधा जा सकता है।

6. समाज बहुसांस्कृतिक होता है अर्थात् उसमें एक ही समय पर एक से अधिक संस्कृतियां विद्यमान होती हैं। इसके विपरीत एक समाज में प्रायः एक ही संस्कृति विद्यमान होती है।

बोध प्रश्न -2

i)समाज और एक समाज के बीच चार पंक्तियों में अंतर स्पष्ट कीजिए

.....

.....

.....

.....

.....

5.5 मानव एवं पशु समाज

मनुष्य समाज में रहते है परंतु यह तथ्य अत्यंत महत्वपूर्ण है कि समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु पशुओं में भी समाज पाया जाता है। अनगिनत अन्य जीव जैसे चींटिया दीमक, मधुमक्खी, बंदर, लंगूर आदि में भी समाज पाया जाता है। विकास के जीवशास्त्रीय

सिद्धांतके अनुसार मानव का विकास निम्न जीवधारियों में क्रमिक परिवर्तन से हुआ है। परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मानव तथा पशु समाज एक ही है। मानव और पशु समाज में अत्यधिक अंतर पाया जाता है। मानव समाज को पशु समाज से भिन्न करने वाला सबसे प्रमुख आधार संस्कृति है। संस्कृति मानव समाज को एक अनुपम समाज बना देती है, जबकि पशु समाज में संस्कृति नहीं पाई जाती।

प्रत्येक समाज को चाहे वह मानव समाज है या पशु समाज अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए कुछ अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। आवश्यकता से तात्पर्य समाज के अस्तित्व की अनिवार्य दशाओं से है। समाज को प्रत्येक वस्तु की भांति अपने अस्तित्व के लिए कुछ दशाओं की आवश्यकता होती है। इन आवश्कताओं की रूपरेखा किंग्सले डेविस ने निम्नलिखित प्रकार से दी है-

1. जनसंख्या का प्रतिपालन

अ पोषण का प्रबंध

ब क्षति के विरूद्ध संरक्षण तथा

स नए जीवों का पुनरूत्थान

2. जनसंख्या के बीच कार्य विभाजन

3. समूह का संगठन

अ सदस्यों के बीच संपर्क की प्रेरणा

ब पारस्परिक सहिष्णुता की प्रेरणा

4. सामाजिक व्यवस्था की निरंतरता

5.6 सारांश

हम सब लोग समाज में रहते हैं,समाज के बिना हमारा जीवन संभव नहीं इसलिए यह भी कहा जाता है कि जहां जीवन है, वहां समाज भी है , वास्तव में व्यक्ति एक दूसरे के साथ सामाजिक संबंध

स्थापित करते हैं इनमें ही समूहों एवं समाज का निर्माण होता है समाज का अध्ययन होने के नाते समाज समाजशास्त्र की सर्वाधिक प्रमुख एवं प्राथमिक अवधारणा मानी जाती है

5.7 पारिभाषिक शव्दावली

समाज- सामाजिक संबंधों के ताने –बाने को समाज कहते हैं

एक समाज- वह शब्द जिसका प्रयोग ,किसी विशिष्ट समाज के लिए किया जाता है

5.8 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न-1

i) सत्य

बोध प्रश्न -2

उत्तर के लिए देखिए 5.4

5.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Bottomore, T.B., Sociology

2. Berger, Peter, Invitation to Sociology, Doubleday, New York, 1963.

3. Mills, C.k., Wright, Sociological Imagination, Oxford, New York, 1959.

4. Forands, Abraham, Sociological Thoughts, Macmillan India, Delhi, 1985.

5. पी0 एच0 प्रभु: हिंदू समाज की व्यवस्था

6. राम अहूजा: भारतीय समाज

5.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के. , 1967, कल्चर एंड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

पी0 एच0 प्रभु: हिंदू समाज की व्यवस्था

राम अहूजा: भारतीय समाज

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.समाज क्या है 'समाज' एवं 'एक समाज' में अंतर स्पष्ट कीजिए?

इकाई 6-समुदाय

Community

इकाई की रूपरेखा

6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 समुदाय-अर्थ व परिभाषा

6.3 समुदाय के आधार

6.3.1 सामुदायिक भावना के आवश्यक तत्व

6.4 समुदाय की प्रमुख विशेषताएं

6.4.1 सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरण

6.5 सारांश

6.6 पारिभाषिक शब्दावली

6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

6.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.10 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

व्यक्ति समुदाय में रहकर ही अपना सामान्य जीवन व्यतीत करता है। उदाहरण के लिए हम जिस गांव या नगर में रहते हैं। वह समुदाय ही है। सामान्य शब्दों में व्यक्तियों के किसी भी संगठन को

समुदाय कह दिया जाता है। परंतु यह ठीक नहीं है। समाजशास्त्र में समुदाय शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। केवल व्यक्तियों का समूह ही समुदाय नहीं है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जोकि किसी निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं। समुदाय में न केवल सदस्यों का सामान्य जीवन व्यतीत होता है,अपितु उनमें समुदायिक भावना भी पाई जाती है। यह भावना समुदाय को समिति से भिन्न करती है। समुदाय के बारे मे बोगाडर्स कहते हैं कि 'समुदाय का विचार पड़ोस से आरंभ होकर संपूर्ण विश्व तक पहुंच जाता है' उदहारण के लिए बचपन मैं एक बच्चा जब पड़ोस के साथियों के साथ खेलता है और दूसरे क्षेत्र के बच्चे के विरुद्ध अपने आप को संगठित करता है तब पड़ोस ही उसका समुदाय बन जाता है अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जब गांव के दूसरे हिस्से पर भी निर्भर होने लगता है तब पूरा गांव उसका समुदाय बन जाता है

समाजशास्त्र के क्षेत्र में समुदाय की अवधारणा के विकास में टॉनिज, दुर्खीम, लुईस वर्थ, रॉबर्ट रेडफील्ड और मेकाइवर का योगदान उल्लेखनीय है। मनुष्य किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है। किसी भी एक समुदाय में जीवन बिताया जा सकता है इस दृष्टिकोण से आवश्यक है की समुदाय की विस्तारपूर्वक विवेचना की जाए

6.1 उद्देश्य

समुदाय, समूह, समिति एवं संस्था की अवधारणाएं समाजशास्त्र की मूल अथवा प्राथमिक अवधारणाएं मानी जाती हैं जिनको समझे बिना इस विषय का ज्ञान अधूरा माना जाता है। इस इकाई का उद्देश्य समुदाय की अवधारणाओं को समझाना है।

6.2 समुदाय का अर्थ व परिभाषा

शाब्दिक दृष्टिकोण से समुदाय अंग्रेजी के community का रूपांतरण है community शब्द लेटिन भाषा के दो शब्द 'Com' तथा ' Munis' से मिलकर बना है Com का अर्थ है साथ-साथ तथा Munis का अर्थ है सेवा करना इस प्रकार एक साथ मिलकर काम करने वाले व्यक्तियों के समूह को समुदाय कहा जा सकता है। किसी भी अवधारणा को उदहारण के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है । समुदाय का प्रयोग हम किसी बस्ती, गांव, शहर, जनजाति के लिए करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब एक विशेष क्षेत्र में रहने वाले लोग एक दूसरे से किसी स्वार्थ

के कारण संबंधित नहीं होते बल्कि उसी क्षेत्र में अपना सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं, तब लोगों के इस छोटे या बड़े समूह को समुदाय कहा जाता है।

किंग्सले डेविस के अनुसार, "समुदाय वह सबसे छोटा क्षेत्रीय समूह है जिसके अंदर सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ जाते हैं।"

बोगॉर्ड्स का कथन है कि "समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ सीमा तक हम की भावना होती है तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में निवास करते हैं।"

लिंडमेन ने समुदाय के संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक दोनों पहलुओं पर जोर दिया है वे लिखते हैं:

यदि हम समुदाय के स्पष्ट तत्वों की परिभाषा दें तो यह एक जागरूकता से बनाया गया संघ है जो कि एक निश्चित क्षेत्र या बस्ती में रहता है। इसके पास सीमित राजनीतिक अधिकार होता है और यह सामाजिक संस्थाओं जैसे स्कूल, मंदिर, गिरजाघर आदि पर देखरेख रखता है।

समुदाय के प्रकार्यात्मक पहलुओं का उल्लेख करते हुए लिंडमेन आगे लिखते हैं:

यदि हम मनुष्य के अस्पष्ट तत्वों की परिभाषा दें तो यह सामाजिक अंतर्कियाओं की एक प्रक्रिया है जो कि अधिक गहरी या विस्तृत धारणाओं को पैदा करती है, जिसमें पारस्परिक निर्भरता (सहकारिता) सहयोग और एकीकरण होते हैं। उपरोक्त परिभाषाओं से समुदाय के संबंध में दो तथ्य बहुत स्पष्ट हैं:

1. समुदाय व्यक्तियों का एक संगठन है जो कि एक निश्चित भू-भाग में स्थित होता है।

2. अस्पष्ट रूप से समुदाय सामाजिक अंतर्कियाओं – सहयोग, संघर्ष, संपर्क आदि की एक प्रक्रिया है। यह समुदाय का क्रियात्मक रूप है।

समुदाय की व्याख्या लिंडमेन के अतिरिक्त कई अन्य समाजशास्त्रियों ने भी की है। उदाहरण के लिए ऑर्गबर्न एवं निमकॉफ ने समुदाय को एक 'सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन' से परिभाषित किया है। मेंजर ने समुदाय की परिभाषा में भू-भाग पर अधिक जोर दिया है। वह समाज जो किसी निश्चित भौगोलिक स्थान पर रहता है, समुदाय कहा जाता है। इस तरह समुदाय में जहां लोग एक निश्चित भू-भाग में रहते हैं वहीं उनमें कुछ निश्चित सामाजिक प्रक्रियाएं और संस्थाएं भी होती हैं। समुदाय जहां एक संरचना है वहीं एक प्रक्रिया भी है।

ग्रीन के अनुसार "समुदाय व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो एक छोटे क्षेत्रीय घेरे में रहता है तथा जिसके सदस्यो के जीवन का एक सामान्य ढंग होता है।"

6.3 समुदाय के आधार या तत्व

मैकाइवर एवं पेज ने समुदाय के निम्नलिखित दो आवश्यक तत्व बताए हैं-

1. **स्थानीय क्षेत्र** - समुदाय के लिए एक अत्यंत आवश्यक तत्व निवास-स्थान या स्थानीय क्षेत्र का होना है। उसकी अनुपस्थिति में समुदाय जन्म नहीं ले सकता। क्षेत्र में निश्चितता होने के कारण ही वहां रहने वाले सदस्यों के मध्य घनिष्टता, सहनशीलता तथा सामंजस्यता की भावना जाग्रत होती है।

2. **सामुदायिक भावना -** सामुदायिक भावना की अनुपस्थिति में समुदाय की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सामुदायिक भावना को हम की भावना भी कहा जाता है। इस भावना का जन्म होने के कारण एक निश्चित क्षेत्र के सदस्यों के कार्य करने का सामान्य ढंग तथा प्रत्येक सदस्य का एक दूसरे का सुख व दुख से परिचित होना है। दूसरे की खुशी उनकी खुशी व दूसरे का दुख उनका स्वयं का दुख होता है। वे अनुभव करते हैं कि हम एक हैं। वस्तुतः यह एक ऐसी भावना है जो समुदाय के दूर चले जाने के बाद भी बनी रहती है।

किंग्सले डेविस ने भी समुदाय के दो आधारभूत तत्वों का विवेचन किया है-

1. **प्रादेशिक निकटता** - सदैव ही कुछ स्थानों पर आवासों के समूह पाए जाते हैं, किसी दूसरे समूह के व्यक्तियों की तुलना में व्यक्ति अपने समूह में ही अंतर्क्रिया करना सरल समझते हैं।

निकटता संपर्क को सुगम बनाती है। यह सुरक्षा की भावना भी प्रदान करती है तथा समूह के संगठन को सुविधाजनक बनाती है। बिना प्रादेशिक निकटता के किसी भी समुदाय की कल्पना नहीं की जा सकती है।

2. **सामाजिक पूर्णता -** डेविस के अनुसार समुदाय सबसे छोटा प्रादेशिक समूह है। यह सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओं का आलिंगन करता है। यह उन समस्त विस्तृत संस्थाओं, समस्त दलों तथा रूचियों को सम्मिलित करता है जो समाज का निर्माण करती हैं। व्यक्ति अपना अधिकांश सामाजिक जीवन समुदाय में ही व्यतीत करता है।

6.3.1 सामुदायिक भावना के आवश्यक तत्व -

सामुदायिक भावना के प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं-

1. **हम की भावना** - यह सामुदायिक भावना का प्रमुख अंग है। इस भावना के अंतर्गत सदस्यों में "मैं'' की भावना नहीं रहती है। लोग मानते हैं कि यह हमारा समुदाय है, हमारी भलाई इसी में है या यह हमारा दुःख है। सोचने तथा कार्य करने में भी हम की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। इसके कारण सदस्य एक दूसरे से अपने को बहुत समीप मानते हैं। इसी भावना के आधार पर कुछ वस्तुओं स्थानों व व्यक्तियों को अपना माना जाता है व उनके साथ विशेष लगाव रहता है। यह भावना सामान्य भौगोलिक क्षेत्र में लंबी अवधि तक निवास करने के कारण विकसित होती है।

2. **दायित्व की भावना -** सदस्य समुदाय के कार्यों को करना अपना दायित्व समझते हैं। वे अनुभव करते हैं कि समुदाय के लिए कार्यों को करना, उनमें हिस्सा लेना, दूसरे सदस्यों की सहायता करना आदि उनका कर्तव्य एवं दायित्व है। इस प्रकार सदस्य समुदाय के कार्यों में योगदान की भावना रखते हैं।

3. **निर्भरता की भावना** - समुदाय के प्रत्येक सदस्य के अस्तित्व को स्वीकार करता है। वह स्वीकार करता है कि वह दूसरे सदस्यों पर निर्भर करता है। सदस्य का स्वयं का अस्तित्व समुदाय में

पूर्णतः मिल जाता है। यह बिना समुदाय के अपना अस्तित्व नहीं समझता है। अन्य सब्दों में सदस्य समुदाय पर ही निर्भर रहता है।

6.4 समुदाय की प्रमुख विशेषताएं

समुदाय की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **व्यक्तियों का समूह** - समुदाय निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों का मूर्त समूह है। समुदाय का निर्माण एक व्यक्ति से नहीं हो सकता अपितु समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह होना आवश्यक है।

2. **सामान्य जीवन -** प्रत्येक समुदाय में रहने वाले सदस्यों का रहन-सहन भोजन का ढंग व धर्म सभी काफी सीमा तक सामान्य होते है। समुदाय का कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं होता है। समुदाय के सदस्य अपना सामान्य जीवन समुदाय में ही व्यतीत करते हैं।

3. **सामान्य नियम -** जिंसबर्ग ने इस समुदाय की प्रमुख विशेषता माना है। समुदाय के समस्त सदस्यों के व्यवहार सामान्य नियमों द्वारा नियंत्रित होते हैं। जब सभी व्यक्ति सामान्य नियमों के अंतर्गत कार्य करते हैं तब उनमें समानता की भावना का विकास होता है। यह भावना समुदाय में पारस्परिक सहयोग की वृद्धि करती है।

4. **विशिष्ट नाम -** प्रत्येक समुदाय का कोई न कोई नाम अवश्य होता है। इसी नाम के कारण ही समुदायिक एकता का जन्म होता है। समुदाय का नाम ही व्यक्तियों में अपनेपन की भावना को प्रोत्साहित करता है।

5. **स्थायित्व** - समुदाय चिरस्थायी होता है। इसकी अवधि व्यक्ति के जीवन में लंबी होती है। व्यक्ति समुदाय में जन्म लेते हैं, आते हैं तथा चले जाते हैं, पंरतु इसके बावजूद समुदाय का अस्तित्व बना रहता है। इसी कारण यह स्थायी संस्था है।

6. स्वतः जन्म - समुदाय को विचारपूर्वक किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु निर्मित नहीं किया जाता है। इसका स्वतः विकास होता है। जब कुछ लोग एक स्थान पर रहने लगते हैं तो अपनेपन की भावना का जन्म होता है। इससे समुदाय के विकास में सहायता मिलती है।

7. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र - समुदाय का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समुदाय के सभी सदस्य निश्चित भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत ही विकास करते हैं।

8. **अनिवार्य सदस्यता -** समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करती। व्यक्ति जन्म से ही उस समुदाय का सदस्य बन जाता है। जिसमें उसका जन्म हुआ है। सामान्य जीवन के कारण समुदाय से पृथक् रहकर व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती है।

9. **सामुदायिक भावना** -सामुदायिक भावना ही समुदाय की नींव है। समुदाय के सदस्य अपने हितों की पूर्ति के लिए ही नहीं सोचते। वे संपूर्ण समुदाय का ध्यान रखते हैं। हम की भावना, दायित्व तथा निर्भरता की भावना है जोकि सामुदायिक भावना के तीन तत्व है, समुदाय के सभी सदस्यों को एक सूत्र में बांधने में सहायता देता है।

10. **आत्म निर्भरता -** सामान्य जीवन व आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण समुदाय में आत्म निर्भरता पाई जाती है। प्राचीन समाजों में समुदाय काफी सीमा तक आत्म निर्भर थे, परंतु आज यह विशेषता प्रायः समाप्त हो गई है।

बोध प्रश्न-1

i) किसी एक परिभाषा की सहायता से समुदाय की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए**?**

.....

.....

.....

.....

.....

ii) समुदाय की किन्हीं दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

6.4.1 सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरण -

गांव, कस्बा, कोई नई बस्ती, नगर, राष्ट्र एवं राजनीति के क्षेत्र जो कि एक निश्चित क्षेत्र में निवास करती है इत्यादि समुदाय के प्रमुख उदाहरण हैं। इनमें समुदाय के लगभग सभी आधारभूत तत्व तथा विशेषताएं पाई जाती हैं। परंतु कुछ ऐसे समूह अथवा संगठन भी हैं, जिनमें समुदाय की कुछ विशेषताएं तो पायी जाती है परन्तु कुछ नहीं। ऐसे समूहों को सीमावर्ती समुदायों की संज्ञा दी जाती है। समुदाय की कुछ विशेषताएं न होने के कारण इन्हें पूरी तरह समुदाय नहीं माना जा सकता है। जाति, जेल, पड़ोस तथा राज्य सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण हैं। ये समुदाय तो नहीं है परंतु समुदाय की कुछ विशेषताओं का इनमें समावेश होने के कारण इनके समुदाय होने का भ्रम उत्पन्न होता है। अब हम ऐसे सीमावर्ती समुदायों पर विचार करें।

1. **क्या जाति एक समुदाय है?**- जाति व्यवस्था भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। जाति एक अंतर्विवाही समूह है। इसकी सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है। विभिन्न जातियों की स्थिति एक समान नहीं होती। इनमें ऊंच नीच का एक स्वीकृत क्रम होता है। इनमें एक जाति द्वारा दूसरी जाति से संपर्क की स्थापना को स्पर्श, सहयोग, भोजन, निवास आदि के प्रतिबंधों द्वारा बहुत सीमित कर दिया जाता है। परंतु जाति में प्रत्येक समुदाय की विशेषताएं जैसे अनिवार्य सदस्यता आदि होने के बावजूद इसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। जाति का कोई निश्चित भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता अर्थात एक ही जाति के सदस्य एक स्थान पर नहीं रहते अपितु अनेक

क्षेत्रों व प्रदेशों में रहते हैं। उसमें सामुदायिक भावना का भी अभाव पाया जाता है। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र न होने के कारण इसमें व्यक्तियों का सामान्य जीवन भी व्यतीत नहीं होता है। अतः जाति को एक समुदाय नहीं कहा जा सकता है।

2. **क्या पड़ोस एक समुदाय है?** -आज पड़ोस समुदाय नहीं है। पहले पड़ोस में हम की भावना, आश्रितता की भावना इत्यादि समुदाय के लक्षण पाए जाते थे। इसीलिए कुछ विद्वान पड़ोस को एक समुदाय मानते थे। परंतु आज जटिल समाजों में अथवा नगर राज्य प्रकृति वाले समाजों में पड़ोस समुदाय नहीं है। इसमें न ही तो सामुदायिक भावना पाई जाती है, न ही सामान्य नियमों की कोई व्यवस्था ही। पड़ोस का विकास भी समुदाय की भांति स्वतः नहीं होता है। अत्यधिक गतिशीलता के कारण पड़ोस में रहने वालों में स्थायीपन का अभाव भी पाया जाता है।

3. **क्या जेल समुदाय है? -** जेल बंदीग्रह को भी समुदाय की अपेक्षा सीमावर्ती समुदाय का उदाहरण माना जाता है। जेल में समुदाय के अनेक लक्षण पाए जाते है। यह व्यक्तियों का समूह है। इसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है, इसके सदस्यों में कुछ सीमा तक हम की भावना पाई जाती है। इसमें रहने के कुछ सर्वमान्य नियम होते हैं तथा इसका एक विषिष्ट नाम होता है। मैकाइवर एवं पेज ने जेल का समुदाय कहा है क्योंकि यह बिहार तथा आश्रम जैसे अन्य समूह प्रादेशिक आधार पर बने होते हैं। वास्तव में ये सामाजिक जीवन के क्षेत्र ही हैं। उन्होंने जेल में कार्यकलापों के सीमित क्षेत्र के तर्क को अस्वीकार कर दिया क्योंकि मानवीय कार्यकलाप ही सदैव समुदाय के प्रकृति के अनुरूप परिणाम होते है। परंतु जेल को समुदाय नहीं माना जा सकता-एक तो कैदियों का इसमें सामान्य जीवन व्यतीत नहीं होता अर्थात् वे सामान्य जीवन में भागीदार नहीं होते हैं। दूसरे, उनमें सामुदायिक भावना का भी अभाव पाया जाता है। तीसरे, जेल का विकास भी स्वतः नहीं होता है। अतः जेल एक समुदाय नहीं है।

4. **क्या राज्य एक समुदाय है?** -राज्य भी व्यक्तियों का समूह है। इसमें समुदाय के अनेक अन्य लक्षण जैसे विशिष्ट नाम निष्चित भौगोलिक क्षेत्र, मूर्त समूह, निमयों की व्यवस्था इत्यादि पाए जाते है। परन्तु राज्य को समुदाय नहीं माना जा सकता है। समुदाय के विपरीत, राज्य के निश्चित उददेश्य होते हैं। राज्य निश्चित उदेश्यो की पूर्ति के लिए बनाया गया समूह है, न कि सामान्य व सर्वमान्य उददेश्यों की पूर्ति के लिए। साथ ही, इसका विकास स्वतः नहीं होता अपितु यह व्यक्तियों के चेतन प्रयासों का परिणाम है।

जाति, पडोस, जेल, बंदीग्रह तथा राज्य की तरह राजनीति दल, धार्मिक संघ, क्लब परिवार इत्यादि भी सीमावर्ती समुदाय के उदाहरण हैं। ये समुदाय तो नहीं हैं परंतु कुछ विशेषताओं के कारण इनके समुदाय होने का भ्रम उत्पन्न होता है। गांव, नगर, शरणार्थियों के कैम्प, जनजाति तथा खानाबदोशी झुण्ड सीमावर्ती समुदाय के प्रमुख उदाहरण माने जाते हैं क्योंकि इनमें समुदाय के आधारभूत तत्व एवं प्रमुख विशेषताएं पाई जाती है।

6.5 सारांश

समाज व्यक्तियों का संकलन मात्र नहीं है, यह व्यक्तियों में पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधो का जाल है क्योंकि सामाजिक संबंध अमूर्त है अत: समाज को भी अमूर्त माना गया है। समुदाय एक ऐसा समूह है जोकि किसी निश्चित भोगोलिक सीमाओं में निवास करता है इसके सदस्यों में सामुदायिक भावना पाए जाती है । समूह में अनेक समूह होते हैं। समाजशास्त्र में समुदाय शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। केवल व्यक्तियों का समूह ही समुदाय नहीं है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है। जोकि किसी निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं। समुदाय में न केवल सदस्यों का सामान्य जीवन व्यतीत होता है,अपितु उनमें समुदायिक भावना भी पाई जाती है। यह भावना समुदाय को समिति से भिन्न करती है।

6.6 पारिभाषिक शब्दावली

समुदाय- किसी सीमित क्षेत्र के अंदर रहने वाले सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है

6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

i) उत्तर के लिए देखिए 6.2

ii) उत्तर के लिए देखिए 6.4

6.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

Bottomore, T.B.,Sociology : A Guide to Problems & Literature, London:Allen & Unwin, 1969.

Bogardus, E.S., Introduction to Sociology, Los Angeles: University of Southern California Press, 1917

Cooley, C.H.,Social Organization, Glencoe :The Free Press, 1962

Davis,Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company,1949

Fairchild, H.P.(ed), Dictionary of Sociology,London:Vision,1958

6.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Cooley, C.H.,Social Organization, Glencoe :The Free Press, 1962

Davis,Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company,1949

Fairchild, H.P.(ed), Dictionary of Sociology,London:Vision,1958

6.10 निबंधात्मक प्रश्न

i) समुदाय की परिभाषा दीजिए समुदाय की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए?

ii) जाति को एक समुदाय क्यों नहीं कहा जा सकता विवेचना कीजिए?

इकाई-7 प्रस्थिति एवं भूमिका

Status & Role

इकाई की रूपरेखा

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्थिति की अवधारणा ,परिभाषा और अर्थ

7.3 प्रस्थिति की विशेषताएं

7.4 प्रस्थिति के प्रकार

7.5 प्रस्थिति का आधार

7.6 प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति में अंतर

7.7 भूमिका की अवधारणा अर्थ एवं परिभाषा

7.8 प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध

7.9 प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्व

7.10 सारांश

7.11 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

7.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

7.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.14 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

समाज की व्याख्या करते ही जो बात सबसे पहले ध्यान आती है वह है समाज का आधार अर्थात सामाजिक संबंध। सामाजिक संबंधों को अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है। ये संबंध क्रमशः माता-पिता का संबंध, वैवाहिक, मित्र, पड़ौस, भाईचारा आदि और इसी तरह के अनेक संबंध सामाजिक संबंधों के व्यापक स्वरूपों को प्रस्तुत करते हैं। समाजशास्त्री मुख्य रूप से इन्हीं संबंधों की व्याख्या अनेक प्रकार से करते हैं। जब हम सामाजिक संबंधों की यथार्थता को समझने का प्रयास करते हैं तो इसके दो आयामों को जानने में हमारी विशेष रुचि होती है, वे प्रस्थिति और भूमिका हैं।

सामाजिक संगठन के निर्माण में समाज के प्रत्येक व्यक्ति का योगदान होता है। योगदान का स्तर भिन्न हो सकता है पर प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित जगह होती है। यही निश्चित स्थान ही प्रस्थिति को दर्शाती है। हर पारस्परिक संबंध में हर व्यक्ति की एक सुपरिभाषित जगह न हो ऐसा असंभव है। कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे को तब तक प्रभावित नहीं कर सकता, जब तक दी गई प्रस्थिति में उसकी प्रस्थिति के साथ-साथ दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों की प्रस्थिति का ज्ञान न हो। इस प्रकार परिवार में पारस्परिक संबंधों एवं भूमिका निर्वहन में कोई परेशानी नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक सदस्य को अपनी व दूसरों की प्रस्थिति की जानकारी होती है। इसी जानकारी के कारण पारस्परिक संबंधों में निरंतरता बनी रहती है और उसका पूर्वानुमान भी रहता है। जब हम कभी किसी अजनबी व्यक्ति से मिलते हैं, तब हमारा प्रयास यह रहता है कि सबसे पहले उसकी प्रस्थिति को जानें। जब तक हमें उसकी प्रस्थिति की जानकारी नहीं होती, तब तक हमें यह स्पष्ट भी नहीं होता है कि उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाए। अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्थिति की विषयवस्तु समझ कर ही पारस्परिक संबंधों की संरचना तैयार होती है। प्रस्थिति के साथ-साथ भूमिका भी सहसंबंधित रहती है। प्रत्येक प्रस्थिति के साथ कुछ कर्त्तव्य व दायित्व जुड़े होते हैं, जब व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप कर्तव्यों का निर्वाह करता है तो उसे ही हम भूमिका कहते हैं। इस अध्याय में हम प्रस्थिति व भूमिका का विस्तार से अध्ययन करेंगे। जिसमें आप प्रस्थिति एवं भूमिका के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेंगे एवं यह जान सकेंगे कि किस प्रकार हमारे जीवन में ये दोनों कारक अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- प्रस्थिति की अवधारणा ,परिभाषा और अर्थ को समझ सकेंगे।
- प्रस्थिति की विशेषताएं का वर्णन कर सकेंगे।
- प्रस्थिति के प्रकार की व्याख्या कर सकेंगे।
- प्रस्थिति का वर्गीकरण कर सकेंगे।
- प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति में अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे।
- भूमिका की अवधारणा अर्थ एवं परिभाषा ज्ञात कर सकेंगे।
- प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध स्थापित कर सकेंगे।
- प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्व समझ सकेगे।

7.2 प्रस्थिति की अवधारणा,परिभाषा और अर्थ

एक व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अनेक पदों पर रहकर अपना कार्य संपादित करता है ,उन्हीं के आधार पर समाज में उस व्यक्ति को एक विशेष पद एवं स्थान प्राप्त होता है । इसी पद को व्यक्ति की 'प्रस्थिति' कहते हैं। प्रस्थिति को समाज में कई नामों से जाना जाता है। आम तौर पर लोग जब प्रस्थिति का प्रयोग करते हैं तो उनका तात्पर्य सामाजिक पद से होता है। प्रत्येक पद के साथ एक या अनेक भूमिकाएं यानी प्रस्थितियां लगी हुई होती हैं। अतः व्यक्ति की प्रस्थिति के अनुरूप व्यक्ति अपनी कार्यों का निर्वहन करता है । यह पद जिसके अनुसार व्यक्ति अपनी कार्यों को संपादित करता है वह व्यक्ति की भूमिका कहलाती है। उदाहरण स्वरूप अध्यापक का पद एक प्रस्थिति है और इससे जुड़े हुए कार्यों का संपादन उसकी भूमिका है। तात्पर्य यह हुआ कि यदि समाज में कार्यों के संपादन हेतु किसी भूमिका यानी कार्य की आवश्यकता होती है तो इसके पीछे कोई न कोई प्रस्थिति या पद अवश्य होते हैं।

भूमिका एवं प्रस्थिति को हम निम्न परिभाषाओं के आधार पर समझ सकते हैं-

मेक्स वेबर ने वर्गों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसमें उन्होंने प्रतिष्ठा समूह की चर्चा की है। इससे उनका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रस्थिति का समाज या समूह द्वारा खुला और निर्भीक मूल्यांकन होता है। इसमें कुछ प्रस्थितियां समाज द्वारा ऊंची हैं और ठेला चलाने वाले मजदूर की प्रस्थिति निम्न। इसे ध्यान में रखते हुए किंबाल यंग लिखते हैं: प्रत्येक समाज तथा समूह में व्यक्ति को कुछ कार्यों को संपन्न करना होता है। इन कार्यों के साथ शक्ति और प्रतिष्ठा जुड़े होते हैं। शक्ति तथा प्रतिष्ठा की जिस मात्रा का हम प्रयोग करते हैं, वही उसकी प्रस्थिति है। किंबाल यंग जो एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक हैं प्रस्थिति की व्याख्या विशुद्ध रूप में करते हैं। उनका कहना है कि प्रस्थिति के साथ में प्रतिष्ठा भी जुड़ी हुई होती है।

हेरी एम. जॉनसन का मत है कि ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक पद (प्रस्थिति) के दो अंग हैं: एक आभारों (भूमिका) से आवेष्ठित और दूसरा अधिकारों से आवेष्ठित। एक व्यक्ति सामाजिक पद को तब धारण करता है जब सामाजिक प्रणाली में उसके कुछ आभार (भूमिका) हो और तत्संबंधित कुछ अधिकार हों। सामाजिक पद के इन दो अंगों को हम उनकी भूमिका और प्रस्थिति कहेंगे। भूमिका आभारों को ज्ञापित करेगी और प्रस्थिति उसके अधिकारों को। जॉनसन और सभी समाजशास्त्री इस अर्थ में सामाजिक प्रस्थिति के साथ भूमिका को जोड़ते हैं।

राल्फ लिंटन ने प्रस्थिति की व्याख्या कुछ इसी प्रकार की है। उनका कहना है कि व्यक्ति को किसी एक निश्चित समय में समाज में जो स्थान दिया गया है, वह उसकी प्रस्थिति है। व्यापारी, अध्यापक, पिता, ग्राहक आदि प्रस्थितियां हैं। लिंटन इसकी परिभाषा इस तरह करते हैं: किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था में कोई व्यक्ति एक निर्दिष्ट समय में जो स्थान प्राप्त करता है, उस व्यवस्था के अनुसार वह उस प्रस्थिति की ओर संकेत करता है।

किंग्सले डेविस ने भी प्रस्थिति की परिभाषा दी है। उनका कहना है कि समाज में व्यक्तियों की कई आवश्यकताएं होती हैं। उदाहरण के लिए उसकी बुनियादी आवश्यकताओं में रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य हैं। इन बुनियादी आवश्यकताओं के अतिरिक्त ढेरों आवश्यकताएं और हैं और इन सबकी पूर्ति के लिए कई प्रस्थितियां होती हैं। डेविस इसी संदर्भ में प्रस्थिति की व्याख्या करते हुए लिखते हैं: प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थागत व्यवस्था में किसी पद की भूमिका है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण स्वतः ही हुआ है व जो जनरीतियों और रूढ़ियों से संबद्ध है।

डेविस के अनुसार प्रस्थितियों का उदगम समाज की आवश्यकताओं से है। रूढ़िगत समाजों में तो प्रस्थिति व्यक्ति को परंपरा से मिलती है लेकिन औद्योगिक तथा पूंजीवादी समाजों में व्यक्ति स्वयं अपनी प्रस्थिति का वरण करता है।

7.3 प्रस्थिति की विशेषताएं

परिस्थिति की विशेषताओं को इन सन्दर्भों में समझा जाता है-

- **प्रस्थितियां समाज की आवश्यकताओं का परिणाम हैं**: ट्रोबियंड टापू में रहने वाले आदिवासी नावों में बैठकर मछलियों का शिकार करने जाते हैं। मेलिनोस्की बताते हैं कि इन आदिवासियों को समुद्र में कई खतरे उठाने पड़ते हैं। उन्हें डर लगता रहता है कि कभी भी समुद्र की तूफानी लहरें कहीं उनकी नाव को ही न निगल जाएं। इस भय से बचने के लिए वे उन जादूगरों की तलाश करते हैं जो किसी भी खतरे से बचने के लिए नाव को जादू-टोने से बांध दें। यहां समाज की आवश्यकता जादू-टोना करने वाले जादूगरों की प्रस्थिति को तैयार करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज में जितनी भी प्रस्थितियां हैं वे सब समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समाज की आवश्यकताएं समय के फेरे के साथ समाप्त हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उससे जुड़ी हुई प्रस्थिति भी इतिहास की वस्तु हो जाती है।
- **प्रस्थिति सापेक्षिक होती है**: अपने आप में किसी भी प्रस्थिति का कोई महत्व नहीं है। यह हमेशा सापेक्षिक होती है। सापेक्षिक इसलिए कि प्रस्थिति से जुड़े हुए कार्यों का संबंध समाज और उसके समूहों के साथ होता है। चिकित्सक की प्रस्थिति बीमारों से जुड़ी है। यदि बीमार नहीं हुए तो चिकित्सक किस मतलब का। अध्यापक की प्रस्थिति का महत्व कमजोर हो जाता है जब पढ़ने वाले विद्यार्थी नहीं होते। कोई भी प्रस्थिति अपने स्वयं में अर्थहीन है। उसका महत्व तभी बनता है जब उसके उपभोक्ता हों। किसी गांव में तीन सितारा होटल का महत्व अप्रासंगिक है, इसलिए कि गांव के लोग ऐसे होटल में खाने-पीने की आदत नहीं रखते। तथ्यपूर्ण बात यह है कि कोई भी प्रस्थिति तभी महत्वपूर्ण होती है, जब उससे जुड़े हुए कार्य (भूमिका) अन्य प्रस्थितियों के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। इसी अर्थ में प्रस्थिति की विशेषता सापेक्षिक है।

- **प्रस्थिति समाज के स्तरीकरण की द्योतक है**: यह सामान्य बात है कि जिन समाजों में श्रम विभाजन बहुत सामान्य होता है, उनमें प्रस्थितियां न्यूनतम होती हैं। नगर जितना महानगर होगा, शहर जितना औद्योगिक और पूंजीवादी होगा, प्रस्थितियां उतनी ही अधिक होंगी। यह महानगरों में ही है कि चिकित्सा के क्षेत्र में अनेकानेक विशिष्ट चिकित्सक होते हैं। कोई चिकित्सक कान, नाक, गले का विशिष्ट चिकित्सक है। कोई दिल का और कोई आंखों या हड्डियों का। सामान्य समाज में विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने वाले लोग हरफन मौला होते हैं, उस्ताद नहीं। शहरों की प्रस्थितियां विशिष्टता लिए हुए होती हैं। यह प्रस्थितियों की विभिन्नता के कारण ही है कि समाज का स्तरीकरण अधिक पैना हो जाता है।
- **प्रस्थिति के साथ प्रतिष्ठा जुड़ी होती है**: हम यह बराबर दोहरा रहे हैं कि प्रस्थिति के साथ समाज की आवश्यकताएं और उसके हेतु जुड़े होते हैं। दूसरा, प्रस्थिति के साथ कार्य संपादन भी जुड़ा होता है, इसे भूमिका कहते हैं। जिस प्रस्थिति के कार्य समाज के लिए अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, जिसके लिए अधिक सूझ-बूझ, प्रशिक्षण और शिक्षा की आवश्यकता होती है, उस प्रस्थिति को समाज ऊंचा समझता है और इसके लिए ऊंची पगार भी देता है। प्रस्थिति से जुड़े हुए पगार पारितोषिक, आदर-सम्मान आदि प्रस्थिति का मूल्यांकन या उसकी प्रतिश्ठा है। समाज में पायलट की प्रस्थिति प्रतिष्ठापूर्ण है। इसके साथ बहुत बड़ी कुशलता और जोखिम जुड़ी है। यही इस प्रस्थिति की प्रतिष्ठा है। निम्न प्रस्थिति की प्रतिष्ठा निम्न होती है। लेकिन हर अर्थ में कोई प्रस्थिति बिना प्रतिष्ठा के नहीं होती। प्रतिष्ठा को प्रस्थिति से अलग करके नहीं देखा जा सकता
- **प्रस्थिति को भूमिका से पृथक् नहीं किया जा सकता**: प्रस्थिति का आविर्भाव भूमिका से होता है। यदि समाज की आवश्यकताएं न हों तो भूमिकाओं को संपन्न करने के लिए प्रस्थितियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। आदिवासी गांवों में कंप्यूटर की पहुंच नहीं है और यह इसलिए कि उन्हें लंबे चौड़े हिसाब की जरूरत नहीं होती और इसलिए इस समाज में कंप्यूटर इंजीनियर या प्रोग्रामर की आवश्यकता नहीं होती। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी प्रस्थिति की कल्पना भूमिका के बिना नहीं की जा सकती। ये दोनों एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं।

7.4 प्रस्थिति के प्रकार

प्रस्थिति के प्रकार को मुख्य रूप से समाजशास्त्रियों ने दो प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है-: (1) प्रदत्त प्रस्थिति और (2) अर्जित प्रस्थिति। जो प्रस्थिति व्यक्ति को जन्म से या बिना किसी प्रयास के प्राप्त होती है तो उसे प्रदत्त प्रस्थिति कहते हैं। इस प्रकार की प्रस्थिति में अधिकांशतः वे प्रस्थितियां आती हैं जो नातेदारी से संबंध रखती है। इसके विपरीत अर्जित प्रस्थिति वह होती है जिसे व्यक्ति अतिरिक्त मेहनत, गुण व प्रयास या योग्यता से प्राप्त करता है। साधारणतया इस श्रेणी में व्यक्ति की व्यावसायिक प्रस्थितियां आती हैं। इंजीनियर, चिकित्सक, प्राध्यापक, व्यापारी, वकील, ऐसे अगणित दृष्टांत हैं, जो अर्जित प्रस्थिति की तालिका में आते हैं। चिकित्सक आज जो कुछ है, इस प्रस्थिति को पाने के लिए उसने लंबी अवधि तक कठोर परिश्रम किया है, उसके इस प्रशिक्षण में एक अच्छी खासी धनराशि भी लगी है। इस प्रस्थिति के लिए उसने कई अनुभवों को झेला है। तब कहीं जाकर वह चिकित्सक बना है। किसी भी अर्जित प्रस्थिति को लें, व्यक्ति को योग्यता प्राप्त करनी होती है। क्षमता लानी पड़ती है और यह सब उसकी स्वयं की योग्यता से है। अर्जित प्रस्थितियां वस्तुतः व्यक्ति की स्वयं की उपलब्धियां हैं।

हेरालांबोस ने अर्जित प्रस्थिति को व्यक्ति की स्वयं की प्राप्ति बताया है। यह प्रस्थिति वह है, जिसे अपनी पसंद से एक आदमी प्राप्त करता है। अर्जित प्रस्थिति की संक्षिप्त व्याख्या हेरालांबोस ने इस भांति की है: व्यक्ति के उद्देश्यपूर्ण कार्य और उसकी पसंद ही एक सीमा तक अर्जित प्रस्थिति को बनाते हैं। हेरालांबोस की तरह होर्टन एवं हंट ने भी अर्जित प्रस्थिति को व्यक्ति की स्वयं की पसंद और प्रतियोगिता के माध्यम से प्राप्त होने वाली प्रस्थिति कहा है। वे लिखते हैं: किसी भी सामाजिक पद को जब व्यक्ति अपनी इच्छा एवं प्रतियोगिता के माध्यम से प्राप्त करता है तो उसे अर्जित प्रस्थिति कहते हैं।

प्रस्थिति का वर्गीकरण पिछले पांच-छह दशकों पुराना है। सामान्यतया आम लोग प्रस्थिति का तात्पर्य उस स्थिति से समझते हैं जो प्रदत्त हैं यानी जन्म से। 19वीं शताब्दी के लेखकों ने विशेषकर सर हेनरी मेन, रोबर्ट पार्क और एरनेस्ट बर्गेस ने प्रस्थिति की व्याख्या में केवल यही कहा कि यह व्यक्ति के लिए स्थिर होती है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में जब आधुनिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र का जन्म हुआ, तब समझा जाने लगा कि प्रस्थिति केवल प्रदत्त या वंशानुगत नहीं है, इसका संबंध वृहद् सांस्कृतिक क्षेत्र से है। अब कहा जाता है कि एक ही

प्रस्थिति में सामान्यतया कई सहायक प्रस्थितियां होती हैं। इसी संदर्भ में अमेरिका के मानवशास्त्री राल्फ लिंटन ने सबसे पहली बार प्रस्थिति के वर्गीकरण को प्रस्तुत किया। उनके अनुसार प्रस्थिति प्रदत्त और अर्जित दोनों हैं। प्रस्थिति का यह दोहरा वर्गीकरण प्रदत्त और अर्जित जिसे पहली बार लिंटन ने किया, आज भी समाजशास्त्र में अपनी मान्यता रखता है।

7.5 प्रस्थिति का आधार

समाजशास्त्र में जब प्रस्थिति का उल्लेख करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य कर्त्तव्य और अधिकारों का जोड़ है। जिस पद के साथ ये दोनों जुड़े होते हैं, वही प्रस्थिति है। प्रस्थिति एक पद या स्थान है और इसके साथ जुड़ी हुई भूमिकाएं होती हैं। इस अर्थ में प्रस्थिति का गतिशील पहलू भूमिका है। प्रायः प्रस्थिति तो अपेक्षित रूप से स्थिर रहती है। पर उससे जुड़ी हुई भूमिकाएं बराबर परिवर्तनशील रहती हैं। पहले माता-पिता का कर्त्तव्य बच्चों का पालन-पोषण करना मात्र था। अब माता-पिता की प्रस्थिति तो स्थिर है, लेकिन पालन-पोषण की भूमिका वृहद् हो गई है। माता-पिता चाहते हैं कि बच्चों को अधिकतम व्यावसायिक शिक्षा उपलब्ध करवाएं, उसे प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करें और इससे आगे उन्हें अच्छा पद और प्रतिष्ठा प्राप्त हो सके। यह सब हो जाने के बाद माता-पिता का कर्त्तव्य विवाह करवाना होता है। कुछ स्थितियों में विवाह स्वयं बच्चों पर छोड़ा जा सकता है। इस दृष्टांत में माता-पिता की प्रस्थिति तो स्थिर है पर उनकी भूमिकाएं बदल जाती हैं। यहीं पर आकर लिंटन प्रस्थितियों को प्रदत्त और अर्जित भागों में बांटते हैं।

प्रस्थिति व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होती है। इसका मतलब यह हुआ कि वंशानुगत प्रस्थिति व्यक्ति के हाथ में नहीं होती। इसका निर्णय तो सामान्यतया जैविकीय कारक करते हैं। कई बार प्रदत्त प्रस्थिति परंपराओं द्वारा भी निर्धारित की जाती है। व्यक्ति का किसी जाति या प्रजाति में जन्म जैविकीय कारकों का परिणाम है। इसी तरह किसी व्यक्ति का राजा बनना, चौधरी बनना स्थिर प्रस्थिति है, इसका कारण परंपरा है। राजा का लड़का राजा बनता है, यह परंपरागत प्रस्थिति है। कई मठों में मठाधीश द्वारा निर्धारित उत्तराधिकारी ही मठ का अधिष्ठाता बनता है, यह प्रस्थिति भी परंपरागत है। लिंटन कहते हैं कि प्रदत्त प्रस्थिति के कई कारण होते हैं, कई आधार होते हैं। सामान्यतया, उनके अनुसार प्रदत्त प्रस्थिति के मुख्य पांच आधार हैं:

- लिंग भेद

- जातीय एवं प्रजातीय भेद
- आयु भेद
- नातेदारी के संबंध, और
- परंपरागत आधार

उपरोक्त पांच आधार जन्म से ही व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। ये आधार मुख्यतया जैविकीय होते हैं या परंपरागत।

1. **लिंग भेद:** आज लिंग भेद पर बहस छिड़ी है । इसकी समाप्ति के लिए अनेक आंदोलन किए गए हैं। हम स्त्री-पुरूष समानता की बात करते हैं लेकिन आज पुरुष और स्त्री मे जो अंतर है- जो जैविकीय भेद है, उसे दूर करने की चर्चा करना कठिन है। स्त्री प्रजनन करती है, यह उसकी जैविकीय खासियत है जो उसे जन्म से मिली है, उससे वह मुक्त नहीं हो सकती। लिंग भेद जैवकीय है, इसे दूर करना कठिन है। हां, यह संभव है कि स्त्रियों की सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका में अंतर लाया जा सके। इस तरह का सामाजिक परिवर्तन प्रदत्त प्रस्थिति में परिवर्तन न होकर अर्जित प्रस्थिति में परिवर्तन है। लिंटन का आग्रह है कि प्रदत्त प्रस्थिति अपेक्षित रूप से स्थिर होती है। प्रदत्त प्रस्थिति ही भूमिकाओं को निश्चित करती है। बच्चे को अपने उदर में रखना स्त्रियों के लिए ही संभव है, इसी तरह कुछ ऐसे कलात्मक कार्य हैं जो प्रदत्त प्रस्थिति के साथ जुड़े हुए हैं। प्रदत्त प्रस्थिति के साथ जोखिम भी होते हैं। ऐसा ही एक जोखिम बलात्कार का है। निश्चित रूप से लिंग भेद पर आधारित प्रस्थिति जैविकीय है। व्यक्ति इस प्रस्थिति को नहीं बदल सकता लेकिन इस प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिकाएं हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक हैं ये स्थिर नहीं है इन्हें बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए स्त्रियों की प्रदत्त प्रस्थिति बच्चे जनने की क्षमता है, लेकिन यदि कुछ स्त्रियां बच्चे जनना नहीं चाहतीं यानी मां की प्रस्थिति नहीं चाहतीं तो उन्हें इसके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। यूरोप और अमेरिका में एक नई प्रवृत्ति चल पड़ी है जिसके अनुसार स्त्रियां बच्चे जनना पसंद नहीं करतीं। कहने का अर्थ यह है कि प्रदत्त प्रस्थिति होते हुए भी भूमिकाओं में बड़े अंतर देखने को मिलते हैं। कुछ समाजों में जैसे कि मातृसत्तात्मक परिवारों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की प्रस्थिति उच्च होती है। इसी भांति आदिम समाजों में स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की प्रस्थिति उच्च होती है। अमेरिका और यूरोप में बराबर की होती है। प्रदत्त प्रस्थिति तो लिंग भेद के आधार पर स्थिर होती है, लेकिन

इससे जुड़ी हुई भूमिकाएं स्थिर हों, ऐसा कदापि नहीं है। अब दुनिया भर में जो नारी मुक्ति के आंदोलन चल रहे हैं, वे स्त्रियों के लिए नई भूमिकाओं की खोज है।

2. **जातीय एवं प्रजातीय भेद**:हमारे देश में प्रदत्त प्रस्थिति का एक उदाहरण जाति से जुड़ा है। हमारे यहाँ व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर समझी जाती है। ऐसी कोई वैध प्रक्रिया नहीं है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी जाति बदल सके। यह अवश्य है कि महाकाव्यों के काल में कुछ व्यक्तियों ने अपना वर्ण बदला है। वर्ण का उद्विकास जातियों से हुआ है और जातियां बदली नहीं जा सकतीं। कोई भी क्षत्रिय ब्राह्मण नहीं बन सकता। जातियों की प्रस्थिति स्थिर होती है लेकिन इनकी भूमिकाएं बदल सकती हैं। एक समय था जब ब्राह्मणों की भूमिका पठन-पठन की थी। वे पंडिताई करते थे। आज ब्राह्मणों की यह परंपरागत भूमिका बदल गई है। पिछले समय में दलित वर्गों की भूमिका निम्न समझी जाती थी, आज आरक्षण के परिणामस्वरूप वे एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर आए हैं। उनके संविधान प्रदत्त कुछ विशेष अधिकार हैं।

यूरोप और अमेरिका में प्रजातियों की प्रस्थिति प्रदत्त प्रस्थिति है। जो जन्म से काकेशियन प्रजाति में पैदा हुआ है, वह काकेशियन ही है। चाहने पर भी यह काकेशियन या इस अर्थ में नीग्रो या मंगोलियन अपनी प्रजातीय प्रस्थिति को नहीं बदल सकता। उसकी प्रस्थिति तो स्थिर है। यह अवश्य है कि इस प्रस्थिति से जुड़ी हुई सामाजिक भूमिकाओं में अंतर अवश्य आ जाता है। दूसरे विश्व युद्ध में हिटलर और नाजियों ने प्रजाति के नाम पर नरसंहार किए हैं। वह एक भूमिका थी। आज और विशेषकर यूनेस्को की एक घोषणा के अनुसार प्रजाति पर आधारित पूर्वाग्रह बेमतलब हैं। इस अर्थ में, कम से कम सिद्धांत रूप में तो प्रजातियों से जुड़ी हुई भूमिकाएं बदल गई हैं, लेकिन स्वयं प्रजाति की प्रस्थिति स्थिर है।

3. **आयु भेद:** आयु समूह प्रदत्त है। प्रत्येक समाज में पीढ़ियां होती हैं और पीढ़ियों का यह अंतर आयु पर निर्भर होता है। आयु भेद के साथ में भूमिकाएं भी बदल जाती हैं। बच्चे शरारत करते हैं, यह उनकी भूमिका हैं। वयस्क व्यक्ति उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करते हैं, यह उनकी भूमिका है। समाज में कई भूमिकाएं आयु भेद पर आधारित होती हैं। विवाह का निर्णय आयु के आधार पर किया जाता है। सरकारी नौकरियों में सेवा निवृत्ति के लिए भी आयु एक आधार होती है। जब किसी व्यक्ति को समारोह में आदर दिया जाता है तो निश्चित रूप से उसके आयु वर्ग को ध्यान में रखा जाता है। हम बराबर यह तर्क देते आ रहे हैं कि किसी भी समाज में प्रस्थिति प्रदत्त हो सकती है, स्थिर

रह सकती है लेकिन उससे जुड़ी हुई भूमिकाओं में बदलाव बराबर बना रहता है। आज जबकि हम विश्व व्यापीकरण और उदारीकरण की चर्चा करते हैं तब यह निश्चित है कि जैविकीय कारकों पर आधारित हमारी जो भी प्रदत्त प्रस्थिति है, उसमें कोई अंतर नहीं आता। न ब्राह्मण क्षत्रिय बनता है और न वृद्ध जवान बनता है। ये सब प्रस्थितियां प्रदत्त हैं। यहां यह भी कहना चाहिए कि इन प्रस्थितियों से जुड़ी हुई जो भूमिकाएं हैं, अपवाद को छोड़कर सभी की भूमिकाएं गतिशील हैं, बदलती रहती हैं।

4. **नातेदारी के संबंध:** नातेदार दो तरह के होते हैं: रक्त संबंधी नातेदार और विवाह संबंधी नातेदार। इन दोनों नातेदारों में विवाह संबंधी नातेदार सामान्यतया व्यक्ति के पसंद के नातेदार होते हैं, लेकिन रक्त संबंधी नातेदार प्रदत्त नातेदार की श्रेणी में आते हैं। हमारा भाई कैसा है, यह हमारी पसंदगी नहीं है। रक्त से जुड़ा होने के कारण वह हमारा भाई है, चाहे कैसा भी हो। जितने भी हमारे रक्त संबंधी नातेदार हैं, वे सभी प्रदत्त प्रस्थिति कहलाते हैं। परिवार तथा नातेदारी में कई प्रस्थितियां प्रदत्त होती हैं: भाई, बहिन, मां-बाप, नाना, बुआ आदि। आदिम समाजों में तो प्रदत्त प्रस्थिति की बहुत बड़ी भूमिका होती है। बहुपत्नी प्रथा में परिवार के सदस्यों की संख्या और इस तरह एक ही परिवार की माताओं की प्रस्थिति बहुत लंबी चौड़ी होती है। उदाहरण के लिए यदि कोई गौंड या भील तीन पत्नियां रखता है तो उनसे उत्पन्न किसी एक बच्चे की तीन माताएं हो जाती हैं और इसी तरह माता की प्रस्थिति की तालिका भी लंबी हो जाती हैं।

5. **परंपरागत आधार:** कुछ प्रस्थितियां ऐसी हैं जो विशुद्ध रूप से परंपरागत होती हैं। पिछले दिनों में व्यक्ति की सजा या जागीरदार की प्रस्थिति परंपरा से प्राप्त हो जाती थी। राजा का जो ज्येष्ठ लड़का होता था, राज्य का उत्तराधिकारी वही बनता था। वह चाहता या नहीं चाहता, परंपरा ने उसे राजा बना दिया था। वल्लभ संप्रदाय में जो भी संप्रदाय का अग्रणी है, उसे उत्तराधिकारी बनाया जाता है। ऐसी प्रदत्त प्रस्थितियों का एक मात्र आधार परंपरा होती है। जिस तरह सभी समाजों और समूहों में परंपराएं एक समान नहीं होती, वैसी ही परंपरागत प्रस्थिति भी एक समान नहीं होती है। ये प्रस्थितियां समूह की परंपरा के साथ बदलती रहती हैं। प्रदत्त प्रस्थिति के कुछ और आयाम भी हैं। ये आयाम सामाजिक व्याधिकी के परिणाम हैं। हिंदू सामाजिक व्यवस्था में जब एक जाति का सदस्य अपने से निम्न जाति के सदस्य से विवाह करता था जो उनसे उत्पन्न संतान को वर्णसंकर कहते थे। ऐसी संतान ब्राह्मण और राजपूत, बनिया आदि की मिश्रित हुआ करती थी। इसी कारण इसे प्रदत्त प्रस्थिति कहते हैं। इसी भांति वेश्या से उत्पन्न हुई संतान की प्रस्थिति भी विशिष्ट प्रस्थिति समझी

जाती है। यद्यपि आजकल अंतर्जातीय और अंतर्धार्मिक विवाह होने लगे हैं, लेकिन इस तरह की प्रदत्त प्रस्थितियां समाज में न्यूनतम होती हैं।

7.6 प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति में अंतर

दो-तीन दशकों पहले समाजशास्त्र में एक बहस प्रारंभ हुई थी- पर्यावरण बनाम वंशानुक्रम। दोनों ही पक्षों ने अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किए। वंशानुक्रम वादियों का कहना था कि मनुष्य का शरीर, उसका रंग और उसके शारीरिक लक्षण जन्म से प्राप्त होते हैं और इसलिए वंशानुक्रम मनुष्य की क्षमता को पैदा करता है। पर्यावरणवादियों का तर्क कुछ दूसरा था। उनका कहना था कि वंशानुक्रम कितना ही प्रभावी क्यों न हो, जब तक उसे अनुकूल पर्यावरण नहीं मिलता, व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। इस बहस के निष्कर्ष में कहा गया कि पर्यावरण और वंशानुक्रम परस्पर विरोधी नहीं हैं। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। कुछ इस तरह की तुलना प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियों के बीच में की जाती है। वास्तव में देखा जाए कि इन दोनों में कौन सी प्रस्थिति महत्वपूर्ण है, यह किसी भी विवेचन का मुद्दा नहीं बन सकता। यदि दोनों का अंतर ही देखना है तो इसमें हमें पूरक प्रस्थितियों के रूप में दोनों को समझना होगा। अतः प्रदत्त तथा अर्जित प्रस्थिति का अंतर हम यहां इसी दृष्टि से इन दोनों प्रस्थितियों का अंतर स्पष्ट करेंगे।

1. **प्रदत्त प्रस्थिति बुनियादी प्रस्थिति है:** लिंटन ने जब अर्जित प्रस्थिति का उल्लेख किया तब उन्होंने इस बात को दृढ़तापूर्वक कहा कि 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक अर्जित प्रस्थिति का सामाजिक संबंधों के विश्लेषण में कोई उल्लेख नहीं था। आम आदमी प्रस्थिति का अर्थ प्रदत्त यानी जन्मजात रूप में ही लेता था। प्रस्थितियों के अंतर की बात उद्योगीकरण, शहरीकरण आदि के आने के परिणामस्वरूप हुई। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि प्रदत्त प्रस्थिति बुनियादी प्रस्थिति है। अर्जित प्रस्थिति तो हाल की खोज है।

2. **प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति की इच्छाओं पर निर्भर नहीं है:** प्रकृति ने जैविकीय और भौतिक संरचना को बनाया है। मनुष्य के चाहने पर पेड़ की पत्तियां अपना रंग नहीं बदल सकतीं, मनुष्य की इच्छा पर पहाड़ झुक कर समतल नहीं हो सकते। कुछ इसी तरह काले रंग के लोग गोरे नहीं हो सकते। ठिकने कद वाले लंबे नहीं हो सकते और चाहने पर स्त्रियां पुरुष नहीं बन सकतीं। कुछ प्रदत्त प्रस्थितियां परंपराओं के कारण भी हैं। सामान्यतया इनका परिवर्तन भी मनुष्य के हाथ में नहीं है।

अतः प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति की प्रकृति में यह अंतर महत्वपूर्ण है कि प्रदत्त प्रस्थिति जैविकीय और प्राकृतिक होती है, कुछ अंशों में पारंपरिक भी होती हैं, जबकि अर्जित प्रस्थिति स्वयं व्यक्ति की उपलब्धि है। वह जिस किसी प्रस्थिति में है -चिकित्सक, अध्यापक इत्यादि - उसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है, कम से कम जैविकीय कारक तो नहीं।

3. **प्रदत्त प्रस्थिति की भूमिका में परिवर्तन आता है:** प्रत्येक प्रस्थिति के साथ भूमिकाएं जुड़ी होती हैं। यह सही है कि प्रदत्त प्रस्थिति बदलती नहीं है लेकिन जब समाज परिवर्तन के तीव्र दौर में से गुजरता है तो इस प्रस्थिति में जुड़ी हुई भूमिकाएं भी बदल जाती हैं। माता-पिता की भूमिका है कि वह अपने बच्चों को शिक्षा प्रदान करे। लेकिन शिक्षा प्रदान करने की यह भूमिका द्वैतीयक संस्थाओं ने ले ली है। वैसे वयस्क बच्चों का विवाह करवाने की भूमिका माता-पिता अदा करते थे। यह भूमिका भी अब स्वयं बच्चों के हाथ में चली गई है। हो यह रहा है कि प्रदत्त प्रस्थितियां तो स्थायी बनी हुई हैं, लेकिन उनसे जुड़ी हुई भूमिकाओं में बराबर अंतर आ रहा है।

5. प्रदत्त प्रस्थितियां आदिम समाजों में अधिक प्रतिष्ठित होती हैं: मानवशास्त्रियों के अध्ययनों के दो निष्कर्ष हैं जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आदिम समाजों में प्रदत्त प्रस्थिति का स्थान प्रतिष्ठा का स्थान है। अब भी इन समाजों में पंचायत और उसके मुखियाओं की प्रस्थिति वंशानुगत होती है। यदि आज एक व्यक्ति मुखिया है तो उसके बाद सहज रूप से उसका पुत्र मुखिया बन जाएगा। इन समाजों में जो परंपरागत प्रदत्त प्रस्थितियां हैं, उनमें परिवर्तन तो होता है लेकिन इसकी गति बहुत धीमी होती है। इसका मतलब हुआ, आदिम समाज यानी प्रदत्त प्रस्थिति का समाज। दूसरी और अर्जित प्रस्थिति प्रजातांत्रिक और विकसित देशों में मिलती है। ज्यों-ज्यों समाज अधिक विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों नई अर्जित प्रस्थितियों का उद्गम होता रहता है। यूरोप के समाज में यदि पिछले एक दशक के परिवर्तन के दौर को ही देखें तो हमें कई नई अर्जित प्रस्थितियां देखने को मिलेंगी।

प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति एक दूसरे के विपरीत नहीं हैं। ये दोनों प्रस्थिति के प्रकार हैं। दोनों ही प्रस्थिति हैं और दोनों ही एक दूसरे की पूरक हैं। जब इन प्रस्थितियों को हम समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखते हैं तो हमे बराबर यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्थितियों के ये प्रकार सामाजिक संरचना से उत्पन्न हुए हैं, सामाजिक संस्कृति से जुड़े होते हैं। अतः समाज और कुछ न होकर प्रस्थिति का एक जाल है। जब प्रस्थितियां बदलती हैं या समाज बदलता है तब प्रस्थिति और भूमिका में भी बदलाव

आता है। हम ऐसा समझते हैं कि प्रस्थिति का पृथक् विश्लेषण बेमतलब है, जब तक कि हम उसे संपूर्ण समाज के संदर्भ में नहीं देखते। विकासशील देशों में प्रस्थिति का जो स्थान होता है वह विकसित समाज से भिन्न होता है और विकासशील समाजों में जो स्थान प्रस्थिति का होता है, उससे भिन्न आदिम समाजों में। प्रस्थिति का संदर्भ सदैव समाज से होता है।

7.7 भूमिका

अब हम भूमिका की अवधारणा पर विचार करेंगे। भूमिका वास्तव में प्रस्थिति का व्यवहारात्मक पक्ष है। किसी भी व्यक्ति की तब तक कोई प्रस्थिति नहीं हो सकती, जब तक कि उसके साथ कोई भूमिका न जुड़ी हो। अतः भूमिका का निर्वाह करना ही प्रस्थिति का सक्रिय पहलू है। प्रत्येक भूमिका के साथ कुछ अधिकार व कर्त्तव्य जुड़े होते हैं। उदाहरणार्थ माता-पिता की प्रस्थिति प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अपने बच्चों पर अधिकार होने के साथ-साथ उनके प्रति कुछ जिम्मेदारियों व कर्त्तव्यों का संबंध भी जुड़ा हुआ है। अतः प्रस्थिति व भूमिका एक सिक्के के दो पहलू हैं।

समाजशास्त्र की अवधारणा, भूमिका पर समाजशास्त्रियों ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। राल्फ लिंटन ने प्रस्थिति पर जो कुछ लिखा है, उसी संदर्भ में उन्होंने भूमिका की बात भी कही है। लिंटन के बाद हेनरीमेन ने प्रस्थिति के साथ भूमिका पर बहुत कुछ लिखा है। इसके बाद किंग्सले डेविस ने प्रस्थिति और भूमिका को आधुनिक समाजशास्त्र के संदर्भ में रखा। हाल में रोबर्ट मर्टन ने भूमिका की व्याख्या नवीन संदर्भ में की है। आज भूमिका के कई नए क्षेत्र उभर कर हमारे सामने आए हैं।

7.8 भूमिका की अवधारणा, अर्थ एवं परिभाषा

हेरालांबोस कहते हैं कि समाज में प्रत्येक प्रस्थिति के साथ में कई भूमिकाएं जुड़ी हुई होती हैं। इन भूमिकाओं का निर्वाह करने के लिए मानदंड भी होते हैं। ये मानदंड ही वस्तुतः भूमिका है। उदाहरण के लिए, पति की जो प्रस्थिति है उसके मानदंड हैं और पति जिस भूमिका को निभाता है, वह मानदंडों के अनुरूप होती है और जब मानदंड प्रस्थिति द्वारा अमल में लाए जाते हैं, तब उन्हें भूमिका कहते हैं। इसी तरह वकील की एक प्रस्थिति है। इस प्रस्थिति के अनुसार वकील से यहीं आशा की जाती है कि वह नवीनतम कानून के साथ में अपनी जानकारी रखेगा। वह कायदे कानून में

पारंगत होगा। इस अर्थ में कायदे कानून मानदंड है। अदालत में पैरवी करने का एक खास प्रतिमान होता है। यह भी मानदण्ड है। जब वकील अपने मुवक्किल की पैरवी करता है तो पैरवी करने का यह काम उसकी भूमिका है। लिंटन, हेनरीमेन, डेविस और उसके बाद की पीढ़ियों ने भूमिका की जो व्याख्या की है, इसके अनुसार भूमिका प्रक्रिया का क्रियात्मक स्वरूप हैं, ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यदि किसी समाज में कोई एक निश्चित प्रस्थिति है तो अनिवार्य रूप से इसके साथ जुड़ी हुई भूमिकाएं भी है। भूमिकाएं वस्तुतः मानदंड हैं, जिनकी व्यवहार में क्रियान्विति की जाती है। वकालत, अध्यापन, मजदूरी, भवन निर्माण आदि भूमिकाएं हैं। हेरालांबोस ने भूमिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है:

सामाजिक कार्य व्यवहार को नियमित और संगठित करते हैं। विशेषकर भूमिका किन्हीं कार्यों को संपन्न करने में साधन का काम करती है। संस्कृति के एक पहलू में व्यवस्थित समाज में भूमिकाएं मार्गदर्शन करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है।

जब भूमिका की चर्चा करते हैं तो हमें यह अवश्य कहना चाहिए कि इनके माध्यम से हमें दूसरे लोगों की भूमिका का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान हमें व्यक्तियों के भविष्य में होने वाले व्यवहार की जानकारी देता है। यह भी निश्चित है कि जब तक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिका का निर्वाह करता है, वह प्रस्थिति से जुड़ा रहता है। यदि भूमिकाओं का निर्वाह उससे नहीं होता तो उसकी प्रस्थिति खतरे में पड़ जाती है। यदि चिकित्सक उसकी निर्धारित भूमिका को संपन्न नहीं करता तो अपने आप उसकी चिकित्सक की प्रस्थिति कमजोर हो जाती है और जब चिकित्सक अपनी भूमिका का निर्वाह करता है तो ऐसा करने में उसकी भूमिका के साथ जो संहिता जुड़ी हुई है, उसी के अनुसार उसे काम करना पड़ता है।

किंग्सले डेविस ने भूमिका के विश्लेषण में लिखते हुए कहा है कि यह एक सांस्कृतिक तत्व है जो व्यवहार से जुड़ा हुआ है। भूमिका मानदंड का व्यावहारिक पक्ष है। वे लिखते हैं:

जिसेयक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरुप संपन्न करता है उसे ही भूमिका का कार्य कहते है । लिंटन ने जब प्रस्थिति के संदर्भ में भूमिका की व्याख्या की थी तब उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि जिस भांति प्रस्थिति संस्कृति का एक अंग है, ठीक इसी प्रकार भूमिका भी संस्कृति का एक भाग है। वे लिखते हैं:

भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। भूमिका के अंतर्गत वे सभी अभिवृत्तियां, सामाजिक मूल्य और व्यवहार सम्मिलित किए जाते हैं जो किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित व्यक्ति को समाज द्वारा प्रदान किए जाते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि प्रस्थिति और भूमिका समाज की संस्कृति के भाग हैं। भूमिकाएं जो कुछ हैं, उनका संदर्भ प्रस्थिति से होता है। दूसरे शब्दों में, भूमिका को प्रस्थिति से जोड़े बिना समझा नहीं जा सकता। जो कुछ भूमिकाएं होती है, उसे करने के जो नियम-उपनियम होते हैं, वे ही मानदंड हैं। यदि भूमिका प्रस्थिति से जुड़ी होती है तो प्रत्येक भूमिका कतिपय मानदंडों से जुड़ी होती है। मानदंडों का बहुत बड़ा काम समाज की विभिन्नता को एकीकृत करना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन भूमिकाओं को हम निभाते हैं, वे मानदंडों से बंधी होती है और इसलिए समाज को एक सूत्र में बांधती है।

भूमिका के विश्लेषण में ही उसकी विशेषताएं निहित हैं:-

1. भूमिकाएं प्रस्थिति में निहित हैं। प्रस्थिति को अलग रखकर भूमिका की कोई चर्चा नहीं हो सकती।

2. भूमिका शून्य में नहीं होती। उसका एक सशक्त सांस्कृतिक पहलू होता है। यह सांस्कृतिक पहलू ही मानदंड है। अतः कोई भी भूमिका हो उसके साथ में समाज के मानदंड जुड़े होते हैं।

3. मानदंड में जैसा कि हम जानते हैं, दंड व्यवस्था होती है। यह दंड व्यवस्था औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार की होती है। इसका मतलब हुआ यदि किसी प्रस्थिति में भूमिका का निर्वाह नहीं होता तो इसके साथ दंड व्यवस्था भी जुड़ी होती है। यदि चिकित्सक या अध्यापक अपनी भूमिका को उचित तरह से संपन्न नहीं करते यानी संस्कृति के मानदंडों की अवहेलना करते हैं, तो दंड व्यवस्था के रूप में ऐसे चिकित्सकों की निंदा की जाती है और कभी-कभी औपचारिक रूप में उन पर दावा भी ठोक दिया जाता है। दावे का आधार यह होता है कि चिकित्सक ने लापरवाही बरती और इसके लिए रोगी को खामियाजा भुगतना पड़ा। बहुत थोड़े में, भूमिका में मानदंड होते हैं। मानदंडों के पीछे दण्ड व्यवस्था होती है। और किसी प्रस्थिति में जब भूमिका का सही निर्वाह नहीं होता यानी मानदंडों की अवहेलना होती है तो प्रस्थिति धारक को किसी न किसी तरह का दंड भुगतना पड़ता है।

4. भूमिका एक पक्षीय नहीं होती। यह हमेशा सापेक्षिक होती है। प्राध्यापक की भूमिका है: अध्यापन और अनुसंधान। लेकिन यदि विद्यार्थी नहीं हुए, अनुसंधानकर्ता नहीं हुए तो प्राध्यापक की भूमिका अप्रासंगिक हो जाएगी। प्राध्यापक तो हैं लेकिन वह पढ़ाएगा किसे ? चिकित्सक तो हैं लेकिन वह किसका रोग निदान करेगा ? गाड़ीवाला तो है, पर उसकी गाड़ी में बैठने वाला कौन है ? इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिका दूसरी प्रस्थितियों और उनकी भूमिकाओं से जुड़ी होती है। इसी कारण हम कहते हैं कि कोई भी भूमिका दूसरी भूमिकाओं के संदर्भ में ही संपन्न की जाती है।

5. प्रस्थिति जड़ नहीं होती, गतिशील होती है तो इसी अर्थ में भूमिकाएं भी गतिशील होती हैं। हमारे देश का प्रधानमंत्री एक प्रस्थिति में अपनी भूमिका अदा करता है। यह भूमिका प्रजातंत्र और धर्म निरपेक्षता के मानदंडों में बंधी होती है। ये मानदंड गतिहीन नहीं हैं। पिछले दिनों ब्रिटिश युग में राज्य के ये मानदंड नहीं थे। इनमें परिवर्तन आया। इसलिए प्रस्थिति और भूमिका दोनों ही गतिशील होते हैं।

7.8 प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध

भूमिका का संबंध प्रस्थिति विशेष के धारण करने वाले व्यक्ति के वास्तविक व्यवहार से होता है। साथ में भूमिका की अवधारणा व्यवहार से संबंधित उन अपेक्षाओं को भी बताती है जो लोग एक दूसरे से करते हैं। अतः अफसर कर्मचारी के संबंधों के संदर्भ में अफसर से एक विशेष प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करेगा। इसके परिणाम स्वरूप कर्मचारी की भी अपनी अपेक्षाएं होंगी। यदि इन दोनों में से कोई भी एक दूसरे की अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य न करे तो उनके संबंधों पर प्रतिकूल असर पड़ेगा। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यदि व्यक्ति भूमिका संबंधी अपेक्षाओं को पूरा करते हैं तो समाज में व्यवहार की एकरूपता बनी रहती है।

7.9 प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्व

भूमिका तथा प्रस्थिति का महत्व केवल व्यक्ति के जीवन में ही नहीं है बल्कि सामाजिक संबंधों में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसको निम्न आधारों पर देखा जा सकता है।

- समाजिक संगठन का आधार

- व्यक्ति की क्रियाओं का मार्ग-निर्देशन
- समाजिक श्रम विभाजन
- समाजिक जागरूकता में वृद्धि
- समाजिक नियंत्रण में योगदान
- व्यवहारों का पूर्वानुमान
- कार्यात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति
- सामाजिक मूल्यों की रक्षा

बोध प्रश्न -1

क- रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1 हेरालांबोस ने ..... प्रस्थिति को व्यक्ति की स्वयं की प्राप्ति बताया है।

2 प्रस्थिति से अभिप्राय उस स्थान से होता है कि .....व्यक्ति या समूह प्राप्त करता है।

3 अर्जित प्रस्थिति ..... होती है

बहुविकल्पीय प्रश्न

1 किसने प्रस्थिति का वर्गीकरण प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थिति के रूप में किया:

(i) इलिएट तथा मेरिल (ii) राल्फ लिंटन

(iii) टी. पारसंस (iv) के. डेविस

……

……

……

2 निम्नलिखित में से कौन -सी स्थिति से प्रस्थिति का बोध होता हैः

(i) मजदूर (ii) गुंडा

(iii) न्यायाधीश (iv) तस्कर

……

……

……

……

……

7.10 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप प्रस्थिति एवं भूमिका को समझ गए होंगे। व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थितियों को धारण करता है। मुख्य रूप से प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियां होती हैं। उन्हीं के अनुरूप जब व्यक्ति अपने दायित्व या कर्त्तव्य का निर्वहन करता है तो उसे भूमिका कहते हैं। कई बार ऐसी स्थिति भी पैदा हो जाती है कि व्यक्ति के सामने भूमिका संघर्ष हो जाता है। इन सभी अवधारणाओं को हमने समझने का प्रयास किया है।

7.11 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न -1

भाग क

1 अर्जित

2 सामाजिक व्यवस्था

3 परिवर्तनशील

भाग ख-

1 राल्फ लिंटन

2 न्यायाधीश

7.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दुबे, एस. एम. एवं शर्मा, दिनेश, समाजशास्त्र: एक परिचय, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, 1989.

2. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी: बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2001.

3. दोशी एवं जैन, समाजशास्त्र: नई दिशाएं, नेशनल, जयपुर, 2002.

7.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Cooley, C.H.,Social Organization, Glencoe :The Free Press, 1962

Davis,Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company,1949

Fairchild, H.P.(ed), Dictionary of Sociology,London:Vision,1958

2. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी: बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2001.

3. दोशी एवं जैन, समाजशास्त्र: नई दिशाएं, नेशनल, जयपुर, 2002.

7.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रस्थिति से आप क्या समझते हैं ? इसकी पारिभाषिक व्याख्या कीजिए।

2. प्रस्थिति की मूलभूत विशेषताएं बताइये।

3. प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति में अंतर स्पष्ट कीजिए।

इकाई 08 संस्कृति
Culture

इकाई की रुपरेखा

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 अर्थ एवं परिभाषाएं

8.3 संस्कृति की विशेषताएं व लक्षण

8.4 संस्कृति का स्वरूप या प्रकार

8.5 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में भिन्नता

8.6 संस्कृति का महत्व

8.7 सारांश

8.8 परिभाषिक शब्दावली

8.9 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

8.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.12 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

संस्कृति मानव समाज की धरोहर है जहां समाज में संस्कृति भी होगी। हर समाज की संस्कृति भिन्न-भिन्न होती है। बिना संस्कृति के हम किसी भी समाज की कल्पना नहीं कर सकते। संस्कृतियों द्वारा ही किसी भी समाज के व्यक्तियों के परिपाटी को समझा जा सकता है। मानव समाज इसलिए मानव है क्योंकि उसके पास संस्कृति है। संस्कृति के अभाव में मानव पशु-तुल्य हो जाता है। संस्कृति ही मानव की श्रेष्ठतम धरोहर है जिसकी सहायता से मानव पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहता है और प्रगति की ओर उन्मुख होता है। यदि मानव से उसकी संस्कृति छीन ली जाए तो वह मात्र पशुओं के समान प्राणी रह जाएगा। मानव और पशु में एक सबसे बड़ा अंतर एक संस्कृति का ही होता है। संस्कृति समाज में स्वतः समय के साथ संचित होती रहती है। समाज विभिन्न प्रकार के विश्वासों, प्रथाओं, नियम-कानूनों, भाषाओं और ज्ञान का भंडार होता है। संस्कृति इस समग्र के नाम को कहते हैं जो किसी भी समाज को जीवित रखने के लिए अत्यंत आवश्यक है। भाषा संस्कृति का अंग है। संस्कृति के अंतर्गत ही हम बोलचाल, तौर-तरीका और विभिन्न रीतियों को सीखते हैं। संस्कृति के अंतर्गत हम विभिन्न प्रकार के ज्ञान का संचय करते हैं जो किसी भी समाज के विकास में सहायक होता है। संस्कृति हस्तांतरित होती है। यह मानव द्वारा निर्मित होती है। हम अपने अनुकूल विभिन्न संस्कृतियों को ग्रहण करते हैं और सीखते हैं। प्रत्येक समाज व क्षेत्र की संस्कृति भिन्न-भिन्न होती है। संस्कृति में उसके सामाजिक गुण निहित होते हैं जो वहां के व्यक्ति और समाज के लिए आदर्श का काम करती है। संस्कृति मानव जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। समाज में संस्कृति के साथ मानव का अनुकूलन करने की क्षमता बनी रहती है। संस्कृति समाज को संतुलित व संगठित करती है। संस्कृति के अंतर्गत रहकर हम समाज के विभिन्न प्रचलित रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, प्रथाओं एवं व्यवहारों को सीखते हैं। इस प्रकार संस्कृति का हमारे मानव जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके बिना समाज व व्यक्ति का व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। अतः जहां समाज व व्यक्ति होगा वहां संस्कृति का होना भी अति महत्वपूर्ण है।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा जानेंगे।

- संस्कृति की विशेषताओं से अवगत होंगे ।
- संस्कृति का स्वरूप व प्रकार को स्पष्ट करेंगे।
- भौतिक व अभौतिक संस्कृति में भेद को स्पष्ट करेंगे।
- भारतीय समाज में संस्कृति का महत्व क्या है, इस पर अपना विचार प्रस्तुत करेंगे।

8.2 अर्थ एवं परिभाषाएं

संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो में किया जाता है। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा से लिया गया है। संस्कृत व संस्कृति दोनों ही शब्द संस्कार से बने हैं। संस्कार का अर्थ कुछ कृत्यों की पूर्ति करना है जैसे एक हिंदू जन्म से ही अनेक प्रकार के संस्कारों को संपन्न करता है, जिसमें उन्हें विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं निभानी पड़ती हैं। संस्कृति का अर्थ होता है, विभिन्न संस्कारों द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति। यह परिमार्जन की एक प्रकिया है जो संस्कारों को संपन्न करके मानव को एक सामाजिक प्राणी बनाती है। संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है। संस्कृति जीवन व्यतीत करने की एक संपूर्ण विधि है जो व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों की उस समग्रता को जो किसी समूह को विशिष्टता प्रदान करती है उसे संस्कृति की संज्ञा दी गई है। अतः संस्कृति के विभिन्न अर्थों को जानने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि जब किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन यापन के जो विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते हैं, उसे ही हम मुख्य तौर पर संस्कृति कहते हैं।

रॉबर्ट बीरस्टीड ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है, ''संस्कृति वह संपूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुएं सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।''

पारसंस ने अपनी पुस्तक The Social System में परिभाषित करते हुए कहा है, 'संस्कृति मानव के व्यक्तित्व एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है।'

मैकाइवर एवं पेज इन्होंने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है 'संस्कृति मूल्यों, शैलियों, भावात्मक अभियानों का संसार है। इसलिए संस्कृति सभ्यता का प्रतिवाद है। संस्कृति हमारे रहने

और सोचने के ढंगों, कार्यकलापों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन एवं आनंद में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।'

टायलर के द्वारा संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया गया है 'संस्कृति वह संपूर्ण जटिलता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, व्यवहार, कानून तथा अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश होता है जिन्हें समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।'

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। वास्तविक समाज विशेष के संपूर्ण व्यवहार प्रतिमानों अथवा समग्र जीवन विधि को ही हम संस्कृति के नाम से पुकार सकते हैं।

8.3 संस्कृति की विशेषताएं एवं लक्षण

इकाई के इस भाग के अंतर्गत आप संस्कृति की मुख्य विशेषताओं व लक्षण से अवगत होगें-

संस्कृति मानव निर्मित है- संस्कृति केवल मनुष्य समाज में पाई जाती है। मनुष्य में कुछ ऐसी मानसिक एवं शारीरिक विशेषताएं हैं जैसे- विकसित मस्तिष्क, केंद्रित की जा सकने वाली आंखें, स्वत्रंतापूर्वक घूम सकने वाले हाथ और उनमें अंगूठे की स्थिति, गर्दन की रचना आदि जो अन्य प्राणियों से भिन्न बनाती हैं और इसी कारण वह संस्कृति को निर्मित एवं विकसित कर सका, अन्य प्राणी नहीं।

संस्कृति सीखी जाती है- संस्कृति मनुष्य को अपने माता-पिता द्वारा उसी प्रकार वंशानुक्रम में प्राप्त नहीं होती, जिस प्रकार से शरीर रचना प्राप्त होती है। संस्कृति मानव के सीखे हुए व्यवहारों प्रतिमानों का योग है। एक मनुष्य अपने जीवन के साथ किसी संस्कृति को लेकर पैदा नहीं होता वरन् जिस समाज में पैदा होता है उसकी संस्कृति को धीरे-धीरे समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है।

संस्कृति हस्तांतरित की जाती है- संस्कृति चूंकि सीखी जा सकती है इसलिए ही नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के द्वारा संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करती है। इस प्रकार एक समूह से दूसरे समूह को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी को संस्कृति हस्तांतरित की जाती है।

प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति होती है- एक समाज की भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितिया दूसरे समाज से भिन्न होती है। अतः प्रत्येक समाज में अपनी एक विशिष्ट संस्कृति पाई जाती है। हर समाज की आवश्यकताएं भी भिन्न-भिन्न होती हैं जो सांस्कृतिक भिन्नताओं को जन्म देती हैं। इसलिए ही हमें नगरीय, ग्रामीण, आदिम जातीय, हिंदू, मुस्लिम, पाश्चात्य एवं पूर्वी संस्कृतियां देखने को मिलती हैं।

संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है- संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की देन नहीं होती वरन् संपूर्ण समाज की देन है। उसका विकास समाज के कारण ही हुआ है। समाज के अभाव में संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी संस्कृति 5, 10 या 100, 200 व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि समाज यह समूहों के अधिकांश लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृति संपूर्ण समाज की जीवन विधि का प्रतिनिधित्व करती है।

संस्कृति समूह के लिए आदर्श होती है- एक समूह के लोग अपनी संस्कृति को आदर्श मानते हैं और उसके अनुसार अपने विचारों को ढालते हैं। जब दो संस्कृतियों की तुलना की जाती है तब एक व्यक्ति दूसरी संस्कृति की तुलना में अपने आदर्श बताने का प्रयास करता है और उसकी अच्छाइयों को उल्लेख करता है।

संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है- मानव की अनेक सामाजिक, शारीरिक, मानसिक आवश्यकताएं हैं उसकी पूर्ति के लिए मानव ने संस्कृति का निर्माण किया है जो इनकी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं।

संस्कृति में अनुकूलन करने की क्षमता होती है- संस्कृति में समय, स्थान, समाज एवं परिस्थितियों के अनुरूप अपने आप को ढालने की क्षमता होती है। परिवर्तनशीलता इनका गुण होता है। सभी परिस्थितियों में अनुकूलन करने की क्षमता इनके अन्दर होती है।

संस्कृति में संतुलन एवं संगठन होता है- संस्कृति का निर्माण विभिन्न इकाइयों से मिलकर होता है। सांस्कृतिक इकाइयां जिन्हें हम संस्कृति तत्व एवं संस्कृति संकूल कहते हैं परस्पर एक-दूसरे से बंधे हुए होते हैं। वह सभी इकाइयां संगठित रूप मे मिलकर ही संपूर्ण संस्कृति की व्यवस्था एवं संतुलन को बनाए रखती हैं।

इस प्रकार संस्कृति की विशेषताओं से अवगत होने के पश्चात् आप यह जान गये होंगे कि मुख्यतः संस्कृति मानव व्यक्तित्व के निर्माण में मौलिक आवश्यकता है। जन्म के बाद अपनी संस्कृति को सीखकर ही आत्मसात करता है। संस्कृति में प्रचलित रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, प्रथाओं, व्यवहारों आदि की छाप व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ती है।

8.4 संस्कृति का स्वरूप या प्रकार

इकाई के इस भाग में संस्कृति के स्वरूप एवं प्रकारों से अवगत होते हुए भौतिक व अभौतिक संस्कृति के बारे में जान पाएंगें जिसे ऑगर्बर्न ने स्पष्ट किया है-

भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानव द्वारा निर्मित सभी भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है। मानव ने प्राकृतिक वस्तुओं और शक्तियों को परिवर्तित एवं नियंत्रित करके अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए हजार लाखों वस्तुओं को बनाया है जिसका एक भौतिक आधार होता है जो मूर्त होती हैं जिन्हें हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और आभास कर सकते हैं। ये सभी भौतिक संस्कृति के अंग हैं। भौतिक संस्कृति में हम घड़ी, पेन, पंखा, मोटर, मशीन, औजार, वस्त्र, वाद्ययंत्र, रेल, जहाज, वायुयान, टेलीफोन आदि अनेक वस्तुओं को ले सकते हैं। भौतिक संस्कृति ने मशीनों, उपकरण, बर्तन, इमारतों, सड़को, पुलों, शिल्प वस्तुओं, कलात्मक वस्तुओं, वस्त्र, गाड़ियों, फर्नीचर, खाद्य पदार्थों एवं औषधियों आदि को सम्मिलित किया है। भौतिक संस्कृति के सभी तत्वों को गिनना आसान नहीं है। इस प्रकार संस्कृति के स्वरूपों में प्रथम स्थान भौतिक संस्कृति को दिया गया है।

अभौतिक संस्कृति के अंतर्गत उन सभी सामाजिक तथ्यों को सम्मिलित करते हैं जो अमूर्त हैं। जिनका कोई माप-तोल, आकार व रंग-रूप नहीं होता है। इनको हम छू नहीं सकते सिर्फ एहसास कर सकते हैं और महसूस कर सकते हैं जैसे- आचार-विचार, विश्वास, परंपरायें, प्रथाएं, रीति-रिवाज आदि। यह हमारे विचारों एवं कार्यों में निहित होते हैं। अभौतिक संस्कृति में विचारों एवं सामाजिक मानदंडों को सम्मिलित किया जाता है। सामान्यतः अभौतिक संस्कृति में सामाजिक विरासत से प्राप्त विचार, विश्वास, मानदंड, व्यवहार, प्रथा, रीति-रिवाज, कानून, मनोवृतियां, साहित्य, ज्ञान, कला, भाषा, नैतिकता एवं क्षमताओं आदि को गिनते हैं। अभौतिक संस्कृति समाजीकरण एवं सीखने की प्रकिया द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है।

इस प्रकार आप संस्कृति के दोनों प्रकारों व स्वरूपों से अवगत हो गए होंगे। आधुनिक युग भौतिकवादी युग है जो भौतिक संस्कृति की देन है। भौतिक संस्कृति तेजी से आगे बढ़ते जा रही है और अभौतिक संस्कृति पिछड़ती जा रही है। भौतिक का आगे बढ़ना अभौतिक का पीछे रह जाना सांस्कृतिक विलंबना की स्थिति पैदा कर रही है।

बोध प्रश्न -1

1. संस्कृति के कितने प्रकार होते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2. सांस्कृतिक विलंबना का सिद्धान्त किसने प्रतिपादित किया है?

.....

.....

.....

.....

.....

3. अमूर्त संस्कृति किसे कहते है?

.....

.....

.....

.....

.....

4. ''संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है'', किसने कहा है?

.....

.....

.....

5. वर्तमान युग की संस्कृति कौन सी है भौतिक या अभौतिक?

.....

.....

.....

8.5 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में भिन्नता

इकाइ के इस भाग में भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति के बीच पाई जाने वाली भिन्ताओं से अवगत होंगे। भौतिक संस्कृति को संस्कृति न कहे जाने का कारण यह भी है कि भौतिक संस्कृति का एक साथ कई लोग उपयोग नहीं कर सकते हैं। भौतिक संस्कृति मूर्त होती है जिसके अंतर्गत हम किसी भी वस्तु को छूकर काम कर सकते हैं जैसे किसी कलम से एक समय से एक ही व्यक्ति लिख सकता है, किसी गाड़ी को कुछ ही लोग इस्तेमाल कर सकते हैं लेकिन भाषा या धर्म जो संस्कृति है उसका एक साथ विश्व के सभी लोग प्रयोग कर सकते हैं। चाहे तो दुनिया के सभी लोग एक साथ किसी एक धर्म में विश्वास कर सकते हैं या किसी एक भाषा में सभी लोग विचार-विमर्श कर सकते हैं अर्थात् संस्कृति वह है जिसका आसानी से एक साथ बहुत लोग उपयोग कर सकते हैं। भौतिक संस्कृति का विकास तेजी से होता है और परिवर्तन की गति भी तेज होती है। भौतिक संस्कृति का संबंध मानव के बाह्य जीवन से है। भौतिक संस्कृति शीघ्र ग्रहण करने योग्य होता है। इस प्रकार आधुनिक युग भौतिकवादी युग है जो भौतिक संस्कृति की देन है।

अभौतिक संस्कृति: इसे समाजशास्त्रियों ने जीवंत या अमूर्त कहा है जिसे हम देख नहीं सकते, एहसास या अनुभव कर सकते हैं। यदि किसी संस्कृति को अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं या उसके अनुसार अपना व्यवहार करते हैं जो वह जीवंत संस्कृति कही जाती है लेकिन जब उसे कोई नहीं मानता है तो वह मृत संस्कृति बन जाती है जैसे भारत में प्राकृत एवं यूरोप में लैटिन भाषा मृत

संस्कृति कही जाती है। संस्कृति की यह भी विशेषता है कि मृत संस्कृति को फिर से उसी रूप में जीवित किया जा सकता है परंतु यदि कोई भौतिक वस्तु समाप्त हो चुकी है या पुरानी पड़ गई है तो उसे हम उसी रूप में वापस नहीं ला सकते। अभौतिक संस्कृति भौतिक संस्कृति के विपरित होती है या अमूर्त होती है। इसकी गति धीमी होती है। अभौतिक संस्कृति का संबंध मानव के आंतरिक जीवन से है। अभौतिक संस्कृति में वृद्धि धीमी गति से होती है। यह शीघ्र ग्राह्य नहीं होती।

भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में विभिन्न भिन्नताओं के बावजूद दोनों में आत्म निर्भरता पाई जाती है जब एक संस्कृति में परिवर्तन आता है तो वह दूसरी संस्कृति को भी प्रभावित करती है। अर्थात एक में विकास होने पर दूसरे में भी विकास होना अनिवार्य हो जाता है।

8.6 संस्कृति का महत्व

संस्कृति की इस इकाई के अंतर्गत आपने विभिन्न भागों का अध्ययन करने के उपरांत यह पाया होगा कि संस्कृति का मानव समाज में कितना महत्व है। हर समाज की कोई न कोई संस्कृति होती है जो समाज में सुव्यवस्था और संगठन कायम करती है जो इस प्रकार है-

संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है- संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह मानव की विभिन्न शारीरिक, सामाजिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। मानव की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही समय-समय पर अनेक आविष्कार होते रहे और वे संस्कृति के अंग बनते गए।

संस्कृति व्यक्तित्व निर्माण में सहायक है- प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी संस्कृति में जन्म लेता है। उसका पालन-पोषण किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति को ग्रहण करता है और अपने व्यक्तित्व में उसको आत्मसात कर लेता है। इसलिए ही कहा जाता है कि व्यक्ति संस्कृति का आत्म-वैषयिक पक्ष है। व्यक्तियों में भिन्नता संस्कृति भिन्नता के कारण ही होती है।

संस्कृति मानव को मूल्य एवं आदर्श प्रदान करती है - प्रत्येक व्यक्ति संस्कृति के आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप ही समाज में व्यवहार करता है। आदर्शों एवं मूल्यों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को सामाजिक तिरस्कार का सामना करना पड़ता है।

संस्कृति नैतिकता का निर्धारण करती है- समाज में उचित एवं अनुचित का निर्धारण संस्कृति के प्रतिमानों के आधार पर ही होता है। संस्कृति ही व्यक्ति में नैतिकता एवं उचित और अनुचित के भाव उत्पन्न करती है।

संस्कृति मानव की आदतों का निर्धारण करती है- चूंकि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी पूर्व प्रचलित संस्कृति में ही जन्म लेता है अतः संस्कृति ही व्यक्ति के खान-पान और वेशभूषा से संबंधित तथा आदतों का निर्धारण करती है।

संस्कृति व्यवहारों में एकरूपता लाती है- एक संस्कृति से संबंधित सभी व्यक्तियों के व्यवहारों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं, लोकाचारों, मूल्यों, आदर्शों एवं नैतिकता में समानता पाई जाती है। सभी व्यक्ति उसे समान रुप से मानते हैं और उसके अनुरूप आचरण करते हैं। इससे समाज में समानता व एकरूपता पैदा होती है।

संस्कृति अनुभव एवं कार्यकुशलता को बढ़ाती है- संस्कृति का पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरण होता है अतः नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी का अनुभव एवं कौशल प्राप्त होता रहता है जिससे कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

संस्कृति व्यक्ति को सुरक्षित रखती है- संस्कृति में मानव व्यवहार से संबंधित सभी पक्ष पहले से निर्धारित होते हैं जिसमें पूर्वजों का अनुभव छिपा होता है। अतः उसे हर बार अपने आचरणों को तय करने के बारे में सोचना नहीं पड़ता बल्कि स्वतः ही समाज के समस्त आचरणों को सीखता जाता है और उनके अनुसार व्यवहार करता रहता है जिससे व्यक्ति को मानसिक एवं सामाजिक सुरक्षा महसूस होती है।

संस्कृति समस्याओं का समाधान करती है- संस्कृति के माध्यम से व्यक्ति के सम्मुख जब भी कोई समस्या उत्पन्न होती है या संकट आता है तो संस्कृति के प्राप्त अनुभवों के आधार पर उसका हल व सामाधान स्वयं हो जाता है। संस्कृति के अनुभवों, ज्ञान एवं नियमों के आधार पर समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान सरलता से हो जाता है।

संस्कृति ही प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण करती है- एक व्यक्ति अपने समाज का कौन-सा पद, कब और कहां प्राप्त करेगा या कर सकता है यह संस्कृति निर्धारित करती है। अर्जित

एवं प्रदत्त प्रस्थितियों को प्राप्त करने के नियम एवं उससे संबंधित व्यक्ति की भूमिका, शक्ति, अधिकार, कर्तव्य एवं दायित्व का निर्धारण संस्कृति ही करती है। अर्जित प्रस्थिति के अंतर्गत हम अपने बुद्धिबल और ज्ञान के आधार पर अपने पदों को हासिल करते हैं परंतु प्रदत्त प्रस्थिति के अंतर्गत जन्मगत आधार पर हमारी प्रस्थितियों का निर्धारण किया जाता है जैसे- स्त्री-पुरूष, गोरा, काला।

संस्कृति समाज को नियंत्रित करती है- समाज को सुव्यस्थित ढंग से चलाने के लिए संस्कृति नियंत्रण स्थापित करती है। प्रत्येक संस्कृति में प्रथाएं, रीति-रिवाज, लोकाचार, परंपराएं आदि होते हैं जो व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहारों को तय करते हैं और व्यक्ति पर नियंत्रण बनाए रखते हैं। वैयक्तिक नियंत्रण से ही सामाजिक नियंत्रण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार संस्कृति सामाजिक नियंत्रण में सहायक होती है।

बोध प्रश्न -2

1. संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. संस्कृति की चार विशेषताओं को लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3. भौतिक व अभौतिक संस्कृति के किन्हीं तीन भेद को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

8.7 **सारांश**

संस्कृति समाज की धरोहर है जो किसी समाज व व्यक्ति को सुव्यवस्थित करती है। संस्कृति के अंतर्गत हम कला, भाषा, आचार-विचार, प्रथा, रीति-रिवाज, धर्म, आदर्श, परम्पराएं, विश्वास आदि से परिचित होते हैं। संस्कृति के दो विशिष्ट पहलू माने जाते हैं जो एक-दूसरे से जुड़े हैं। एक ओर संस्कृति मनुष्य की क्षमता, कुशलता, जीवन के आदर्शों एवं प्रतिमानों को बताती है तो दूसरी ओर वह मनुष्य की भौतिक उपलब्धियों को भी बताती है जिससे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल होते हैं। संस्कृति के प्रमुख घटक के रूप में हम विभिन्न माध्यमों से समाज को परिवर्तित व विकसित करने में प्रौद्योगिकी, आर्थिक संगठन, राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन, कला, भाषा आदि को बढ़ावा देते हैं। संस्कृति की मुख्य बात है कि यह समय के साथ स्वतः संचित होती रहती है। संस्कृति को विशिष्टता प्रदान करने में कई मुख्य गुण हैं जो इसे समाज में सुव्यवस्थित करती है। संस्कृति मानव समाज द्वारा निर्मित है, इसे हम किसी न किसी प्रकार से सीखते हैं। संस्कृति का हस्तांतरण भी होता है। हम एक जगह से दूसरी जगह की संस्कृतियों का आदान-प्रदान करते हैं परंतु प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति होती है जिसमें सामाजिक गुण निहित होता है। यह समूह के लिए आदर्श होती है। मानव समाज की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति जैसे- सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताएं भी पूरी करती है।

संस्कृति संतुलित व संगठित होता है। संस्कृति के दो प्रकार भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति हमारे समाज को परिवर्तित करते हैं। भौतिक संस्कृति आधुनिकता की देन है, अभौतिक संस्कृति प्राचीनता की। भौतिक संस्कृति के युग में हम तरक्की की हर वस्तु का निर्माण कर रहे हैं जैसे- शिक्षा का आधुनिकीकरण, तकनीकी सुविधा के अंतर्गत मशीनरी वस्तुओं का उपयोग, विलासिता की वस्तुएं

जैसे-पंखा, टीवी, कूलर, ए.सी., फ्रिज, टेलीफोन, वायुयान, वाद्ययंत्र, रेल, जहाज, पेन, मोटर, मशीन, घड़ी, औजार आदि का उपयोग कर रहे हैं वहीं अभौतिक संस्कृति जो अमूर्त है जिसे हम देख नहीं सकते सिर्फ अनुभव या एहसास कर सकते है जैसे- विश्वास, आचार-विचार, व्यवहार, प्रथा, रीति-रिवाज, मनोवृत्तियां, ज्ञान, कला, भाषा, नैतिकता, क्षमताओं आदि का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार आज भौतिक संस्कृति का विकास तेजी से होता जा रहा है और अभौतिक संस्कृति पिछड़ती जा रही है जिससे सांस्कृतिक विलंबना की स्थिति उत्पन्न हो रही है।

8.8 परिभाषिक शब्दावली

भौतिक संस्कृति- के अंतर्गत वे चीजें आती हैं जिसका मनुष्य स्वयं निर्माण करता है जैसे- मकान, मोटर, घड़ी, पुस्तक, कलम, चश्मा, गाड़ी, जहाज, टेबल, कुर्सी आदि यह आधुनिकता का वर्तमान प्रतीक हैं।

सास्कृतिक विलंबना - अभौतिक संस्कृति की तुलना में भौतिक संस्कृति जब आगे बढ़ जाती है और अभौतिक संस्कृति पिछड़ जाती है तो इसे ही आर्गबर्न ने सांस्कृतिक विलंबना कहा है।

प्रौद्योगिकी- यह मानव की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव निर्मित यंत्रों, उपकरणां और शिल्पकला के संबंध में बताता है।

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. दो प्रकार, भौतिक तथा अभौतिक
2. आर्गबर्न ने
3. अभौतिक संस्कृति अमूर्त है।
4. हरस्कोविट्स
5. भौतिक संस्कृति (आधुनिकता का स्वरूप)

बोध प्रश्न-2

1. इस प्रश्न के उत्तर इकाई के 8.2 भाग को पढ़कर लिखिए।

2. इस प्रश्न के उत्तर के लिए इकाई के 8.3 भाग को पढ़कर लिखिए।

3. भौतिक संस्कृति मूर्त होती है/अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है।

8.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

Benedict, Ruth, Patterns of Culture, Houghton.k Mffilin Co.k. Boston, 1934.

Beals, Ralph L.k. and Hoijer, Harry, An Introduction to Anthropology, New York, Macmillan, 1956.

Linton, Ralph, The Study of Man, New York, Appleton-Century-Crofts, 1964.

Ogburn, William F., Social Change, New York, Viking, 1922.8.11

8.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय समाज व संस्कृति- रवींद्र नाथ मुकर्जी (विवेक प्रकाशन)।

2. ग्रामीण समाजशास्त्र - जी.के. अग्रवाल (विवेक प्रकाशन)।

3. यूनीफाइड समाजशास्त्र- रवींद्र नाथ मुकर्जी, भरत अग्रवाल (विवेक प्रकाशन)।

4. Social Work - G.R.k Madan, Vivek Prakashan

5- Rural Sociology – V.N.k Singh, Vivek Prakashan

6- Rural & Urban Sociology ,G.K. Agarwal, SEPD,Agra

7- Indian Society & Culture – R.N. Mukherjee,Vivek Prakashan.

8.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. संस्कृति से आप क्या समझते हैं संस्कृति की विशेषताओं को बताते हुए संस्कृति के स्वरूप को समझाइए।

2. संस्कृति का अर्थ समझाते हुए संस्कृति के महत्व का वर्णन कीजिए।

इकाई 9- मानदंड, मूल्य एवं प्रथा

Norms, Values & Custom

इकाई की रूपरेखा

9.0 परिचय

9.1 उद्देश्य

9.2 मानदंड की अवधारणा

9.3 मानदंड की विशेषताएं

9.4 मानदंड के प्रकार

9.4.1 - निर्देशात्मक मानदंड

9.4.2 - निषेधात्मक मानदंड

9.4.3 - लोकरीतियों एवं उनकी विशेषताएं

9.4.4 - लोकाचार एवं उनकी विशेषताएं

9.5 मूल्य की अवधारणा

9.6 मूल्य की विशेषताएं

9.7 मूल्य के प्रकार

9.7.1 - नैतिक मूल्य

9.7.2 - बुद्धिसंगत मूल्य

9.7.3 - सौंदर्य परक मूल्य

9.8 प्रथा की अवधरणा एवं विशेषताएं

9.9 प्रथा का महत्व

9.10 सारांश

9.11 अभ्यास प्रश्न

9.12 पारिभाषिक शब्दावली

9.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.0 परिचय

समाज में रहने वाले प्रत्येक प्राणी से आशा की जाती है कि वह समाज के नियम कानून एवं प्रथा या परंपरा को अवश्य जाने। जिसे सामाजिक भाषा में मूल्य, मानदंड एवं प्रथा कहते हैं। इस इकाई में हम इन सामाजिक शब्दों को विस्तार से जानेंगे या अध्ययन करेंगे। मानदंड शब्द से तात्पर्य समाज के वे नियम हैं। जो सांस्कृतिक विशेषताएं, सामाजिक मूल्यों और समाज द्वारा स्वीकृत विधियों के अनुसार किसी विशेष परिस्थिति में व्यक्ति को एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने का निर्देश देते हैं, सामाजिक प्रतिमानों का संबंध् सामाजिक उपयोगिता से होता है। सामाजिक प्रतिमानों की प्रकृति सरल होती है तथा बिना अधिक सोचे-विचारे मनुष्य इसका अनुसरण करता है। सामाजिक मूल्य वे मानक या धरणाएं हैं जिनके आधार पर हम किसी व्यक्ति के व्यवहार, वस्तु के गुण, लक्ष्य, साधन एवं भावनाओं आदि का उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा ठहराते हैं यह गतिशील होते हैं। इनका काम समाज में एक रूपता स्थपित करना है तथा सामाजिक क्षमता का मूल्यांकन करना। प्रथा से तात्पर्य यह कि प्रथा व्यवहार का वह तरीका है जिसे एक विस्तृत क्षेत्र में संपूर्ण समाज की स्वीकृति प्राप्त है। इन्हें व्यक्ति बिना सोचे-विचारे ग्रहण कर लेता है।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः-

- मानदंड की अवधारणा एवं विशेषताओं के बारे में जान सकेंगे।

- मानदंड के प्रकारों के बारे में आप जान सकते हैं।
- मूल्य की अवधारणा एवं विशेषताओं के बारे में आप जान सकते हैं।
- मूल्यों के प्रकारों के बारे में आप जान सकते हैं।
- प्रथाओं की अवधारणा एवं विशेषताओं के विषय में जान सकते हैं।
- प्रथाओं के महत्व के विषय में जान सकेंगे।

9.2 मानदंड की अवधारणा

प्रत्येक समाज के अंतर्गत कुछ ऐसे पूर्व निर्धारित मानदंड या आदर्श पाए जाते हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर ही लोग व्यवहार करना पसंद करते हैं। समाज अपने सदस्यों के लिए कुछ इस ढंग का मानदंड निर्धारित कर देता है जिसका पालन समाज की अपेक्षा होती है, उसे ही समाजशास्त्रीय भाषा में आदर्श या मानदंड (Norms) कहा जाता है। मानदंड़ के माध्यम से समाज व्यक्तियों के व्यवहार का निर्धारण करता है। यह सामाजिक नियंत्रण का एक प्रमुख उपकरण है। मानदंड सामाजिक संरचना का एक प्रमुख तत्व है जो सामाजिक संरचना का संचालन करता है। यहां ध्यान देने का बात यह है कि बहुत लोग मानदंड को एक सांख्यिकी Statistical Average मानते हैं। समाज में मानदंड की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इससे लोगों को ज्ञान होता है कि किस परिस्थिति में उन्हें कौन-सा व्यवहार करना चाहिए और कौन सा नहीं। प्रत्येक समाज में किसी न किसी प्रकार के मानदंड की आवश्यकता अवश्य होती है क्योंकि कोई भी समाज मानदंड के अभाव में कभी नहीं चल सकता है। मानदंड समाज में व्यक्तियों के व्यवहार का संचालक है।

मानदंड के पालन के संबंध में एक दूसरी स्थिति यह है कि समाज के तमाम लोग समान रूप से उस मानदंड का पालन नहीं करना चाहते हैं। लेकिन समाज यह चाहता है कि हर सदस्य समान रूप से मानदंड का अनुसरण करे। मानदंडों का अनुकरण कराने के लिए समाज में दंड-विधान (Sanction) की व्यवस्था होती है। जो लोग इसका अनुकरण करते हैं, समाज उन्हें शाबाशी देता है और जो लोग इसका उल्लंघन करते हैं, समाज उन्हें विभिन्न प्रकार से दंडित करने का प्रयास करता है। दंड-विधान औपचारिक (Formal) एवं अनौपचारिक (Informal) दोनों हो सकता है। आधुनिक समाज में दंड विधन के लिए पुलिस एवं न्यायालय की व्यवस्था होती है जिसके माध्यम से व्यक्तियों के व्यवहार में अनुकूलता (Conformity) लाई जाती है। जुर्माना, कैद या फांसी की सजा औपचारिक नकारात्मक

दंड-विधान (Formal Negative Sanction)के उदाहरण हैं। अच्छा काम करने वालों को कभी कोई उच्च जिम्मेदारी का पद दिया जाता है । तो कभी प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति की ओर से किसी खास अवसर पर सम्मानित भी किया जाता है। इसे औपचारिक सकारात्मक दंड-विधान (Formal Positive Sanction) कहा जाता है। किसी मानदंड के पीछे यदि दंड व्यवस्था नहीं रहे तो समाज में लोगों के व्यवहार में अनुकूलता (Conformity) पैदा करना मुश्किल हो जाएगा और इस स्थिति में समाज अव्यवस्था या अराजकता (Anarchy) की स्थिति में पहुंच जायेगा। इसी अवस्था को Emile Durkheim ने मानदंड शून्यता (Anomie Normlessness) कहा है।

9.3 मानदंड की विशेषताएं

मानदंड की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं-

- मानदंडों को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है। मानदंडों के निर्माण में व्यक्ति की भूमिका गौण होती है। इसका निर्माण और विघटन दोनों सामुदायिक या सामाजिक स्तर पर होता है, व्यक्ति विशेष के स्तर पर नहीं।
- मानदंडों का समाज में समय के साथ स्वतः विकास होता है। कानून को छोड़कर अन्य तमाम मानदंडों का विकास किसी योजना के तहत नहीं होता है। कोई सामाजिक मानदंड कब और कहां विकसित हुआ यह उस समाज के लोगों को नहीं मालूम होता है।
- मानदंड औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही हो सकता है। औपचारिक मानदंड लिखित होता है और अनौपचारिक मानदंड अलिखित और मौखिक होता है।
- मानदंड सापेक्षिक रूप से ज्यादा स्थायी होता है। कुछ लोगों की कोशिश के बावजूद मानदंडों में आसानी से परिवर्तन नहीं हो पाता है।
- मानदंडों पर अमल करने के लिए प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी प्रकार का दंड-विधान होता है। जो लोग मानदंडों का उल्लंघन करते हैं, समाज उन्हें दंडित करने का प्रयास करता है। दूसरी तरफ जो लोग मानदंडों को ध्यान में रखकर अच्छा व्यवहार करते हैं, समाज उन्हें पारितोष या शाबाशी देता है।

- मानदंड सामाजिक नियंत्रण के एक अभिकरण के रूप में काम करता है। प्रत्येक समाज की अपेक्षा यह होती है कि उसका प्रत्येक सदस्य समान परिस्थिति में समान आचरण करे।
- मानदंड व्यक्तियों के लिए समाज में प्रकाश स्तंभ का काम करता है। मानदंड व्यक्तियों को यह निर्देश देता है कि उसे कौन-सा आचरण करना है और कौन-सा नहीं करना है।
- मानदंडों का संबंध सामाजिक नैतिकता से भी है। इसे हम विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर सही या गलत नहीं सकते हैं, क्योंकि मानदंडों के अनुसार सामाजिक उपयोगिता एवं आवश्यकताएं स्वतः विकसित एवं परिवर्तित होती रहती हैं।

9.4 मानदंड के प्रकार

मानदंड दो प्रकार के होते हैं-

9.4.1 निर्देशात्मक मानदंड (Prescriptive Norms)

9.4.2. निषेधात्मक मानदंड (Proscriptive Norms)

9.4.1 निर्देशात्मक मानदंड

जिस मानदंड से हमारा आचरण निर्देशित होता है, उसे निर्देशात्मक मानदंड कहा जाता है लेकिन समाज यदि यह मानता है कि लोगों को अपने माता-पिता का आदर करना चाहिए तो उसे निर्देशात्मक मानदंड कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, समाज जो नहीं करने की इजाजत देता है उसे निषेधात्मक मानदंड कहा जाता है और जो व्यवहार समाज अपने सदस्यों को खास ढंग से संपादन करने की अपेक्षा रखता है । उसे निर्देशात्मक मानदंड कहा जाता है। निर्देशात्मक एवं निषेधात्मक मानदंड में क्या फर्क है।

9.4.2 निषेधात्मक मानदंड

जो मानदंड हमें किसी आचरण को करने की इजाजत नहीं देता है उसे निषेधात्मक मानदंड कहा जाता है। जैसे प्रत्येक आधुनिक समाज यह अपेक्षा रखता है कि सार्वजनिक स्थानों पर किसी को नग्न नहीं घूमना चाहिए। यह एक निषेधात्मक मानदंड का उदाहरण है।

समाज में कुछ वैसे भी मानदंड होते हैं जो सार्वभौम होते हैं। समाज के हरेक सदस्य को उस मानदंड के अनुसार ही आचरण करना है। वैसे आदर्श या मानदंड को सामुदायिक मानदंड (Communal Norms) कहा जाता है। दूसरी तरफ समाज में कुछ वैसे भी मानदंड होते हैं जो समाज के विभिन्न उपखंडों के स्तर पर पाए जाते हैं, उसे बीयरस्टेट ने सहचारी मानदंड (Associational Norms)कहा है। जैसे भारतीय समाज में अपने गुरूजनों को प्रणाम करना सामुदायिक मानदंड (Communal Norms) कहा जाता है। हिंदुओं के द्वारा जनेऊ धारण करना एक सहचारी मानदंड (Associational Norms) है, क्योंकि हिंदु समाज में तमाम जातियों के लिए समान रूप से यह आवश्यक नहीं रहा है।

जो आज सामुदायिक मानदंड हैं, वह कल सहचारी मानदंड भी हो सकता है। उसी तरह जो आज सहचारी मानदंड है, वह कल सामुदायिक मानदंड भी हो सकता है। कभी ऐसा भी होता है कि सामुदायकि मानदंड एवं सहचारी मानदंड समय के साथ समाप्त हो जाता है और उसकी जगह कोई नया सामुदायिक मानदंड एवं सहचारी मानदंड स्थापित हो जाता है।

कुछ समाजशास्त्रियों ने मानदंड को एक दूसरे ढंग से वर्गीकृत किया है, जैसे-

वास्तविक मानदंड ;(Real Norms) एवं **नैतिक मानदंड** (Idealized Norms) जैसे-यदि यह कहें कि अहिंसा परम धर्म है, झूठ नहीं बोलना चाहिए या हमें पूरी ईमानदारी से काम करना चाहिए। तो इसे नैतिक मानदंड कहा जाएगा। लेकिन व्यवहार में हम कुछ और ही करते हैं। क्रोध में हम थोड़ा हिंसक भी हो जाते हैं, अपने किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए झूठ भी बोल लेते हैं या कभी हम अपने कार्य में पूरी निष्ठा नहीं रखते हैं। समाज ऐसे साधरण नैतिक विचलनों को सहन करता है। कर्त्ता को इसके लिए कोई विशेष दंड नहीं दिया जाता है। यह भी एक किस्म का सामाजिक मानदंड है। इस प्रकार वास्तविक जीवन के आचरण को हम वास्तविक मानदंड कहते हैं।

9.4.3 लोकरीतियां एवं उनकी विशेषताएं

दुनिया का प्रत्येक समाज विभिन्न प्रकार के सामाजिक नियम-कानूनों से चलता है, जिसे समाजशास्त्र के क्षेत्र में मानदंड (Norms) कहा जाता है। अमेरिकन समाजशास्त्री समनर, (Wiiliam Gram Sumner) ने तमाम सामाजिक नियम-कानूनों, मान्यताओं एवं दस्तूरों को दो भागों में

विभाजित किया, जिसे लोकरीतियां (Folways) एवं लोकाचार (Mores)कहा है। दूसरी तरफ हम यहां यह देख रहे हैं कि लोकरीति मानदंड का एक हिस्सा मात्रा हैं।

लोकरीति का शाब्दिक अर्थ होता है, आम लोगों के रीति-रिवाज । मनुष्य की आवश्यकताएं अनंत हैं और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह बहुत तरह के नियमों का निर्माण या आविष्कार करता रहा है, लेकिन नियमों का विकास भौगोलिक एवं आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में ही होता है, इसीलिए हर समाज की अलग-अलग लोकरीतियां होती हैं।

समनर ने बताया है कि लोकरीतियों का तात्पर्य व्यवहार के उन अपेक्षित एवं संचित तरीकों से है जो एक विशेष परिस्थिति में सामाजिक क्रियाओं की आवश्यकता को पूरा करने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोकरीतियों की उत्पत्ति विचारपूर्ण ढंग से होती है तथा समस्त सामाजिक समूह उसे स्वीकार करता है। समाज प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा रखता है कि किस परिस्थिति में उसे किस ढंग से व्यवहार करना चाहिए। व्यवहारों की अपेक्षा हर समाज में अलग-अलग प्रकार की होती है। इसीलिए प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी लोकरीतियां होती हैं। किसी व्यक्ति को किस प्रकार बैठकर भोजन करना चाहिए, किसी से मिलने पर किस ढंग से अभिनंदन करना चाहिए, विदाई के समय कैसा व्यवहार करना है, किस अवसर पर किस प्रकार का वस्त्र पहनना है, महिलाओं के साथ पुरूषों का व्यवहार कैसा होगा, बच्चे बड़ों के साथ किस प्रकार बातचीत करेंगे, इस प्रकार के हजारों अपेक्षित व्यवहारों को लोकरीति कहा जाता है। सामाजिक संरचना की हिफाजत लोकरीति समाज की सांस्कृतिक बुनियादी ढांचे को बनाए रखने में मदद करता है। इसके द्वारा हम अपनी आवश्यकताओं को सहजतापूर्वक पूरा करते हैं। लोकरीति के माध्यम से समाज और संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट होता है। आचरण में सहजता व्यक्तियों को किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका ज्ञान लोकरीति के माध्यम से होता है। इतना ही नहीं, लोगों को लोकरीति के द्वारा यह भी मालूम होता है कि किस समय कौन-सा काम करना चाहिए, किस काम को कैसे करना चाहिए, कौन-सा काम उचित और कौन-सा अनुचित है इत्यादि। लोकरीति एक प्रकार का प्रारूप है, जिसके आधार पर व्यक्ति समाज में आचरण करता है।

लोकरितियों की विशेषताएं-

एक स्वीकृत विधि के रूप में- लोकरीति समाज की एक स्वीकृत विधि का नाम है। हर समाज ने अपने अनुभवों के आधार पर एक लम्बे समय में यह तय किया है कि किस अवसर पर किसी

व्यक्ति के लिए कौन-सा व्यवहार सही होगा, ऐसा समाज ने अपने हितों की हिफाजत के लिए किया है। जिस सामाजिक व्यवहार को समाज स्वीकृत नहीं करता, उसे लोकरीति नहीं कहा जा सकता। लोकरीति कहे जाने के लिए यह जरूरी है कि समाज के अधिकांश लोग उसे स्वीकार करते हों।

लोकरीति एक गत्यात्मक परंपरा है- चूंकि लोकरीति का आधार परंपरागत आचार एवं व्यवहार है इसीलिए हमें यह नहीं मानना चाहिए कि वह एक स्थिर व्यवस्था है। लोकरीतियां समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती हैं। कुछ लोकरीतियां पुरानी होकर समाप्त हो जाती हैं, तो कुछ पहले से ज्यादा प्रचलित हो जाती हैं, कभी-कभी नई लोकरीतियां भी समाज में पैदा हो जाती हैं। आमतौर पर लोकरीतियों की परंपरा एकदम समाप्त नहीं होती। पुरानी लोकरीतियों के साथ नई लोकरीतियां जुड़ जाती हैं। इस तरह लोकरीति निरंतर विकसित और संग्रहीत होती रहती हैं।

एक सांस्कृतिक तत्व के रूप में- लोकरीति संस्कृति का एक प्रमुख तत्व है। हर संस्कृति में अलग-अलग प्रकार की लोकरीतियां पायी जाती हैं। लोकरीतियों के आधार पर हम एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति को अलग कर सकते हैं। यह विश्व की हर संस्कृति में पाई जाती हैं। अर्थात् लोकरीति संस्कृति का एक विश्वव्यापी तत्व है।

एक अमूर्त व्यवस्था- लोकरीति एक अमूर्त सामाजिक व्यवस्था है। इसे हम आचार-व्यवहार में देख सकते हैं, पर इसका कोई भौतिक स्वरूप नहीं होता है। यह एक व्यक्तिनिष्ठ तथ्य (Subjective Phenomenon) है। इसकी उत्पत्ति संपूर्ण सामाजिक चिंतनशैली एवं व्यवहार से होती है। समाज के कुछ लोगों के व्यवहार से लोकरीति नहीं बनती। जबतक समाज के तमाम लोग उसे अच्छा मानकर स्वीकार नहीं करते, तबतक कुछ व्यक्तियों के व्यवहार को लोकरीति नहीं कहा जा सकता।

सामाजिक संरक्षण- हर लोकरीति को सामाजिक संरक्षण प्राप्त होता है। चूंकि समाज अपनी लोकरीति में विश्वास रखता है इसीलिए उसका विरोध् करने वालों का समाज विरोध करता है। जो लोग अपने समाज की लोकरीतियों का उल्लंघन करते हैं, उसे समाज अच्छे व्यक्ति के रूप में नहीं लेता है। कभी समाज उसकी निंदा करता है, तो कभी समाज उसे हलके-फुलके ढंग से दंडित करने का भी प्रयास करता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि लोकरीति की हिफाजत में ही समाज अपनी हिफाजत देखता है। लोकरीति के आधार पर समाज व्यक्तियों का समाजीकरण Socialization

करता है। इस तरह समाजीकरण के द्वारा लोकरीति और सामाजिक संरचना को एक निरंतरता मिलती है।

9.4.4 लोकाचार एवं उनकी विशेषताएं

लोकरीति की तरह लोकाचार पर भी सबसे पहले अमेरिकन समाजशास्त्री समनर ने ही विचार किया था। उन्होंने अपनी पुस्तक Folkways में पहली बार लोकाचार More को Folway से अलग किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हरेक समाज कुछ खास किस्म के नियमों से चलता है। उन्हीं नियमों में कुछ वैसे नियम भी होते हैं, जिन्हें समाज किसी को तोड़ने की इजाजत नहीं देता है। उन्हें तोड़ना समाज बिल्कुल अनैतिक मानता है। अतः इन नियमों को तोड़ने वाले को समाज दंड भी देता है। वैसे तमाम नियमों को समनर ने लोकाचार कहा है। जैसे- उत्तर भारत के हिंदू समाज में चचेरे, ममेरे एवं फुफेरे भाई-बहनों के बीच शादी-विवाह वर्जित है। जो लोग इस नियम-कानून का उल्लंघन करेंगे, समाज उन्हें वहिष्कार कर दंडित करता है। इसलिए लोग इस ढंग के लोकाचार का उल्लंघन करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते हैं।

मैकाइवर एवं पेज ने लोकाचार के बारे में कहा है कि लोकाचार एक प्रकार का व्यक्तियों के आचरण का नियंत्रक है। लोकाचार को हमेशा समाज के द्वारा सही और नैतिक माना जाता है। लोकाचार एक ऐसा नैतिक नियम या मूल्य है, जिसे समाज कभी भी टूटते हुए नहीं देख सकता है। चूंकि लोकाचार को समाज के तमाम व्यक्ति की स्वीकृति रहती है इसीलिए उसके टूटने से समाज में बेचैनी होती है। लोकाचार को समाज अपने स्थायित्व का आधार मानता है। उसे तोड़ने वाले को समाज विभिन्न तरह से दंडित करने का प्रयास करता है। यदि कोई व्यक्ति समाज के प्रचलित तरीकों के खिलाफ अपने ढंग से वस्त्र पहनता है तो उसे लोकरीति का उल्लंघन माना जाएगा पर यदि कोई नंगा होकर सड़क पर घूमने का प्रयास करता है तो उसे लोकाचार का उल्लंघन कहा जाएगा। इस ढंग के अभद्र व्यवहार को समाज पूरी तरह अनैतिक मानता है। समाज वैसे लोगों की निंदा करेगा या कुछ लोग ऐसे लोगों को गाली देंगे तो कुछ लोग उन पर ढेला-पत्थर भी फेंक सकते हैं। दूसरे शब्दों में लोकरीति जब पूरी तरह समाज के लिए नैतिक एवं लाभकारी मानी जाती है तो लोकरीति लोकाचार का स्थान ग्रहण कर लेती है। लोकरीति और लोकाचार में इतना ही फर्क है कि लोकचार का उल्लंघन करने वाले को समाज अधिक से अधिक दंड देने का प्रयास करता है। लोकरीति के साथ कोई बहुत

नैतिकता की बात नहीं होती है, पर लोकाचार को पूरी तरह नैतिक माना जाता है। लोकाचार का उल्लंघन एक प्रकार का निषेध माना जाता है।

यह सत्य है कि हर समाज में कुछ-न-कुछ लोकाचार अवश्य पाया जाता है, पर यह कोई जरूरी नहीं है कि जो एक जगह लोकाचार है वही दूसरी जगह पर लोकाचार हो। जैसे-मुसलमानों के बीच चचेरे, एवं फुफेरे भाई-बहनों के बीच शादी करना लोकाचार का उल्लंघन नहीं है। उत्तर भारत के हिंदुओं के बीच मामा-भगिनी के बीच विवाह लोकाचार का उल्लंघन है, जबकि दक्षिण भारत के हिंदुओं के बीच मामा-भगिनी का विवाह लोकाचार का समर्थन है। ऐसे लोकाचार बहुत कम हैं जो विश्व स्तर पर स्वीकार किए जाते हों। भाई-बहन, मा-बेटे या पिता-पुत्री के बीच वर्जित यौन-संबंध विश्वव्यापी लोकाचार के कुछ सीमित उदाहरण हैं-

यहां यह भी उल्लेख करना आवश्यक लगता है कि समय के साथ लोकरीति लोकाचार बन जाती है और लोकाचार लोकरीति।

लोकाचार भी एक प्रकार की लोकरीति है लेकिन यह आम किस्म की लोकरीति नहीं है। जब लोकरीति के साथ सामाजिक हित की बात जुड़ जाती है, तब उसे लोकाचार कहा जाता है। भारतीयों के द्वारा धोती और पायजामा पहनना एक प्रकार का लोकाचार है। उसी तरह हिंदुओं के द्वारा टीका लगाना, चोटी रखना या जनेऊ पहनना एक प्रकार की लोकरीति है। चोटी न रखना या धोती की जगह पतलून पहनना या चंदन-टीका नहीं करना, यह मात्रा लोकरीति का उल्लंघन है, लेकिन दूसरी तरफ निर्वस्त्र रहना, दो विभिन्न जातियों के बीच शादी करना या किसी वैचारिक मतभेद के चलते माता-पिता के साथ गलत व्यवहार करना लोकाचार का उल्लंघन है।

लोकचार का पालन करना अनिवार्य माना गया है। इसकी अवहेलना दंडनीय है। लोकाचार एक प्रकार का नैतिक मूल्य है। लोकाचार में समाज-कल्याण की भावना छिपी होती है इसीलिए तो कहा जाता है कि लोकरीति-सामाजिक कल्याण की भावना लोकाचार।

लोकाचार की विशेषताएं

सामाजिक नियंत्रण के एक साधन के रूप में- लोकाचार के द्वारा व्यक्तियों का व्यवहार समाज में निर्धारित होता है। चूंकि लोकाचार आचरण का एक प्रकार का प्रतिमान है इसीलिए समाज

यह अपेक्षा रखता है कि प्रत्येक व्यक्ति उसके अनुरूप व्यवहार करे। व्यक्तियों को अपने आचरण के बारे में यह सोचने की आवश्यकता नहीं रहती है कि उसे क्या करना है या क्या नहीं करना है। वह सामाजिक दबाव वश सामाजिक प्रतिमान के अनुरूप व्यवहार करता है।

समूह कल्याण की भावना- हरेक लोकाचार में समूह कल्याण की भावना छिपी होती है। प्रत्येक समाज यही मानता है कि उस समाज की भलाई इसी में है कि समाज के तमाम लोग एक लंबे समय से प्रचलित लोकाचार में विश्वास रखें।

नैतिक नियमों का समूह- लोकाचार समाज में प्रचलित नैतिक नियमों का समूह है, यह वैसे नैतिक नियमों का समूह है जिसके पीछे समाज का अधिकतम बल होता है। यही कारण है कि लोकाचार के पालन नहीं करने वाले लोगों को समाज दंडित करता है।

तार्किकता का अभाव- लोकाचार में तार्किकता का अभाव होता है। व्यक्ति को इस बात पर विचार करने की आजादी नहीं होती है कि यह नैतिक नियम सही है या गलत। समाज में चले आ रहे परंपरागत नियमों का उसे हर परिस्थिति में पालन करना होता है। समाज में रहने के कारण व्यक्ति अपने समाज के मूल्यों को बाध्य होकर स्वीकार करता है।

एक कठोर नियम- समाज बहुत तरह के नियमों से चलता है और जो नियम सबसे कठोर माना जाता है उसे ही लोकाचार कहा जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि साधारण नियमों को लोकरीति की श्रेणी में रखा जाता है। किसी नियम के कठोर होने की पहचान यही है कि समाज उसका उल्लंघन करने वाले को कितना दंडित करता है।

एक सामाजिक स्वरूप- लोकाचार का स्वरूप सामाजिक होता है। यह समय के साथ स्वतः समाज में विकसित होता है। समाज में इसका विकास और संचयन धीरे-धीरे चलता रहता है। राज्य के द्वारा बनाए गए कानूनों को लोकाचार नहीं कहा जा सकता है। लोकाचार से कानून की उत्पत्ति तो होती है पर कानून से शायद ही लोकाचार की उत्पत्ति होती है।

व्यक्ति और समाज के बीच एक कड़ी के रूप में- लोकाचार व्यक्ति को समाज से जोड़ता है। जो लोग लोकाचार के अनुसार समाज में चलते हैं, उन्हें समाज अच्छा मानता है। जो लोग इसका

विरोध करते हैं, उन्हें समाज अपना दुश्मन या पागल समझता है। लेकिन कभी-कभी महान क्रांतिकारी व्यक्ति लोकाचार विरोधी होते हैं और समाज उन्हें बुरा मानता है।

समाज में व्यक्तियों का व्यवहार मुख्य रूप से लोकरीतियों एवं लोकाचार से निर्धारित होता है। लेकिन राज्य के अंतर्गत नागरिकों के व्यवहार का नियंत्रण राज्य के कानून से होता है। कानून आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषता है क्योंकि प्रत्येक आधुनिक समाज के साथ राज्य अवश्य जुड़ा हुआ होता है। जिस प्रकार लोकाचार और लोकरीतियों का निर्माण समाज में स्वतः होता है, कानून का निर्माण उस तरह नहीं होता है। कानून तो कहीं कुछ लोग बैठकर सोच-समझकर, योजना (तरीके से) बनाते हैं। यह सही है कि कानून का निर्माण राजनीतिक नेताओं के द्वारा होता है, लेकिन इसका निर्माण सामाजिक नियम-कानून को ध्यान में रखकर ही किया जाता है, क्योंकि जो कानून सामाजिक मूल्यों एवं मान्यताओं का विरोधी होता है, समाज उसका विरोध करता है।

लोकरीतियों और लोकाचार के विपरीत आमतौर पर कानून लिखित होते हैं और जरूरत पड़ने पर न्यायपालिका इसका विश्लेषण करती है। न्यायपालिका का मुख्य काम राज्य के कानूनों को अमल कराना, इसका विश्लेषण करना है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि लोकरीतियों और लोकाचार का सहज ढंग से विकास होता है। जैसे किसी व्यक्ति को कैसे बैठना चाहिए, कैसे वस्त्र पहनने चाहिए या किस प्रकार भोजन करना चाहिए। तमाम ऐसी विभिन्न किस्म की लोकरीतियों का स्वतः विकास हुआ है। इनका विकास हमेशा सामाजिक अंतः क्रिया के द्वारा होता है। लेकिन कानून को विधानसभाओं और संसदों के माध्यम से निर्मित किया जाता है और न्यायालयों एवं पुलिस के माध्यम से उस पर अमल किया जाता है। राज्य सीधे रूप में अपने सदस्यों को कानून पालन करने के लिए बाध्य करता है, लेकिन लोकरीति एवं लोकाचार का पालन करवाने के लिए समाज आमतौर पर अप्रत्यक्ष ढंग से लोगों को बाध्य करता है।

कानून राज्य का औपचारिक मानदंड है। यह प्रत्येक आधुनिक समाज की विशेषता है। कानूनी मानदंड के पीछे राज्य की शक्ति होती है। आधुनिक समाज में जेल भेजना, जुर्माना लगाना, मौत की सजा सुनाना इत्यादि कानूनी मानदंडों को लागू करने का अधिकार केवल राज्य को ही प्राप्त है। कानून प्रायः रीति-रिवाजों एवं मूल्यों की व्युत्पत्ति होती है, परंतु सामाजिक मानदंड कानून का रूप तभी धारण करता है जब राज्य का उसे समर्थन प्राप्त होता है। संविधान अध्यादेश एवं औपचारिक व्यवस्था ;या नौकरशाही व्यवस्था की तमाम नियमावली एवं परंपरा कानून के अंतर्गत आती है।

सामान्यतया कानून का स्वरूप औपचारिक होता है। चूंकि कानून विभिन्न प्रकार के नियमों की तुलना में काफी विकसित और जटिल होता है, इसलिए यह आमतौर पर लिखित होता है। कानून को हम मुख्य रूप से दो भागों में बांट सकते हैं- (1) प्रथागत कानून एवं (2) पारित कानून। जिन कानूनों को सामाजिक प्रथाओं, मानदंडों, आदर्शों एवं विभिन्न प्रकार के नैतिक मूल्यों को ध्यान में रखकर विकसित किया जाता है, उन्हें प्रथागत कानून कहते हैं, जैसे- भारत में Hindu Law एवं Muslim Law प्रथागत कानून के उदाहरण हैं। प्रथागत कानून हमेशा लिखित ही नहीं होते हैं। बहुत सारे आदिम जातियों के बीच भी प्रथागत कानून पाए जाते हैं जिन्हें अभी तक संहिता का स्वरूप नहीं दिया गया है।

जटिल या आधुनिक समाजों के अंतर्गत पारित कानूनों की प्रधानता होती है। आधुनिक समाजों में भाषा एवं लिपि के विकास के कारण कानूनों का स्वरूप लिखित होता है। विधान-सभाओं, विधान परिषदों एवं संसदों के द्वारा जिन कानूनों का निर्माण किया जाता है, वे तमाम पारित कानून कहलाते हैं। पारित कानून हमेशा किसी निश्चित योजना के तहत किसी खास समय में विकसित किया जाता है। कार्यपालिका के द्वारा इसको लागू किया जाता है और न्यायपालिका के द्वारा इसकी रक्षा की जाती है। पारित कानून जितनी आसानी से योजनाबद्ध तरीके से निर्मित होता है, उतनी ही आसानी से योजनाबद्ध तरीके से परिवर्तित भी होता है। कानून आधुनिक राज्य का एक ऐसा अभिकरण है जिससे उस राज्य में रहने वाले तमाम लोगों का आचरण नियंत्रित और निर्धारित होता है। भारत का संविधान पारित कानून का एक उदाहरण है।

9.5 मूल्य की अवधारणा

मूल्य 'जो होना चाहिए' से संबंधित एक विचार का नाम है। यह हमारे विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को प्रभावित करता है। मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवस्था के साथ बहुत गहराई से जुड़ा होता है। मूल्य जीवन के उद्देश्यों और उन्हें प्राप्त करने के साधनों को स्पष्ट करता है। हमारी तमाम सामाजिक गतिविधियां मूल्यों से जुड़ी होती हैं। समाजशास्त्र में मूल्य एक प्रकार का मानदंड है पर साधारण मानदंड को हम मूल्य नहीं कहते हैं। जो उच्च कोटि के मानदंड होते हैं उन्हें ही जॉनसन ने मूल्य कहा है। सामाजिक मूल्य से हमें यह ज्ञात होता है कि कौन सा आचरण समाज के लिए सबसे अधिक अपेक्षित है। मूल्य के साथ हमेशा यह भाव जुड़ा हुआ होता है कि समाज के लिए सबसे

अधिक जरूरी क्या है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो मानदंड समाज के लिए सबसे अधिक वांछनीय हैं उसे ही मूल्य कहा जाता है।

जो हमें यह बताता है कि क्या सही है, क्या गलत है, क्या वांछनीय है, क्या अवांछनीय है, क्या अच्छा है, क्या बुरा है, वही मूल्य कहलाता है। इन्हीं विचारों को हम ध्यान में रखकर समाज में आचरण करते हैं। मूल्यों का स्वरूप अमूर्त होता है। मूल्य समाज के आदर्श होते हैं। समाज के तमाम सदस्यों का अपने समाज के मूल्यों के प्रति एक संवेगात्मक संबंध होता है। प्रत्येक हिंदू अपने धार्मिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार यह मानकर कर रहा है कि यही सही आदर्श है। उसी प्रकार मुस्लिम भी अपने ही मजहब को ध्यान में रखकर रोजमर्रे की जिंदगी में व्यवहार कर रहे हैं। वही उनके समाज का आदर्श है। यदि लोगों को अपने मूल्यों के प्रति संवेगात्मक लगाव नहीं हो तो लोग अपने सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार नहीं करेंगे।

मूल्य के साथ चार प्रमुख बातें हैं जिसे गहराई से समझने के लिए हमें ध्यान में रखना चाहिए।

1. मूल्य कई स्तरों पर पाया जाता है, इस अर्थ में कि कुछ मूल्य सापेक्षिक रूप से ज्यादा अमूर्त होते हैं तो कुछ कम। प्रजातंत्र के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रता का विरोध् करने का अधिकार एक सामान्य प्रकार का मूल्य है। ईश्वर सर्वव्यापी या सर्वशक्तिमान है, यह एक प्रकार का अमूर्त सामाजिक मूल्य है।

2. मूल्यों को उसकी महत्ता के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जा सकता है क्योंकि तमाम मूल्य समान महत्व के नहीं होते हैं। जैसे-झूठ नहीं बोलना चाहिए, हमें रोज भगवान का ध्यान करना चाहिए इत्यादि। हिंदुओं के लिए यह मूल्य उतना प्रमुख नहीं है जितना यह कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही धर्मया जाति में विवाह करना चाहिए।

3. कुछ मूल्य काफी स्पष्ट होते हैं तो कुछ अस्पष्ट। अर्थात तमाम मूल्य समान रूप से स्पष्ट नहीं होते हैं। जैसे-हमें बड़ों का आदर करना चाहिए। यह मूल्य उतना स्पष्ट नहीं है क्योंकि हम अपने से प्रत्येक बड़े व्यक्ति का समान रूप से आदर करने के लिए समाज में बाध्य नहीं हैं। व्यवहार में उम्र के साथ-साथ उनकी जाति, धर्म, शिक्षा और पेशा को ध्यान में रखकर ही अपने से बड़ों के प्रति आचरण करते हैं। दूसरी तरफ, हिंदु समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही जाति में विवाह करना है, यह हिंदु समाज का एक स्पष्ट और निश्चित मूल्य है।

कभी-कभी एक मूल्य दूसरे मूल्य के विरोधी भी होते हैं। समाज जितना बड़ा होता है वहां मूल्यों के बीच संघर्ष भी उतना ही अधिक होता है। विभिन्न मूल्यों के बीच अक्सर संघर्ष होता है। जैसे- भारत एक धर्म प्रधान देश है। यहां सहिष्णुता, भाईचारा, ईमानदारी इत्यादि का पाठ पढ़ाया जाता है लेकिन भौतिकवादी मूल्यों के कारण हम धन इकट्ठा करने के लिए उन सारे मूल्यों को नकार देते हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए हम कुछ भी गलत करने को तत्पर हो जाते हैं। जातीय और धार्मिक उन्माद में फंसकर हम भाईचारे और सहिष्णुता के मूल्यों को श्रद्धांजलि दे बैठते हैं।

4. मूल्य कभी भी स्थिर नहीं होता है। समय और परिस्थितियों के बदलाव के साथ उसमें परिवर्तन आता रहता है। जैसे एक समय था जब भारत के लोग संभवत: काफी नैतिक और धार्मिक हुआ करते थे। गलत काम करने के पहले उन्हें कई बार सोचना पड़ता था। किसी बात पर निर्णय लेते समय वे यह ध्यान रखते थे कि वे जो कर रहे हैं वह धर्म –विरुद्ध है या नहीं। उन्हें इस बात की चिंता होती थी कि अनैतिक काम करने पर उन्हें नरक जाना होगा। आज उसी समाज में लोगों के दिमाग में परमात्मा, स्वर्ग और नरक की बात शायद ही आती है। अधिकांश लोग इतने भौतिकवादी हो गए हैं कि शक्ति और संपत्ति हासिल करने के लिए कोई भी गलत काम करने से नहीं हिचकते हैं।

9.6 मूल्य की विशेषताएं

मूल्य की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार होती हैं-

- मूल्यों का कोई स्वरूप नहीं होता है क्योंकि यह एक संज्ञानात्मक तत्व है। इसका स्वरूप अमूर्त होता है। यह अगोचर और सामान्यतया अलिखित होता है। यह मनुष्यों के सामाजिक व्यवहार में परिलक्षित होता है। यह सामूहिक महत्व की आवधारणा है। इसके निर्माण में समस्त समाज की भागीदारी होती है। यह एक लंबे समय तक चलने वाली सामाजिक अंतः क्रिया का फल है। समाज नियोजित ढंग से इसका निर्माण नहीं करता है। यह समाज के विभिन्न सदस्यों को एक दूसरे से जोड़ने का भी काम करता है।

- मूल्य एक सामाजिक मानक होता है। यह लक्ष्मण रेखा की तरह है। उसका उल्लंघन करने वाला सामाजिक मर्यादा का विरोधी माना जाता है। इसके आधार पर किसी व्यक्ति का आचरण अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित, वांछित या अवांछित करार किया जाता है।

यह साधारण मानदंड से काफी ऊपर के स्तर का मानक है। मूल्यों के प्रति समाज का एक संवेगात्मक लगाव होता है। मूल्यों को तोड़ने वाले व्यक्तियों को समाज दंडित करता है। यह जरूरी भी है क्योंकि मूल्य समाज का लक्ष्य माना जाता है। जैसे- तमाम जीवों से प्यार जैन धर्म का एक प्रमुख मूल्य है। जीव हिंसा करने वाले व्यक्तियों के लिए जैन धर्म में कोई स्थान नहीं है। हिंदु नारियां अपने स्त्रीत्व की रक्षा के लिए अपने आपको बलिदान करने के लिए तैयार रहती हैं। यह उनके जीवन के मूल्यों के साथ संवेगात्मक लगाव का परिणाम है।

- मूल्यों से समाज में एकता की भावना का संचार होता है। समान मूल्य को मानने वाले लोग समान परिस्थिति में समान व्यवहार करते हैं। जब हमारे देश पर किसी बाहरी शत्रु का आक्रमण होता है तो मूल्यों की समानता के कारण हम तमाम लोग मर-मिटने को तैयार हो जाते हैं।

- मूल्य सापेक्षिक रूप से स्थिर होता है। मूल्यों में परिवर्तन आसानी से नहीं होता है। कोई भी समाज आसानी से बदलना नहीं चाहता है। जहां तक संभव होता है समाज अपने मूल्यों की हिफाजत की पूरी कोशिश करता है। मूल्यों में परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन होना निश्चित हो जाता है। मूल्य सामाजिक नियंत्रण के एक अभिकरण के रूप में कार्य करता है।
  मूल्यों में सामाजिक कल्याण की एक भावना छिपी होती है। समाज अपने मूल्यों में अटूट विश्वास रखता है क्योंकि समाज के हितों को संरक्षण मिलता है। मूल्यों का टूटना या बिखरना सामाजिक विघटन का एक प्रमुख सूचक है। मूल्य सामाजिक संरचना को बनाए रखने में मदद करता है। मूल्यों के माध्यम से समाज के सदस्यों के बीच संतुलन बना रहता है।

9.7 मूल्य के प्रकार

सामान्यतौर पर मूल्यों को हम तीन भागों में बांट सकते हैं, जिनकी संक्षेप में यहां चर्चा की जा रही है-

9.7.1 नैतिक मूल्य

प्रत्येक समाज के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के नैतिक मूल्य पाए जाते हैं। इस नैतिकता का संबंध उस समाज के धर्म एवं विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों से होता है। नैतिक मूल्यों के साथ कोई वैज्ञानिकता की बात नहीं होती। वे सामूहिक तौर पर ऐसे स्वीकृत मानदंड होते हैं जिनका समाज बहुत ही कड़ाई से पालन करता है। लोगों को उसे अपने स्तर पर स्वीकार करने या न करने की छूट नहीं होती है। नैतिक मूल्य एक व्यक्ति विशेष से लेकर समस्त समाज पर समानरूप से लागू होते हैं, जैसे-माता-पिता का आदर करना चाहिए, चोरी नहीं करनी चाहिए, हिंदुओं को गौ-मांस नहीं खाना चाहिए, निकट संबंधियों के साथ यौन व्यभिचार नहीं करना चाहिए। यह तमाम हिंदु समाज के कुछ प्रमुख नैतिक मूल्यों में से हैं। समाज ऐसे मूल्यों को तोड़ने की इजाजत किसी को नहीं देता है, लेकिन कुछ ऐसे मूल्य हर समाज में पाए जाते हैं जिनका उल्लंघन होने पर समाज में बहुत नाराजगी नहीं जताई जाती है, जैसे- झूठ नहीं बोलना चाहिए। इस मूल्य के विपरीत हम धड़ल्ले से कुछ-न-कुछ झूठ हर रोज बोलते रहते हैं।

9.7.2 बुद्धिसंगत मूल्य

सामान्यतया सामाजिक मूल्यों का संबंध विवेक से नहीं होता, क्योंकि समाज अपने अनुभवों से एक लंबे समय में इनका स्वतः निर्माण करता है। मूल्यों के साथ कोई तर्क की बात नहीं होती है। यह तो एक प्रकार का सामूहिक विश्वास है। लेकिन विज्ञान के विकास के परिणामस्वरूप आधुनिक समाज में धीरे-धीरे विवेकपूर्ण मूल्यों का विकास हो रहा है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से हमारे चिंतन में वैज्ञानिकता आ रही है। एक समय था जब हमारा आचरण एवं विचार भाग्यवादी मूल्यों से कुछ ज्यादा ही प्रभावित था। हरेक व्यक्ति भाग्य के भरोसे ही कुछ पाने की बात सोचता था। लेकिन आधुनिक समाज में इस मूल्य में बदलाव आया है और उसकी जगह मेहनत और आत्मविश्वास पर काफी जोर दिया जा रहा है। आज लोग भाग्य के भरोसे न बैठकर कठिन-से-कठिन परिश्रम करने को तैयार हैं। कठिन परिश्रम एवं उच्च मनोबल आधुनिक समाज का महत्वपूर्ण बुद्धिसंगत मूल्य है।

9.7.3 सौंदर्यपरक मूल्य

विभिन्न प्रकार की साहित्यिक कृतियों, संगीत, विभिन्न प्रकार की कलाओं, रंग-रूप इत्यादि से संबंधित विचार सौंदर्यपरक मूल्य कहे जाते हैं। प्रत्येक समाज के अंतर्गत सौंदर्य के अलग-अलग

पहलू और स्वरूप हैं। भारतीय समाज में पतली कमर, लंबे घने काले बाल, गोरा रंग आदि नारियों के सौंदर्य का प्रतीक है, तो पाश्चात्य देशों में नारियों की सुंदरता का प्रतीक उनके सुंदर पैर और सुनहरे बाल हैं। दूसरी तरफ चीनी समाज में नारियों को पैर छोटा होना उनकी सुंदरता का प्रतीक है। उसी प्रकार विभिन्न समाज के अंतर्गत अलग-अलग किस्म के संगीत, हस्तकला, शिल्पकला एवं भवन निर्माण कला के स्वरूप पाए जाते हैं। इन विभिन्नताओं के पीछे सौंदर्यपरक मूल्यों की विभिन्नता है। अन्य प्रकार के मूल्यों की तरह सौंदर्यपरक मूल्य भी समय के साथ धीरे-धीरे बदलते रहते हैं और उसकी जगह नए प्रकार के सौंदर्यपरक मूल्य स्थापित होते रहते हैं। अन्य मूल्यों की तरह यह भी सर्वव्यापी मूल्य है।

9.8 प्रथा की अवधारणा/विशेषताएं

प्रथा शब्द का प्रयोग ऐसी जनरीतियों के लिए होता है जो समाज में बहुत समय से प्रचलित हो। प्रथा में भी समूह-कल्याण के भाव निहित होते हैं। यही कारण है कि कई बार प्रथा एवं लोकाचार का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। प्रथा को अलिखित कानून कहा जाता है।

जब जनरीतियों को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित किया जाता है तो वे प्रथाओं के नाम से जानी जाती हैं। प्रथाएं नवीनता की विरोधी होती हैं और ये कार्य करने के परंपरागत तरीके पर ही जोर देती हैं। प्रथा को शिथिल रूप में प्रायः लोकरीति कहा जाता है। लोकरीतियों एवं प्रथाओं के मध्य अंतर मात्रा का है।

अतः स्पष्ट है कि प्रथाएं हमारे सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। वे हमारी संस्कृति को निर्धारित करती हैं। इसका संरक्षण करती हैं एवं इसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करती हैं। उन्हें समाज के अस्तित्व के लिए नितांत आवश्यक समझा जाता है तथा इतना पवित्र माना जाता है कि उनका कोई उल्लंघन न केवल एक चुनौती अथवा अपराध अपितु ईश्वर के प्रकोप को आमंत्रित करने वाला अधार्मिक कार्य भी समझा जाता है।

प्रथा लोकतंत्रीय एवं समग्रवादी दोनों हैं। यह लोकतंत्रीय इसलिए है कि इसका निर्माण समूह द्वारा होता है तथा प्रत्येक व्यक्ति इसके विकास में योगदान देता है। यह समग्रवादी इसलिए है कि यह आत्म-अभिव्यक्ति, सार्वजनिक एवं निजी के प्रत्येक क्षेत्र को हमारे विचारों, विश्वासों एवं ढंगों को प्रभावित करती है।

9.9 प्रथा का महत्व

1. प्रथाएं सामाजिक जीवन को नियमित करती हैं।
2. प्रथा सामाजिक विरासत का भंडार हैं।
3. प्रथाएं सार्वभौमिक हैं।
4. प्रथाएं व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं।
5. प्रथा लोकतंत्रीय एवं समग्रवादी दोनों हैं।

9.10 सारांश

इस इकाई के अंतर्गत हमने मूल्य मानदंड एवं प्रथा के विषय में जानकारी प्राप्त की और प्रथाओं का समाज के लिए क्या महत्व है उसको जाना। सर्वप्रथम इसमें हमने मानदंड को जाना एवं उसकी विशेषताओं को जाना, विशेषताओं को समझा और यह जाना कि मूल्य एवं मानदंड समाज के स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण हैं।

9.11 अभ्यास प्रश्न

1. मानदंड को परिभाषित कीजिए ?
2. मानदंड की विशेषताएं समझाएं ?
3. मानदंड क्या है एवं उसके प्रकार बताइए ?
4. लोकरीति एवं लोकाचार में अंतर बताइए ?
5. मूल्य क्या है ?
6. मूल्यों की विशेषताएं एवं प्रकार का संक्षेप में वर्णन करें।
7. प्रथा से आप क्या समझते हो ?
8. समाज में प्रथा का क्या महत्व है ?

9.12 पारिभाषिक शब्दावली

1.	मानदंड	-	सामाजिक नियम कानून
2.	विघटन	-	बिखराव
3.	निषेधात्मक मानदंड	-	जिससे आचरण निर्देशित
4.	लोकरीति	-	आम लोगों का रीति रिवाज
5.	लोकाचार	-	ऐसे नियम जिनको तोड़ने पर समाज दंड देता है
6.	प्रथागत कानून	-	नैतिक मूल्यों को ध्यान में रखकर विकसित कानून
7.	मूल्य	-	समाज के आदर्श
8.	नैतिक मूल्य	-	धर्म एवं परिस्थितियों से होता है
9.	बुद्धिसंगत मूल्य	-	सामूहिक विश्वास
10.	सौंदर्यपरक मूल्य	-	साहित्यिक कृतियां, संगीत आदि

9.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मैकाइवर, आर.एम. एंड पेज, चार्ल्स एच., समाज का परिचायत्मक विश्लेषण, न्यू देल्ली, मैकमिलन इंडिया लि-1985.।
2. बीयर स्टीड, रार्बट, दा सोशल आर्डर, न्यू देल्ली, टाटा मेग्राहिल 1970.।
3. राधा कमल, मुखर्जी, मूल्यों की सामाजिक संरचना, लंदन मैकमिलन एंड कंपनी 1949.।
4. ए, गिड़िस, सोशियोलॉजी, दा ब्लैक वेल पब्लिशर्स, कैंब्रिज।
5. जे.पी, सिंह, समाजशास्त्र अवधारणाएं एवं सिद्धांत,प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया प्राइवेट लि. नई दिल्ली 2009.।

इकाई 10 -सामाजिक संरचना

Social Structure

इकाई की रूपरेखा

10.0 परिचय

10.1 उद्देश्य

10.2 सामाजिक संरचना का अर्थ

10.3 संरचना की परिभाषा

10.4 सामाजिक संरचना की विशेषताएं

10.5 सामाजिक संरचना के विविध स्वरूप

10.6 संरचना की अवधारणा में प्रमुख लेखकों का योगदान

10.7 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

10.8 संरचना का समालोचनात्मक विश्लेषण

10.9 सारांश

10.10 अभ्यास प्रश्न

10.11 संदर्भ ग्रंथ

10.12 निबंधात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

संरचना की अवधारणा समाजशास्त्र व मानवशास्त्र दोनों विषयों की महत्वपूर्ण अवधारणा मानी जाती है । समाज सतत गतिशील है। बदलते सामाजिक परिवेश में संरचना व व्यवस्था दो समाज

की ऐसी इकाइयां हैं जो मानव समाज को एक आकार देकर उसकी नींव मजबूत बनाती हैं। सामाजिक संबंधों की अंतर्निभरता, निकटता, विलगाव, विघटन इत्यादि का अध्ययन संरचना व व्यवस्था को समझे बिना नहीं किया जा सकता है। समाजशास्त्रीय साहित्य में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग हरबर्ट स्पेंसर ने किया । इस अवधारणा का विस्तृत स्वरूप कार्लमानहीम, नैडेल, मर्टन, दुर्खीम, पारसंस, जानसन, मैलिनोवस्की तथा रैडक्लिफ ब्राउन आदि विद्वानों द्वारा विश्लेषित किया गया है।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे -

- संरचना का अर्थ
- सामाजिक संरचना की परिभाषा व उसकी विशेषताएं
- सामाजिक संरचना के विविध स्वरूप
- संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक उपागम
- सामाजिक संरचना के प्रमुख सिद्धांत
- संरचना का आलोचनात्मक विश्लेषण

10.2 सामाजिक संरचना का अर्थ

संरचना किसी भी समग्र का वह भाग होती है जिसकी विभिन्न इकाइयां क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित होकर उस समग्र को एक आकार प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए यदि मानव शरीर को एक समग्र के रूप में लें तो इस शरीर रूपी संरचना का निर्माण इसकी विभिन्न इकाइयां (अंगों) - आंख, नाक, कान, हाथ, पैर, मुंह , और अन्य कई अंग परस्पर मिलकर ही करते हैं। ठीक उसी प्रकार एक मकान की संरचना का निर्माण, ईंट, गारा, चूना, पत्थर आदि इकाइयों के परस्पर, सम्मिलित एवं क्रमबद्ध व्यवस्था से मिलकर होता है।

10.3 परिभाषा

संरचना को विभिन्न समाज वैज्ञानिकों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। यहां पर संदर्भगत विषय को और अधिक स्पष्ट करने तथा पाठकों की सामान्य समझ हेतु कुछ परिभाषाएं निम्नवत हैं -

कार्ल मानहीम के अनुसार 'सामाजिक संरचना परस्पर क्रिया करती हुई सामाजिक शक्तियों का जाल है जिससे अवलोकन और चिंतन की विभिन्न प्रणालियों का जन्म होता है।'

पारसंस के अनुसार 'सामाजिक संरचना परस्पर संबंधित संस्थाओं, एजेंसियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किए गए पदों तथा कार्यों को विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं।'

गिंसबर्ग के अनुसार 'सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों, समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके संकुल जिनसे कि समाज का निर्माण होता है, से संबंधित है।'

रैडक्लिफ ब्राउन के अनुसार 'सामाजिक संरचना संस्था द्वारा परिभाषित और नियमित संबंधों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता है।'

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना का स्वरूप क्रमबद्धता होती है, और क्रमबद्धता ही संरचना के अस्तित्व बनाए रखती है क्योंकि गतिशीलता इसका प्रमुख लक्षण है। ब्राउन के अनुसार सामाजिक संरचना एक 'गतिशील निरंतरता' है। एक मकान की तरह संरचना स्थिर नहीं अपितु जीवित मनुष्य के शारीरिक ढांचे की भांति गतिशील निरंतरता है।

10.4 सामाजिक संरचना की विशेषताएं

किसी भी सामाजिक संरचना का एक विशिष्ट आकार होता है, जिसके आधार पर उस संरचना को पहचाना जाता है या उस इकाई विशेष को संरचना का नाम दिया जाता है। किंतु यह आकार मानवीय व्यवहार एवं संबंधों के संदर्भ में मूर्त न होकर अमूर्त होता है, जो व्यवहार विशेष के संदर्भ में जानी जाती है। सामाजिक संरचना की कुछ प्रमुख विशेषताएं ,गुप्ता व शर्मा ने बाताई हैं। जो निम्नवत हैं -

1. **सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का बोध कराती है** - समाज सामाजिक संबंधों के द्वारा निर्मित एक व्यवस्था है, किंतु इस व्यवस्था की संरचना का निर्माण समाज की विभिन्न इकाइयों के परस्पर एवं क्रमबद्ध सम्मिलन से ही संभव है। परिवार रूपी सामाजिक संरचना को सदस्यों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक संबंधों, व्यवहारों तथा विवाह एवं नातेदारी के आधार पर ही समझा जाता है। सामाजिक संरचना का संबंध सामाजिक इकाइयों की कार्य - विधि से नहीं है।

2. **सामाजिक संरचना अखंड व्यवस्था नहीं है -** प्रत्येक सामाजिक संरचना का निर्माण कई इकाइयों से होता है। ये इकाइयां व्यक्ति, समूह, संस्थाएं, समितियां आदि हैं। इस प्रकार एक संरचना विशेष का निर्माण कई खंडों या इकाइयों से मिलकर होता है, अतः वह अखंड नहीं है। स्वरूप स्पष्टता ही संरचना के प्रतिमान को उजागर करती है। उदाहरण के लिए, एक कमरे का निर्माण ईंट, चूना, पत्थर, खिड़की व दरवाजे आदि से मिलकर होता है। इन्हें एक विशिष्ट क्रम में जोड़ने पर कमरे का प्रतिमान स्वरूप प्रकट होता है।

3. **सामाजिक संरचना अंतर्संबंधित इकाइयों का एक व्यवस्थित स्वरूप है** - सामाजिक संरचना में समरूपता महत्वपूर्ण स्थान रखती है अर्थात समग्र की इकाइयों में पारस्परिक संबंध एवं क्रमबद्धता का पाया जाना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए घड़ी का निर्माण करने वाली सभी इकाइयों को परस्पर जोड़ने पर ही घड़ी की संरचना बनती है।

4. **सामाजिक संरचना की इकाइयों में एक क्रमबद्धता पाई जाती है** - व्यवस्थित आकार किसी संरचना की वास्तविक पहचान होता है। संरचना की विभिन्न इकाइयां परस्पर क्रमबद्ध रूप से संबद्ध होकर ही विशिष्ट रचना का निर्माण करती हैं जैसे ईंट, चूने व पत्थर के ढेर से मकान नहीं बनता है जब तक उन्हें एक क्रम में न जोड़ा जाए। मकान की उपसंरचनाएं जैसे बरामदा, खिड़की, आंगन, छोटा कमरा, बड़ा कमरा इत्यादि के लिए भी निश्चित क्रम में इसके विभिन्न अवयव मिलकर इसे एक बृहद संरचना का नाम देते हैं। प्रत्येक संरचना का आकार व बनावट इकाइयों की विशिष्ट क्रमबद्धता के आधार पर ही किया जाता है।

5. **सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी अवधारणा है** - स्थायित्व प्रत्येक सामाजिक संरचना को एक महत्वपूर्ण विशेषता होती है जिसके आधार पर अर्थपूर्ण व्यवस्था का

निर्माण होता है । उदाहरण के लिए समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न समूह, समितियां एवं सस्थाएं जैसे परिवार, धर्म, आर्थिक व शैक्षणिक संगठन एवं विवाह आदि समाज में अपेक्षतया स्थायी रूप से पाए जाते हैं। कोई भी ज्ञात मानव समूह परिस्थिति जन्य एवं समयगत परिवर्तन के बावजूद किसी न किसी प्रकार की पारिवारिक संरचना का अंग बना रहता है जो समाज व्यवस्था को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे ले जाने के लिए महत्वपूर्ण होता है। रीति-रिवाजों, परंपराओं, वैवाहिक संबंधों, नातेदारी, रीतियों की परस्पर संबद्धता ही पारिवारिक संरचना को स्थायित्व प्रदान करती हैं।

6. **सामाजिक संरचना अमूर्त होती है** - समाज वैज्ञानिकों मैकाइवर एवं पारसंस आदि का स्पष्ट मत है कि सामाजिक संरचना एक अमूर्त धारणा है । सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न संस्थाओं, एजेंसियों, प्रतिमानों, परिस्थितियों एवं भूमिकाओं से मिलकर होता है। ये सभी इकाइयां अमूर्त हैं इनका भैतिक वस्तु की भांति कोई ठोस आकार या रूप नहीं है, इन्हें देखा या छुआ नहीं जा सकता है। इन अमूर्त संगठकों के घटक स्वयं मनुष्य ही होते हैं। लोगों के व्यवहार संबंधों के संदर्भ में ही सामाजिक संबंध बनते हैं या फिर बिगडते हैं अथवा नए सबंधों का निर्माण होता है।

7. **सामाजिक संरचना स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है -** प्रत्येक समाज की एक संरचना होती है और दूसरे समाज से भिन्नता होती है। स्थान विशेष की सांस्कृतिक व्यवस्था सामाजिक संरचना को प्रभावित करती है । विभिन्न स्थानों की संस्कृति, राजनीतिक दशा एवं भौगोलिक परिस्थितियों में अंतर पाया जाता है । अतः सामाजिक संरचनाएं भी इनसे प्रभावित होने के कारण भिन्न - भिन्न प्रकार की होती है।

8. **सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का एक पूर्ण निश्चित स्थान व पद होता है** - सामाजिक व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए विभिन्न संरचनाओं का एक निश्चित स्थान व पद, प्रस्थिति होती है क्योंकि संरचना के बेमेल जोड़ संरचना निर्माण को विषम आकार देकर व्यवस्था को अवरोधित करते रहते हैं । जिस प्रकार शरीर रूपी संरचना में इसकी विभिन्न इकाइयों अर्थात अंगों यथा हाथ-पांव, नाक-कान, आंख आदि का एक स्थान तय है। यदि ये अंग एक-दूसरे का स्थान ले लें तो शरीर विकृत संरचना का परिचायक होता है । ठीक उसी प्रकार सामाजिक संरचना में राज्य, चर्च, परिवार, विवाह, धर्म, न्याय व्यवस्था, शिक्षण संस्था आदि सभी

का स्थान पूर्व निर्धारित होता है यदि वे एक - दूसरे का स्थान ग्रहण कर लेते हैं तो सामाजिक संरचना में विकृति आ जाती है।

9. **सामाजिक संरचना में सामाजिक प्रक्रियाएं महत्वपूर्ण होती हैं** - सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी प्रक्रियाओं जैसे सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, एकीकरण, सात्यीकरण प्रतिस्पर्द्धा एवं असहयोग आदि की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। ये सामाजिक प्रक्रियाएं ही सामाजिक संरचना के स्वरूप को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं का बाह्य रूप सामाजिक संरचना को तय करता है।

10. **सामाजिक संरचना में विघटन के तत्व भी पाए जाते हैं -** सामाजिक संरचना निर्माण का महत्वपूर्ण पक्ष मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है किंतु यह भी सत्य है कि कोई भी संरचना अपने आप में श्रेष्ठ नहीं होती और न ही उसमें पूर्णता पाई जाती है। कई बार परिस्थिति जन्य परिप्रेक्ष्य में यह समाज में विघटन भी पैदा करती है। मर्टन व दुर्खीम का मानना है कि कई बार सामाजिक संरचना स्वयं समाज में नियमहीनता पैदा करती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना में संगठन व विघटन दोनों ही पैदा करने वाले तत्व पाए जाते है।

उपरोक्त विशेषताओं से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि सामाजिक संरचना किसी भी व्यवस्था का बाह्य आकार है जो स्थायित्व के साथ - साथ, स्थान, समय, परिस्थिति और मानवीय व्यवहार संबंधों के संदर्भ में परिवर्तनशीलता का भी गुण लिए होती है। प्रत्येक प्रगतिशील समाज की सामाजिक संरचना में इस प्रकार की गतिशीलता आवश्यक मानी जाती है और यह व्यवस्थापन का अंग है।

10.5 सामाजिक संरचना के विविध स्वरूप

सामाजिक संरचना की कार्य-विधि, प्रत्येक संरचना को एक विशिष्ट स्थान व स्वरूप प्रदान करती है। रेडक्लिफ ब्राउन ने संरचना संबंधों का उपयोग नातेदारी संबंधों, आर्थिक संगठनों एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में निहित निरंतरता के आधार पर बने प्रतिमानों से किया है। सिंधी का मानना है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा में व्यक्तियों के विशिष्ट गुण महत्वहीन होते हैं। केवल उन्हीं गुणों को महत्व दिया जाता है जो परिवर्तनशील नहीं हैं। अनेक प्रकार के सामाजिक संबंधों के आधार पर

हम ऐसे स्वरूप या संरचना का अमूर्त रूप से मित्रता की संज्ञा देते हैं। यह स्वरूप स्थायी होता है। साथ ही साथ यह स्वरूप समय, स्थान और व्यक्तियों से परे होता है । समाजशास्त्र प्रमुख रूप से सामाजिक स्वरूपों का अध्ययन करता है, न कि उन स्वरूपों में पाए जाने वाले विशिष्ट स्वरूपों का। किसी भी समाज व्यवस्था के सार को स्वरूप के माध्यम से ही समझना आसान होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यवस्था विशेष का अवलोकन, स्वरूप व सार के संदर्भ में ही सारगर्भित माना जाता है किंतु इसमें स्वरूप को वरीयता एवं प्राथमिकता दी जाती है जो संरचना को निम्नलिखित स्वरूपों के माध्यम से जानते हैं -

1.संरचना अवस्थिति के रूप में - संरचना को व्यक्ति सापेक्ष समझना ही व्यवस्था की वास्तविक दशा का निर्धारण करना होता है अर्थात यदि व्यक्तियों को उनकी आर्थिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में देखना है तो उसके लिए आवश्यक है कि लोगों को कम आय व आय समूह में बांटां जाए। स्पष्ट है कि सामाजिक श्रेणी का निर्धारण व्यक्तियों की आर्थिक जीवनशैली से प्रभावित होता है । व्यक्तियों को अलग -अलग श्रेणी में बांटंने की प्रक्रिया अवस्थिति कहलाती है। केबल टी.वी. को देखने वाले व्यक्ति एक श्रेणी में रखे जा सकते हैं, जिनकी सामाजिक प्रस्थिति आय, शिक्षा, आवास स्थल अन्य लोगों से भिन्न हो सकती है। अतः केबल टी वी देखने वालों की एक अवस्थिति होगी ।

2. संरचना भूमिका के रूप में - भूमिका निर्वहन ही व्यक्ति की सामाजिक संबंध के व्यवहार प्रतिमान को प्रतिबिंबित करता है । उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की पहचान पति की भूमिका निभाने के दृष्टिकोण से होती है जो कि विवाह संबंध का भाग है। एक पति होने का अर्थ है, उसकी पत्नी भी है । स्पष्ट है कि एक भूमिका विशेष की पहचान, किसी न किसी दूसरी भूमिका के सापेक्ष होती है । भूमिकाएं औपचारिक व अनौपचारिक दोनों प्रकार की होती हैं। हर व्यक्ति अनेक प्रकार की भूमिकाओं का वरण व पालन करता है और इस प्रकार भूमिकाओं का एक समग्र अर्थात संकुल का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए एक महिला मां, बेटी व पत्नी के रूप में भूमिका संकुल का निर्माण करती है और व्यक्ति विशेष के संबंध में भूमिका का निर्वहन अपेक्षा के अनुसार करने का प्रयत्न करती है। संरचनात्मक समाजशास्त्रियों का मानना है कि व्यक्तियों के विश्वास एवं अभिवृतियां उनकी भूमिकाओं के अनुसार बदलते हैं, न कि इसके विपरीत रूप में ।

3. **संरचना एक संगठन के रूप में** - सामाजिक संबंध व संरचनात्मक संबंधों में अंतर होता है । सामाजिक संबंधों को मूर्त व्यक्तियों के अमूर्त व्यवहारों के संदर्भ में ही समझा जाता है । संबंधों

की जटिलता ही संरचना को सामान्य या विशेष बनाती है जिसके आधार पर समाज विशेष की संरचनाओं को समझने का प्रयास किया जाता है। उदाहरण के लिए उच्च शैक्षणिक संस्थानों में शिक्षा का स्तर। विद्यार्थियों को रोजगार दिलाने में कौन शैक्षिक संस्थान या शिक्षा का स्वरूप अग्रणी है। उसके लिए उस शैक्षणिक संस्थान के शैक्षिक माहौल, अध्यापक एवं विद्यार्थियों की गुणवत्ता तथा अन्य महत्वपूर्ण संसाधनों को जानना जरूरी होता है। स्पष्ट है कि संरचनात्मक समाजशास्त्री आय की असमानता के प्रतिमान को व्यक्तियों के भेदों से नहीं समझाते अपितु श्रम, बाजार एवं व्यापक आर्थिक प्रभावों के आधार पर समझाते हैं।

4. **संरचना वितरण के रूप में** - सामाजिक संरचना को सामाजिक संगठन के रूप में समझने के लिए हम नियम व पद्धतियों को ध्यान में रखते हैं। वितरण किसी भी सामाजिक संरचना के उस स्वरूप को इंगित करता है जिसमें विभिन्न मनुष्यों के बीच अंर्तसंबंधों को जाना जाता है जिसके साथ उनकी प्रस्थिति व संबंधित भूमिका जुड़ी रहती है। उदाहरण के तौर पर जनसंख्या के अंतर्गत जिन आधारों पर विभेद किया जाता है उसके आधार पर वितरण को समझा जा सकता है। अगर दो समूह प्रजाति, आय अथवा लिंग के आधार पर वर्गीकृत हैं तो छोटे समूहों के सदस्यों में परस्पर घुलना - मिलना अधिक होता है। जबकि बडे समूहों में यह कम होता है। इसका आधार अभिरूचि अथवा मूल्य नहीं होता है अपितु संख्या का कम या अधिक होना। वितरण के सिद्धांत प्रायः मूल्यों और विश्वासों को कम महत्व देते हैं और लोगों के संख्यात्मक वितरण की संख्या को अधिक महत्व देते हैं। तात्पर्य यह है कि मानवीय संबंधों की व्यापकता व्यवस्था विशेष के संदर्भ में सामाजिक संरचना को एक नया स्थान देती है।

5. **संरचना एक जाल के रूप में** - सामाजिक संरचना की धारणा व्यक्तियों के पद, प्रतिस्थति तथा उससे संबंधित भूमिकाओं की संपूर्णता या समग्रता से है। एक जाल के रूप में सामाजिक संरचना की धारणा व्यक्तियों के उस योग से जुडी हुई है जिसके अंतर्गत उनके अनेक प्रत्यक्ष सामाजिक संबंधों की कडियां होती हैं। ये कडियां ही व्यक्तियों के सामाजिक दायरे को विस्तरित करती हैं जिससे व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर आता जाता रहता है। अनेक भारतीय अमेरिका में इसलिए आ गए हैं क्योंकि उनके रिश्तेदार उस देश में पहले से ही हैं और संबंधों का यह जाल उन्हें वहां जाने में सहायता करता है। सामाजिक जीवन को संबंध जालों के आधार पर समझने की प्रक्रिया के अंतर्गत सामाजिक व्यवहारों में निहित उन दबावों की परिकल्पना होती है जो कि

सामाजिक संबंधों के आधार पर बनते हैं। जाल संबंध को और स्पष्ट करते हुए सिंधी पुनः लिखते हैं कि संबंध जाल विश्लेषण के अंतर्गत तीन तरह के प्रश्नों को महत्व दिया गया है -

(अ) कर्ता पर उसके जाल में अवस्थिति (Location) का क्या प्रभाव पड़ता है ?

(ब) जाल संरचना के साकल्य (संपूर्णता) का कर्त्ता के व्यवहार पर क्या असर पड़ता है ?

(स) एक जाल का दूसरे जाल पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

समाजशास्त्री पारसंस ने अपनी महत्वपूर्ण कृति The Social System में सामाजिक मूल्यों के आधार पर संरचना के चार रूपों का उल्लेख किया है। उन्होंने चार प्रकार के सामाजिक मूल्य माने हैं जिनका विवरण निम्नवत है -

i) **सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य -** जो सारे समाज में फैले होते हैं और सभी लोगों पर लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, सच्चाई व ईमानदारी सभी समाजों में उत्तम गुणों के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

ii) **विशिष्ट सामाजिक मूल्य** - जो किसी समाज विशेष तक सीमित होते हैं। उदाहरण के लिए, पतिव्रत का आदर्श हिंदुओं में ही पाया जाता है अथवा जाति व्यवस्था की संकीर्णताएं आज भी भारतीय समाज का प्रमुख लक्षण बनी हुई हैं।

iii) **अर्जित सामाजिक मूल्य -** जिनका संबंध व्यक्ति के प्रयत्नों द्वारा निर्धारित पदों से होता है। यह पद स्वयं में ग्राह्य होते हैं, न कि किसी विशेष व्यवस्था का जन्म से ही अंग बनने से। उदाहरण के लिए एक सरकारी कर्मचारी की उसकी नौकरी से संबंधित सामाजिक मूल्य होते हैं जो उस नौकरी की संरचना को एक विशिष्ट स्थान समाज में देती है।

iv) **प्रदत्त सामाजिक मूल्य** - जिनका संबंध जन्म एवं परंपरा द्वारा निर्धारित पदों से होता है।

10.6 संरचना की अवधारणा में प्रमुख लेखकों का योगदान

जैसा कि आपको पहले भी बताया जा चुका है कि सामाजिक संरचना का अध्ययन समाजशास्त्र व मानवशास्त्र दोनों विषयों के विद्वानों द्वारा किया गया है। मानवशास्त्र में यह अवधारणा समाज के

संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक संबोध को और अधिक सुस्पष्ट करती है। संरचनात्मक समाजशास्त्र व्यक्ति को महत्व न देकर अमूर्त संरचना को व्यक्ति के व्यवहार का आधार मानता है। विषयगत सार के संदर्भ में संरचना की अवधारणा भिन्न - भिन्न हो सकती है किंतु शाब्दिक परिप्रेक्ष्य में उसका अर्थ समानरूपेण होता है। समाजशास्त्री स्पेंसर ने संरचना को प्राणीशास्त्र से लेकर सामाजिक संबंधों के संदर्भ में संरचना को विकसित किया और पुनः दुर्खीम, लेवी स्ट्रास, पारसंस, नैडेल, रैडक्लिफ ब्राउन, मैलिनोवस्की इत्यादि समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों द्वारा इस अवधारणा को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया गया।

दोषी और त्रिवेदी के अनुसार संरचना की व्याख्या करने वाले सिद्धांत वेत्ता दो संप्रदायों में बंटे हुए हैं: एक संप्रदाय तो यूरोप के संरचनावादियों का है और दूसरा अमेरिकन - ब्रिटिश संरचनावादियों का। यूरोप के संरचनावादियों का कहना है कि संरचना का मूल आधार मनुष्य के विचार और भाषा हैं जबकि अमेरिकन ब्रिटिश संरचनावादी व्यक्तियों के बीच के सामाजिक संबंध को सामाजिक संरचना मानते है। व्यापारी और ग्राहक, वकील व मुवक्किल इत्यादि भूमिकाओं के बीच के संबंध सामाजिक संरचना हैं। यूरोप के संरचनावादियों में क्लाउड लेवी स्ट्रास और माइकेल फोकाल्ट (फूको) प्रमुख हैं। इधर अमेरिकन - ब्रिटिश संरचनावादियों में पीटर ब्लॉ का नाम प्रमुख है। विषयगत आवधारणा के सार को समझाने के लिए प्रमुख लेखकों के योगदान का विवरण निम्नवत है -

(अ) **लेवी स्ट्रॉस** - संरचना के सिद्धांतीकरण का श्रेय लेवी स्ट्रॉस को प्रमुख रूप से दिया जाता है। उनका मानना है कि संरचना का प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जा सकता है और उन्हें इंद्रियों के माध्यम से खोजा भी नहीं जा सकता है। लेवी स्ट्रॉस ने नातेदारी संरचना का विस्तृत विश्लेषण किया और बताया कि प्रत्येक नातेदारी व्यवस्था के कुछ मूल तत्व होते हैं। जो सार्वभौमिक होते हैं अर्थात सामाजिक संबंधों की विषयगत भावना ही नातेदारी व पारिवारिक संरचनाओं को प्रत्येक समाज में जन्म देती है। उनका संरचनात्मक दृष्टिकोण भाषाविज्ञान से प्रभावित है जिसमें वस्तुओं के घटने का कारण भाषा और उसकी अवधारणाएं मानी जाती हैं। प्रत्येक भाषा में कर्ता और क्रिया के लिए निश्चित शब्द होते हैं और ये शब्द ही संरचना हैं।

संरचना की अपनी अवधारणा की व्याख्या में लेवी स्ट्रॉस ने स्पष्ट किया कि विभिन्न समाजों में कुछ सार्वभौमिक तत्व होते हैं जो प्रत्येक समाज का अंग माने जाते हैं। संरचना में

स्थायित्व होता है। लेवी स्ट्रॉस को मार्क्स विरोधी भी बताया जाता है क्योंकि उनका (स्ट्रॉस) का मानना है कि मार्क्स का वर्ग- सिद्धांत क्रांतिकारी नहीं है।

(ब) **आल्थूजर** - आल्थूजर भी संरचना को वैयक्तिक विश्लेषण का प्रारूप नहीं मानते हैं बल्कि उनके अनुसार यह सामाजिक स्वरूप का आधार है जिसमें अनेक सतह एवं अनेक स्तर हैं। सतह और स्तर के पारस्परिक अंतर्कियाओं की संबद्धता ही संरचना को पूर्णता प्रदान करती है। यह पूर्णता किसी एक तंत्र से प्रमुख रूप से प्रभावित होती है जिसे आल्थूजर ने संरचना में 'प्रभुत्व' की संज्ञा दी। सामाजिक स्वरूपीकरण की प्रक्रिया में चार तत्व होते हैं - (1) आर्थिक (2) राजनीतिक (3) आदर्शात्मक तथा (4) सैद्धांतिक। स्पष्ट है कि आर्थिक तत्व निश्चयात्मक भूमिका अदा करता हैं जबकि प्रभुत्व भूमिका राजनीतिक आदर्श अथवा जनजाति समाजों में नातेदारी की व्यवस्था अदा करती है। सामाजिक स्वरूपीकरण अनेक तत्वों से मिलकर बनता है जिसमें स्वायत्तता एवं अंत: संबंध दृष्टिगोचर होते हैं।

(स) **पीअरे बोरदियू** - संरचनावाद ने एक सामाजिक विचारधारा के रूप में मानवशास्त्र व समाजशास्त्र दोनों विषयों के अध्ययन को प्रभावित किया है। खासकर सांस्कृतिक संरचनावाद का सामाजिक धरातल भी प्रभावपूर्ण भूमिका से। सांस्कृतिक संरचनावादी कई तरह के विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। ये संरचनावादी प्रतीकात्मक व्यवस्था की संरचना पर जोर देते हैं। बोरदियू अपने संरचनात्मक विश्लेषण में वर्ग आधार को लेते हैं और इस प्रकार सार रूप में वह मार्क्स और बेबर के वर्ग सिद्धांतों को स्वरूपीकरण के रूप में सम्मिश्रित करते हैं। आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्थितियां वर्ग विशेष के व्यवहारों को सामाजिक संबंधों के रूप में चिन्हित कर विशिष्ट एवं सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं। वर्ग संस्कृति प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में लोगों के बीच संबंधों को निर्धारित करती है। वर्ग संघर्ष प्रायः संपत्ति निर्धारण व विभाजन को लेकर सांस्कृतिक संघर्ष सिद्धांत को जन्म देता है और इस प्रकार संरचना की निर्भरता व अंतर्क्रिया समाज व्यवस्था के संदर्भ में बदलती रहती है।

(द) **पीटर ब्लॉ-** पीटर ब्लॉ के अनुसार किसी भी सामाजिक संरचना का प्रमुख उद्देश्य समाज में एकीकरण लाना होता है। यह इसलिए आवश्यक है कि इससे व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन में मदद मिलती है। स्वाभाविक है कि पारस्परिक अंतर्क्रिया ही लोगों को संगठित या विघटित करती

है। ब्लॉ का मानना है कि गणितीय सूत्र की भांति सामाजिक एकीकरण के लिए दो मान्यतायें अनिवार्य हैं जैसे -

एकीकरण् = प्रकार्यात्मक निर्भरता + वास्तविक अंतर्क्रिया स्पष्ट है कि व्यक्तियों के बीच अंतर्क्रिया के लक्षण समाज व्यवस्था की धार्मिक, सामाजिक, जातिगत, व्यवसायगत आदि संरचनाओं से प्रभावित होते हैं। संगठन एवं विघटन की प्रकार्यात्मक अंतर्निभरता एकता के लिए उत्तरदायी नहीं होती है बल्कि व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले संबंध जो वास्तविक अंतर्क्रिया को बताते हैं। आदिम समाजों में सामूहिकता प्रभावशाली होती है किंतु संघर्ष का दायरा भी कम नहीं होता है इसके विपरीत आधुनिक समाज में आर्थिक प्रतिस्पर्धा व्यावसायिक संघर्ष को वर्ग विशेष के संदर्भ में एकीकरण का काम करती है। ब्लॉ लिखते हैं कि सामाजिक संरचना का आधार विनिमय होता है जो सामाजिक संबंधों को बनाए रखता है।

10.7 संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक उपागम

संरचना व प्रकार्य किसी भी सामाजिक व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए आवश्यक माने जाते हैं। प्रकार्य संरचना के अस्तित्व एवं निरंतरता के लिए आवश्यक है और संरचना के बिना प्रकार्य संभव नहीं है क्योंकि कोई भी क्रिया शून्य में नहीं होती, उसके घटित होने के लिए संरचनात्मक परिस्थिति या आधार का होना अनिवार्य है। संरचना व प्रकार्य की पारस्परिक निर्भरता व अंतर्क्रिया में बदलाव एक-दूसरे को स्पष्ट रूप से प्रभावित करता है। मुखर्जी लिखते हैं कि निरंतरता एवं गतिशीलता सामाजिक जीवन का विशिष्ट पहलू हैं, यह वह दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जिसमें सामाजिक जीवन बना रहता है क्योंकि समाज साधनों (संरचना) को प्राप्त करता है जिनके द्वारा वे (समाज) जन आवश्यकताओं (प्रकार्य) की पूर्ति करते हैं जो कि या तो संगठित सामाजिक जीवन की पूर्व शर्त है अथवा परिणाम।

सामाजिक संरचना की अवधारणा संरचनात्मक उपागम को समाजशास्त्र में एक विशिष्टता प्रदान करती है क्योंकि संरचनात्मक समाजशास्त्र ऐतिहासिक है और साथ ही स्थिर भी। सिंधी ने संरचनात्मक उपागम के कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं पर प्रकाश डाला है जो निम्नलिखित है-

1. संरचनात्मक उपागम व्यक्ति को गौण व व्यवस्था को प्राथमिकता देता है। समाज व्यक्ति का निर्माण करता है, न कि व्यक्ति समाज का।

2. यह कर्ता की इच्छा व प्रयोजन को नकारता है।

3. व्यक्तियों की अंतर्क्रियाओं के माध्यम से संबंधों की पुनरावृत्ति होती है जो कि प्रतिमानों का स्वरूप ले लेते हैं।

4. यह उपागम वस्तुपरकता Objectivity को स्वीकार करता है जिसके अंतर्गत प्रतीकात्मक अर्थों का महत्व गौण हो जाता है। अवलोकित व्यवहार, जिसे देखा जा सकता है, उसी आधार पर अर्थों का निर्माण होता है।

5. अर्थों का निर्माण, संरचना से निकाला जाता है, न कि अर्थों से सरंचना का निर्माण।

6. व्यक्ति की स्वतंत्रता का पक्ष इस उपागम में गौण हो जाता है।

7. यह उपागम ऐतिहासिकता को नकारता है व स्थायित्व को महत्व देता है।

प्रकार्यात्मक उपागम संरचना के स्थान व प्रकार्य को महत्व देता है क्योंकि आवश्यकताएं कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं। संरचनात्मक समाजशास्त्री यह तर्क देते हैं कि हमारे पैर हैं इसलिए हम चलते हैं। प्रकार्यवादी यह तर्क देते हैं कि हमारे चलने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे पैर हों। संरचना के स्थायित्व के लिए यह आवश्यक है कि वह सामाजिक व्यवस्था के उद्देश्य को पूरा करती है और यही उसका प्रकार्य है। अतः स्पष्ट है कि प्रकार्यात्मक उपागम संरचना को द्वितीयक तथा प्रकार्य को प्राथमिक मानता है। स्पेंसर, दुर्खीम, मेलिनोवस्की, मर्टन आदि प्रकार्य को वरीयता देते हैं वही दूसरी ओर रैडक्लिफ ब्राउन, पारसंस आदि सामाजिक व्यवस्था के नियमन में संरचना व प्रकार्य दोनों को महत्व देते हुए संरचनात्मक प्रकार्यवाद के सिद्धांत को विकसित करते हैं। संक्षेप में विषयगत गहराई को जानने के लिए कुछ विद्वानों के विचारों को यहां पर दिया जा रहा है जो इस प्रकार हैं -

1. **दुर्खीम का दृष्टिकोण -** दुर्खीम के अनुसार सामाजिक संरचना व प्रकार्य के बीच सहसंबंध पाया जाता है। सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक तथ्यों से होता है और प्रत्येक सामाजिक तथ्य का उस संरचना विशेष में एक निश्चित प्रकार्य होता है। अपने आरंभ काल में सामाजिक संरचना सरल थी। लोग प्रत्यक्ष रूप से एक - दूसरे से जुडे थे किंतु जैसे - जैसे श्रम विभाजन व विशेषीकरण का महत्व बढ़ा। संरचना की अवधारणा भी प्रकार्य को और निर्णायक बना दिया। परिवार एक संरचना के रूप में अपने आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए

अन्य द्वितीयक स्रोतों पर निर्भर रहकर अपने इस उद्देश्य की पूर्ति करता है । अतः आधुनिक सामाजिक संरचना और सामाजिक प्रकार्य एक - दूसरे से न केवल संबंधित हैं बल्कि एक-दूसरे पर आधारित भी हैं।

2. **लेवी का दृष्टिकोण -** लेवी ने अपने विचारों को The Strcuture of Society पुस्तक में व्यक्त किया । लेवी का मत है कि किसी भी संरचना की निरंतरता व स्थिरता तभी तक बनी रहती है जब तक इसके निर्माणक अंग इसके उद्देश्य को पूरित करते रहते हैं अर्थात प्रकार्य सामाजिक संरचना को बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि ये कार्य समाज विशेष की सामाजिक संरचना के आधार पर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, फिर भी लेवी ने कुछ सामान्य प्रकार्य को सभी प्रकार की सामाजिक संरचना का महत्वपूर्ण अंग माना जो इस प्रकार हैं जिन्हें किसी भी समाज की प्रकार्यात्मक पूर्ण शर्ते भी माना जाता है-

1. यौन संबंधों व शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था
2. भूमिकाओं का विभेदीकरण तथा उनका विभाजन
3. संचार
4. स्वीकृत आदर्श व मूल्य व्यवस्था
5. लक्ष्यों का निर्धारण
6. साधनों के चुनाव का नियमन
7. क्रियात्मक अभिव्यक्ति का नियम
8. पर्याप्त समाजीकरण
9. विघटन उत्पन्न करने वाले व्यवहारों पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण तथा
10. पर्याप्त संस्थायीकरण ।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना की प्रकृति यह निर्धारित करती है कि उनमें से किन - किन प्रकार्य को किसी सीमा तक पूरा किया जा सकता है।

3. **मर्टन का दृष्टिकोण** - संरचनात्मक प्रकार्यवाद को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का श्रेय आर. के. मर्टन को जाता है। रैडक्लिफ ब्राउन एवं मैलिनोवस्की ने प्रकार्यवाद का प्रयोग जहां तक आदिम जनजाति के लिए किया था वहीं पर मर्टन ने इसे आधुनिक व औद्योगिक समाज के लिए किया। उनका मानना है कि सामाजिक व्यवस्था की इकाइयों का प्रकार्य सामाजिक संरचना के अस्तित्व एवं निरंतरता के लिए अनिवार्य है। प्रकार्य के पांच प्रमुख व प्रचलित अर्थों की चर्चा की है, जो इस प्रकार है-

(1) प्रकार्य सार्वजानिक उत्सव या सम्मेलन के रूप में

(2) प्रकार्य व्यवस्था के रूप में

(3) प्रकार्य एक सामाजिक पद पर आसीन व्यक्ति के कार्यकलाप के रूप में

(4) गणितशास्त्रीय प्रकार्य तथा

(5) व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक प्राणीशास्त्रीय या सामाजिक कार्य प्रणालियों के रूप में प्रकार्य।

मर्टन ने प्रकार्यवादियों के इस विचार का खंडन किया कि सामाजिक इकाइयां केवल प्रकार्य ही करती हैं इसके विपरीत उनका मानना है कि व्यवस्था एवं संरचना को बनाए रखने में कुछ इकाइयां अकार्य का कार्य करती हैं। ये अकार्य सामाजिक व्यवस्था को विघटित करने का कार्य करते हैं। मर्टन के अनुसार प्रकार्यात्मक विश्लेषण में चार स्तरों की क्रमबद्धता को स्वीकार करना चाहिए जो इस प्रकार हैं -

1. किसी भी सामाजिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को खोजना।
2. सामाजिक व्यवस्था में उस प्रबंध को ढूंढ़ना जो कि प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को पूरा करने में मदद देते हैं।
3. सामाजिक व्यवस्था में उन तत्वों को ढूढ़ना जिनको प्रकार्यात्मक विकल्प या प्रकार्यात्मक समरूप कहा जाता है।

4. जिस सामाजिक संरचना का अध्ययन कर रहे हैं उसका विस्तृत विवरण और उन सारे तरीकों को मालूम करना जिनके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था अथवा सामाजिक संरचना की निरंतरता बनी रहती है।

4. **मैलिनोवस्की का दृष्टिकोण** - मैलिनोवस्की ने मानवशास्त्र में प्रकार्यवाद की नींव रखी। उन्होंने संस्कृति की प्रकार्यात्मक व्याख्या की है। आदिम समाजों का सामाजिक-सांस्कृतिक इकाई के रूप में अध्ययन कर संस्कृति के हरेक पहलू की व्याख्या उसके प्रकार्यों के आधार पर की है। किसी भी संस्कृति के संगठन का महत्वपूर्ण उद्देश्य मानव की प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधन उपलब्ध कराना है। संस्कृति का प्रत्येक तत्व किसी न किसी कार्य को करने के लिए हुआ करता है और उसका अस्तित्व इसी समय तक बना रहता है जब तक वह संपूर्ण जीवन व्यवस्था में कोई न कोई कार्य करता रहता है। अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति मनुष्य संस्थाओं के माध्यम से करता है। धर्म, जादू इत्यादि ऐसी सांस्कृतिक संस्थाएं हैं जो कि हमारी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। ये संस्थाएं परस्पर अंत:निर्भर और अंत:संबंधित होती हैं और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्थाओं में समन्वयता बनी रहती है।

5. **रैडक्लिफ ब्राउन का दृष्टिकोण** - रैडक्लिफ ब्राउन मेलिनोवस्की के समकालीन मानवशास्त्री थे। इन्होंने संरचनात्मक - प्रकार्यवाद सिद्धांत की नींव रखी। सामाजिक संरचना को सामाजिक संबंधों के जाल रूप में देखते हुए, संरचना तथा संरचनात्मक स्वरूपों में अंतर करते हैं। संरचनात्मक स्वरूप की स्थिरता विभिन्न अंगों के आपस में सुव्यवस्थित ढंग से जुड़ने से होती है। परिवार, शिक्षा तथा राजनीतिक व्यवस्था आदि अंगों के विशिष्ट प्रकार्या से संरचनात्मक स्थायित्व बना रहता है। संरचना को सदैव प्रकार्य के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। उनकी ऐसी मान्यता थी कि आकृति विज्ञान, शारीरिक क्रिया विज्ञान अर्थात (संरचना का अध्ययन व प्रकार्य का अध्ययन) एवं उद्विकास जो किसी अवयवी के विश्लेषण से जुड़ा है, सामाजिक जीवन पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिए विवाह संस्था को लीजिए। दक्षिण अफ्रीका की थोंगा और बांटू जनजातियों में वधू मूल्य के रूप में ढोर, जिसे कि 'लाबोला' कहा जाता है, देने की प्रथा है। विवाह से संबंधित यह प्रथा अनेक लोगों को एक - दूसरे से संयुक्त करती है और वह इस रूप में कि 'लाबोला' को एकत्र करने में केवल एक व्यक्ति के अपने ही परिवार के सदस्य नहीं बल्कि उनके निकट नाते – रिश्तेदार भी सहायता करते है। इस प्रकार विवाह संस्था के द्वारा दो परिवारों के सदस्य परस्पर संबंधित ही नहीं हो जाते हैं बल्कि उनमें एक प्रकार का आर्थिक सहयोग भी पनपता है। सामाजिक व्यवस्था के

स्थायित्व को रैडक्लिफ ब्राउन ने प्रकार्यात्मक एकता का नाम दिया। प्रत्येक जीव को जीवित रहना उनकी संरचना का प्रकार्य समझा जाता है। इसी तरह सामाजिक जीवन की प्रक्रियाएं एवं गतिविधियां सामाजिक संरचना का प्रकार्य होती हैं।

6. **टैलकाट पारसंस का दृष्टिकोण** - पारसंस का स्पष्ट मानना था कि समाज का वास्तविक अध्ययन संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से ही संभव है। पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था या संरचना के बने रहने के लए कुछ प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं या आवश्यकताएं होती हैं। पारसंस लिखते हैं कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था को बनाने वाले अनेक वैयक्तिकर्ता है जो कि एक परिस्थिति विशेष में एक दूसरे के साथ अंतर्क्रिया करते रहते हैं। और जिनके पारस्परिक संबंध सांस्कृतिक तौर पर निर्धारित संरचना व सहयोगी प्रतीकों को एक व्यवस्था के संदर्भ में पारिभाषित और परिवर्तित करते हैं। पारसंस के अनुसार अनुकूलन, उद्देश्य उन्मुखता, एकीकरण तथा लचीलापन जैसी पूर्ण आवश्यताएं किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए आवश्यक प्रतिक्रियाएं हैं। सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व बनाए रखने में संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के योगदान को पारसंस ने प्रकार्यात्मक माना है।

10.8 संरचना का समालोचनात्मक विश्लेषण

संरचना की अवधारणा आज एक सैद्धांतिक पृष्ठभूमि का आकार ले चुकी है। किंतु संरचना को समग्र रूप में विश्लेषित करने में प्रायः संरचनात्मक समाजशास्त्री इसके वैयक्तिक पक्ष को नकार देते हैं। कुछ समाजशास्त्री इस संबोध का उपयोग एक अमूर्त रूप में करते हैं जिसमें संरचना का अर्थ संचार के जाल के आधार पर निर्मित होता है। सिंधी व गोस्वामी स्पष्ट करते हैं कि संरचनात्मक विश्लेषण इस बात की व्याख्या करता है कि क्रियाएं हमारे प्रयोजनों से निर्मित नहीं होती हैं अपितु क्रियाएं संरचना के दबाव से होती हैं।। इस उपागम के द्वारा अप्रयोजित प्रभावों का भी विश्लेषण किया जा सकता है। संरचनात्मक प्रकार्यवाद सामाजिक व्यवस्था के बनाने में संरचना व प्रकार्य दोनों को महत्व देता है किंतु प्रकार्यवाद किसी प्रकार की व्याख्या नहीं करता। बिना व्याख्या अथवा विश्लेषण के उपागम का महत्व कम हो जाता है। चूंकि प्रकार्यात्मक उपागम ऐतिहासिकता को नकारता है क्योंकि इसका उद्भव पश्चिम समाजों में हुआ है। वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज मे जहां पर ऐतिहासिकता सामाजिक व्यवस्था का अपरिहार्य अंग मानी जाती है। भारतीय सामाजिक संस्थाएं, जीवन मूल्य व सामाजिक चेतना को बिना परंपरा के समझे विश्लेषित नहीं किया जा

सकता है क्योंकि यहां पर नवीनता के बावजूद निरंतरता एवं स्थायित्व को बनाए रखने में परंपरा अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है। स्पष्ट है संरचना का संबोध सार्वभौमिक है किंतु उसकी रचना अपने प्रकार्य के अर्थ में समाज विशेष की सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करती है।

10.9 सारांश

अब तक आप जान चुके होंगे कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से जानने के लिए उसकी बनावट अर्थात संरचना को जानना आवश्यक है। संरचना मानव शरीर की भांति सामाजिक व्यवस्था को भी एक आकार देती है। प्रत्येक व्यवस्था की अपनी सामाजिक संरचना होती है जिसकी निरंतरता एवं स्थायित्व संरचना विषेष को बनाए रखने वाले प्रकार्यों पर निर्भर करती है। सामाजिक संरचना सामाजिक व्यवस्था का संगठित एवं विघटित स्वरूप दोनों को इंगित करती है। सामाजिक संरचना की अवधारणा के संबंध में, जहां तक समग्र में विभिन्न इकाइयों के योगदान का प्रश्न है, किसी भी प्रकार का विरोधाभास नहीं है, परंतु स्वयं इन इकाइयों या भागों की प्रकृति के संबंध में विद्वानों के विचारों में अत्यधिक भिन्नता देखने को मिलती है। स्पष्ट है कि विचारों की भिन्नता ही संरचना के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य को मजबूती प्रदान करती है।

10.10 अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक संरचना की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
2. संरचना की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ?
3. सामाजिक संरचना के विविध स्वरूपों को बतलाइए ?
4. समाजशास्त्र में संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक उपागम के महत्व को दर्शाइए
5. मर्टन एवं पारंसस के संरचना संबंधी विचारों की समालोचना कीजिए ?
6. सामाजिक संरचना व प्रकार्य के अंतर संबंध पर टिप्पणी लिखिए ?

10.11 संदर्भ ग्रन्थ -

1. मुखर्जी, रवीन्द्र नाथ, 1994, समकालीन उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धांत, दिल्ली: विवेक प्रकाशन

2. सिंधी, नरेंद्र कुमार, 2001, समाजशास्त्रीय सिद्धांत: विवेचन एवं व्याख्या, जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

3. सिंधी, नरेंद्र कुमार व वसुधाकर गोस्वामी, 2000, समाजशास्त्र विवेचन, जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी

4. सिंह, जे.पी. 1999, सामाजिक परिवर्तन: स्वरूप एवं सिद्धांत, नई दिल्ली: प्रेटिस-हाल आफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड

5. दोषी, एस.एल. व एम.एस. त्रिवेदी, 2002, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धांत, जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

6. गुप्ता, एम.एल. व डी.डी शर्मा, 1996, समाजशास्त्र, आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन्स

10.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. सामाजिक संरचना की अवधारणा में प्रमुख लेखकों के योगदान पर टिप्पणी लिखें ?

इकाई-11 -सामाजिक स्तरीकरण: अर्थ, विशेषताएं एवं आधार

Social Stratification- Meaning, Characteristics & Forms

इकाई की रूपरेखा

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं विशेषताएं

11.3 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न अध्ययनों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

11.4 सामाजिक स्तरीकरण के प्राणीशास्त्रीय आधार

11.4.1 लिंग पर आधारित स्तरीकरण

11.4.2 आयु पर आधारित स्तरीकरण

11.4.3 प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण

11.5 सामाजिक-सांस्कृतिक आधार

11.5.1 आर्थिक आधार

11.5.2 राजनीतिक आधार

11.5.3 व्यावसायिक आधार

11.5.4 धार्मिक आधार

11.6 सारांश

11.7 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

11.8 पारिभाषिक शब्दावली

11.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

11.0 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण यानी ग़ैर-बराबरी वह व्यवस्था है जिसके अंतर्गत समाज के विभिन्न समूहों को क्रमशः उच्च से निम्न तक की स्थिति में रखा जाता है । इसे सामाजिक सोपान व्यवस्था या उच्चोधन व्यवस्था भी कहते हैं । स्तरीकरण समाज की विभिन्न प्रस्थितियों का क्रम विन्यास है । क्रम - विन्यास का आधार प्रस्थिति है जो कि सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करती है । अतः वह विभेदीकरण जिसका आधार क्रम-विन्यास है स्तरीकरण कहलाता है । सामाजिक स्तरीकरण में उच्चतम से निम्नतम सामाजिक स्थिति वाले सभी समूहों का समावेश होता है।

मानव समाज में ऐसा कोई युग नहीं मिलता जिसमें सभी लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति एक समान रही हो । सामाजिक स्तरीकरण किसी न किसी रूप में सभी समाजों में सार्वभौमिक रूप में देखा जा सकता है । 'स्तरीकरण' शब्द समाजशास्त्र में भूगर्भशास्त्र से लिया गया है । भूगर्भशास्त्र में चट्टानों को विभिन्न स्तरों में बांटा जाता है । समाज में भी इसी प्रकार अनेक सामाजिक परतें पाई जाती हैं। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों को आय, संपत्ति, व्यवसाय, जाति, पद आदि आधारों पर उच्च व निम्न की श्रेणी में विभाजित करता है । यह प्रत्येक विभाजन एक परत के समान है और ये सभी परतें जब उच्चता और निम्नता के क्रम में रखी जाती है तो इसे हम 'सामाजिक स्तरीकरण' के नाम से समझते हैं।

अतः सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें समाज को विभिन्न उच्च और निम्न वर्गों में विभाजित करने व उसी के अनुसार सामाजिक संरचना में उनकी स्थिति एवं भूमिका को निर्धारित करती है । सामाजिक स्तरीकरण विभिन्न सामाजिक समूहों में न केवल सामाजिक स्थिति या पद को बल्कि सामाजिक अधिकार, शक्ति, सत्ता व निर्योग्यताओं को भी विभाजित करने की एक सामाजिक व्यवस्था है ।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपः-

- सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं विशेषताओं को जान सकेगें।
- सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न अध्ययनों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकेंगे।
- सामाजिक स्तरीकरण के प्राणीशास्त्रीय आधार की व्यख्या कर सकेंगे यथाः-लिंग पर आधारित स्तरीकरण, आयु पर आधारित स्तरीकरण, प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण आदि।
- सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों को जान सकेंगे।

11.2 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं विशेषतायें

सामाजिक स्तरीकरण समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। स्तरीकरण शब्द समाजशास्त्र में 'भगर्भशास्त्र' से 1940 के दशक में आया है। जिस प्रकार मिट्टी की परतें होती हैं। उसी प्रकार समाज भी कई स्तरों में बंटा होता है। इस प्रकार समाज के समूहों एवं सदस्यों के विभिन्न स्तरों अर्थात् प्रत्येक समाज में प्रस्थितियां पाई जाती हैं, जिसमें उच्चता एवं निम्नता, श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना पाई जाती है, जिसे स्तरीकरण कहते हैं। अतः स्तरीकरण एक सार्वभौमिक वास्तविकता है जो प्रायः प्रत्येक समाज में कम या अधिक मात्रा में पाया जाता है। सरल समाज में स्तरीकरण का रूप सरल जबकि जटिल समाज में जटिल सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक असमानता है, समाज का प्रस्थितियों में बंटवारा है।

रेमंड मूरे के अनुसार 'स्तरीकरण उच्चतर एवं निम्नतर सामाजिक इकाइयों में समाज का समांतर विभाजन है।'

टॉलकॉट पारसंस के शब्दों में 'सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ किसी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊंचें एवं नीचे के क्रमाविन्यास में विभाजन हैं।'

जिंसबर्ट के अनुसार, 'सामाजिक स्तरीकरण से अभिप्राय समाज का विभिन्न स्थायी ऐसे श्रेणियों व समूहों में विभाजन है जो कि उच्चतर एवं अधीनता के संबंधों से परस्पर संबंध होते हैं।

सदरलैंड एवं वूडवार्ड के अनुसार, 'साधारणतया स्तरीकरण अतःक्रिया अथवा विभेदीकरण की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कुछ व्यक्तियों को दूसरों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है।'

ऑगबर्न एवं निमकॉक के शब्दों में, 'वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्तियों एवं समूहों को थोड़े बहुत स्थायी प्रस्थितियों के उच्चतम एवं निम्नता के क्रम में श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण के नाम से जानी जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण द्वारा समाज विभित्रा उच्च एवं निम्न समूहों में विभाजित एवं व्यव्स्थित होता है तथा ये समूह परस्पर एक-दूसर से जुड़े होते है और सामाजिक एकता को बनाए रखते हुए समाज में स्थिरता कायम रखते है।

सामाजिक स्तरीकरण की निम्नलिखित सामान्य विशेषताएं का उल्लेख किया जा सकता है -

- सामाजिक स्तरीकरण समाज की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो प्रायः हर समाज में पाई जाती है।
- सामाजिक स्तरीकरण में व्यक्तियों को उनकी योग्यता व कार्य के मुताबिक अलग-अलग स्तरों में स्तरीकृत कर दिया जाता है जिससे समाज की सामाजिक व्यवस्था बनी रहती हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण का मूल कारण सामाजिक विभेदीकरण है जिससे समाज में लोगों में सामाजिक विभिन्नता उत्पन्न करते हुए उन्हें अलग-अलग भागों में स्तरीकृत किया जाता है।
- सामाजिक स्तरीकरण एक प्रक्रिया है जो समाज में निरंतर गति से चलती रहती है। व्यक्ति के जैसे-जैसे कार्य एवं योग्यताएं बदलती व विकसित होती जाती हैं उन्हें उन्ही रूपों में स्तीकृत किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक विद्यार्थी प्रोफेसर के रूप में भी स्तरीकृत हो सकता है अगर उसमें वे योग्यताएं आ जाती हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण से समाज में विभिन्न श्रेणियों का विकास होता है, जिन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त रहती है तथा जो अपेक्षाकृत स्थायी होती है।

11.3 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न अध्ययनों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

सामाजिक स्तरीकरण की सार्वभौमिकता व सार्वकालिकता की विशेषता ने इसे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक महत्वूपर्ण स्थान प्रदान किया है। सामाजिक असमानता के क्षेत्र ने सर्वप्रथम हमें हिब्रु पैगंबरों के विचार मिलते हैं। इन्होंने धन के आधिक्य एवं संचय की प्रवृति को नकारा। वस्तुतः असमानता के अध्ययन का प्रारंभ यूनानी दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तू से मानी जा सकती है। इन विद्वानों ने सामाजिक असमानता को उस सीमा तक स्वीकार किया जहां उसका संबंध प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य में जन्मजात असमानता से है। प्लेटो ने समाज की अवधारणा और वर्ग विभाजन का तथ्य सामने रखा। प्लेटो के अनुसार किसी भी व्यक्ति की हैसियत का निर्धारण उसकी प्राकृतिक योग्यता बुद्धिमत्ता और शारीरिक शक्ति पर निर्भर करता है। अरस्तू का मानना था कि व्यक्ति प्रकृति से ही असमान होते हैं। यद्यपि प्लेटो एवं अरस्तू ने सामाजिक असमानता की नहीं बल्कि प्राकृतिक असमानता की बात कही थी।

असमानता की उत्पत्ति की सर्वप्रथम व्याख्या जे.जे. रूसों ने प्रस्तुत की थी। रूसों के अनुसार व्यक्तिगत संपत्ति के कारण असमानता उत्पन्न हुई। वैयक्तिक संपत्ति के संदर्भ में असमानता की यह व्याख्या रूसों से लेकर कार्ल मार्क्स तक मान्य रही। कार्ल मार्क्स ने चल और अचल संपत्ति के संदर्भ में वर्ग उत्पत्ति की व्याख्या कर सामाजिक स्तरीकरण के समाजशास्त्र को एक नवीन स्वरूप प्रदान किया। संपत्ति के अतिरिक्त कार्ल मार्क्स श्रम विभाजन को भी सामाजिक स्तरीकरण का आधार मानते हैं। एमिल दुर्खीम ने भी सामाजिक स्तरीकरण को श्रम विभाजन के आधार पर समझने का प्रयास किया। दुर्खीम के अनुसार आदिम समाज में श्रम विभाजन बिल्कुल कम था। व्यक्ति और किसी समूह के सदस्य समान मूल्यों और भावनाओं पर आधारित थे और दुर्खीम उन्हें समान रूप से पवित्र मानते थे। यह एकीकृत समाज था क्योंकि इसमें समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच किसी प्रकार की असमानता नहीं थी। दुर्खीम के अनुसार जनसंख्या का दबाव बढ़ने और समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच सामाजिक आदान-प्रदान बढ़ने के कारण सरल समाजों की एकीकृत संरचना में परिवर्तन आने लगा। सामाजिक भेदभाव के कारण असमानता बढ़ने लगी जिससे समाज में श्रम विभाजन एक अनिवार्यता हो गई। सामाजिक स्तरीकरण में सर्वप्रथम प्रकार्यात्मक उपागम या दृष्टिकोण का अध्ययन दुर्खीम ने अपने अध्ययन समाज में श्रम विभाजन में

किया था। टॉलकॉट पारसंस, किंग्सले डेविस और विलबर्ट ई.मूर ने सामाजिक स्तरीकरण में जिस प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की चर्चा की है, उसका मूल दुर्खीम के सिद्धांतों में देखा जा सकता है। इन समाजशास्त्रियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में देखा जा सकता है। सामाजिक स्तरीकरण का व्यवस्थित अध्ययन विगत पांच दशकों से ही शुरू हुआ है।

11.4 सामाजिक स्तरीकरण के प्राणीशास्त्रीय आधार

इकाई के इस भाग के अंतर्गत सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न प्राणीशास्त्रीय आधारों पर जैसे: लिंग, आयु, प्रजाति एवं जन्म के आधार पर निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

11.4.1 लिंग पर आधारित स्तरीकरण: प्राणीशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण आधार लिंग है। सामाजिक स्तरीकरण का यह आधार सबसे अधिक प्राचीन एवं सरल है। लिंग के आधार पर स्तरीकरण के दो स्त्री-पुरूष सामान्य स्तर माने जाते हैं। स्त्री और पुरूष में भेद प्राणीशास्त्रीय अधिक है, सामाजिक-सांस्कृतिक कम। प्रत्येक समाज या संस्कृति अपने स्त्री और पुरूष सदस्यों को एक निश्चित प्रस्थिति प्रदान करती है और उसी के अनुसार स्त्री और पुरूष समूहों में एक उच्च व निम्न का संस्तरण हो जाता है। सभ्यता काल से ही मानव समाज में स्त्री-पुरूष की सामाजिक प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण लिंग भेद के आधार पर किया जाता रहा है। मातृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरूषों की अपेक्षा अधिक उच्चतर होती थी। पितृसत्तात्मक समाजों में पुरूषों की प्रस्थिति स्त्रियों की तुलना में उच्चतर मानी जाती है।

11.4.2 आयु पर आधारित स्तरीकरण: आयु के आधार पर स्तरीकरण के चार सामान्य स्तर हैं - शिशु, किशोर, युवा तथा प्रौढ़ या वृद्ध।किसी भी समाज में एक छोटे बच्चे की प्रस्थिति वह नहीं हो सकती जो कि एक प्रौढ़ या वृद्धजनों की होती है। अतः सभी मानव समाजों में आयु के आधार पर उच्च एवं निम्न स्तरों में स्तरीकरण स्थापित करने की प्रक्रिया देखी जा सकती है। आयु के बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति अनुभव व ज्ञान को भी अधिकाधिक अपने में समेटने में सफल होता है इस कारण उसकी प्रस्थिति उच्च हो जाती है। भारत में संयुक्त परिवार का मुखिया वह सदस्य होता है जिसकी आयु परिवार में सबसे अधिक होती है। अतः स्पष्ट है कि आयु के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण में सर्वोच्च स्थान प्रौढ़ या वृद्धजनों को और उसके बाद क्रमशः युवा, किशोर तथा शिशुजनों का होता है।

11.4.3 प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण: प्राणीशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण का तृतीय महत्वपूर्ण आधार प्रजातीय है। प्रजाति ऐसे मनुष्यों का समूह है जिसमें कुछ जन्मानुगत शारीरिक लक्षण सामान्य होते हैं। प्रजातीय विभेदों के आधार पर स्तरीकरण मानवीय भ्रांति का एक उदाहरण है। यद्यपि इससे मानव समाज को हानि पहुंची है, फिर भी यह भ्रांति आज भी किसी न किसी रूप में देखी जा सकती है। इस भ्रांत धारण के अनुसार यह माना जाता है कि प्रजातियों में श्रेष्ठ प्रजाति और निम्न प्रजाति होती है और इसी के आधार पर एक प्रजातीय स्तरीकरण भी प्रस्तुत किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि प्रजातियों में श्वेत प्रजाति सर्वश्रेष्ठ है तथा नीग्रोयाड निम्न प्रजाति है। इसी प्रजातीय श्रेष्ठता की धारणा के आधार पर ही एक प्रजाति अपने से निम्न प्रजाति से विवाह आदि नहीं करती है। आज इस तरह के प्रजातीय स्तरीकरण को प्रजातिवाद कहते हैं, न कोई प्रजाति ऊंची होती है, न कोई प्रजाति नीची। प्रजातियां सभी समान होती हैं। हिटलर ने प्रजाति की उच्चता में संसार से बड़े अन्याय किए थे। उन्होंने कहा था कि आर्य प्रजाति ही सभ्य है। इसे अब स्वीकार नहीं किया जाता।

11.5 सामाजिक - सांस्कृतिक आधार

सांस्कृतिक आधारों पर भी प्रत्येक समाज में उच्च - निम्न का संस्तरण किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है।

11.5.1 आर्थिक आधार

आर्थिक आधार के अंतर्गत संपत्ति को प्रमुख स्थान दिया जाता है। आधुनिक पूंजीवादी समाजों में इसका महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। पूंजीवादी व औद्योगिक समाजों में आयु, लिंग आदि का स्तरीकरण के आधारों से विशेष संबंध नहीं है। आर्थिक संपन्नता के आधार पर ही लोगों को उच्च, मध्य व निम्न वर्ग में विभाजित किया जाता है। कार्ल मार्क्स आदि विद्वानों का कथन है कि प्राचीन काल से ही आर्थिक आधारों पर स्तरीकरण देखा जा सकता है। समाज में प्रारम्भ से ही दो वर्ग रहे हैं। एक तो वह वर्ग जिसका संपत्ति, पूंजी या उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है, और दूसरा वह जो कि सर्वहारा होता है अर्थात् जो संपत्ति, पूंजी या उत्पादन के साधनों का अधिकारी नहीं होता है अर्थात जो केवल अपना श्रम बेचता है। पहले वर्ग की स्थिति संपत्ति पर अधिकार होने के कारण

समाज में उच्च होती है जबकि दूसरे वर्ग की स्थिति निम्न होती है, इसीलिए उसे उच्च वर्ग के आर्थिक शोषण का शिकार बनना पड़ता है।

मैक्स वेबर का कथन है कि आर्थिक स्तरीकरण संपत्ति पर अधिकार होने और न होने के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार समाज में दो आर्थिक स्थिति वाले समूह होते हैं - एक तो संपत्ति पर अधिकार रखने वाला तथा दूसरा अपनी सेवाएं बेचने वाला। प्रित्रिम सोरोकिन के अनुसार आर्थिक स्तरीकरण का आधार आय व संपत्ति होने के कारण इसमें उतार-चढ़ाव मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं - प्रथम तो समग्र रूप में एक समूह की आर्थिक स्थिति का चढ़ाव अथवा उतार, और द्वितीय एक समाज के अंतर्गत आर्थिक स्तरीकरण की उच्चता व आकार का चढ़ाव-उतार। इस आर्थिक उतार-चढ़ाव के संबंध में सोरोकिन ने कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष इस प्रकार दिए हैं - (i) औसत संपत्ति तथा आय अलग-अलग समाज व समूह में अलग-अलग होते हैं (ii) औसत संपत्ति तथा आय एक ही समाज या समूह में अलग-अलग होते हैं (iii) आर्थिक समृद्वि का बढ़ना या घटना अनेक कारकों तथा परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

11.5.2 राजनीतिक आधार

आदिम समाजों की राजनीतिक संरचना व संगठन अत्यंत सरल होती थी। इसीलिए राजनीतिक स्तरीकरण भी बहुत कम व सरल रूप में देखा जाता था, जैसे वंशानुगत राजा और मुखिया आदि। सभ्यता के विकास व समाज के आकार व प्रकार में विस्तार के साथ-साथ जैसे-जैसे राजनीतिक संरचना व संगठन में जटिलता बढ़ती गई वैसे-वैसे राजनीतिक स्तरीकरण भी जटिल होता गया। वर्तमान में जिस प्रकार की सरकार या शासन व्यवस्था है, जैसे प्रजातंत्र, तानाशाही आदि उसी के अनुसार राजनीतिक क्षेत्र में स्थितियों का स्तरीकरण है। यह राजनीतिक स्तरीकरण भी स्थायी नहीं होता बल्कि राजनीतिक परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ इस स्तरीकरण के प्रकार तथा स्वरूप में भी अंतर आ जाता है। उदाहरणार्थ केंद्र या राज्य में कुछ समय पहले उपप्रधानमंत्री या उपमुख्यमंत्री का कोई पद नहीं होता था। परंतु भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप इन पदों का भी अब अपना महत्व है। इस संबंध में सोरोकिन के कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं - (i) जब एक राजनीतिक संगठन का आकार बढ़ता है अर्थात जब उसकी सदस्यता बढ़ती है तो राजनीतिक स्तरीकरण भी बढ़ जाता है , इसके विपरीत संगठन का आकार घटने से स्तरीकरण

भी कम हो जाता है । (ii) जब राजनीतिक संगठन के सदस्यों में भिन्नता बढ़ती या घटती है तो राजनीतिक स्तरीकरण भी विस्तृत या संकुचित हो जाता है ।

11.5.3 व्यावसायिक आधार

समाजशास्त्री सोरोकिन ने व्यावसायिक स्तरीकरण को दो मुख्य आधारों में बांटा हैः (i)अंतर्व्यावसायिक स्तरीकरण, (ii) अंत: व्यावसायिक स्तरीकरण । प्रथम प्रकार के व्यावसायिक स्तरीकरण को विभिन्न व्यवसायों की उच्चता या निम्नता के आधार पर समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ ,अपने समाज में एक डाक्टर के पेशे का स्तर एक लिपिक के पेशे के स्तर से उच्च माना जाता है। इसी प्रकार से भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के अंतर्गत ब्राह्मणों के व्यवसाय को उच्च या सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जबकि शूद्रों के व्यवसाय को निम्न समझा जाता है । दूसरे प्रकार का व्यावसायिक स्तरीकरण अंत: व्यावसायिक स्तरीकरण है जिसमें एक ही प्रकार के व्यवसाय में विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों का होना । एक ही प्रकार का पेशा करने वाले सभी व्यक्तियों की स्थिति एक समान न होकर, उनमें भी आपस में उच्च-निम्न का एक संस्तरण होता है सोरोकिन के अनुसार किसी भी व्यावसायिक समूह के सदस्य मुख्यतः तीन स्तरों में विभाजित होते हैं -

प्रथम व्यवस्थापक या मालिक जो कि आर्थिक तौर पर स्वतंत्र होते हैं और अपने व्यवसाय व कर्मचारियों के संगठन व नियंत्रण के मामले में स्वयं ही सर्वोच्च अधिकारी होते हैं ।

द्वितीय उच्चतर श्रेणी के कर्मचारी जैसे - निदेशक, मैनेजर आदि वे व्यवसाय के स्वयं मालिक नहीं होते इनका अपना एक मालिक होता है, वे अपनी सेवाओं को बेचते हैं और वेतन प्राप्त करते हैं। तृतीय वेतन भोगी साधारण कर्मचारी जो कि उच्चतर श्रेणी के कर्मचारियों की भांति वेतन के बदले में अपनी सेवाएं देते हैं लेकिन उनका वेतन उच्चस्तरीय कर्मचारियों से कम होता है और उन्हें अधीनस्थ रहकर कार्य करना पड़ता है ।

इन प्रमुख स्तरों के अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायों में उनकी प्रवृति के अनुसार अन्य अनेक अंत: व्यावसायिक स्तरीकरण हो सकते हैं । उदाहरणार्थ, डाक विभागीय कर्मचारी के रूप में सर्वोच्च पद पर पोस्ट मास्टर जनरल, डाक अधीक्षक, पोस्ट-मास्टर, सहायक पोस्ट-मास्टर, इंस्पेक्टर, क्लर्क व पोस्टमैन आदि का स्थान होता है। विशेष योग्यता, कुशलता, सेवा की अवधि आदि के आधार पर

अंत: व्यावसायिक स्थिति उच्च अर्थात पदोन्नति हो सकती है। उसी प्रकार से अकुशलता या अन्य कारणों के आधार पर एक व्यक्ति वर्तमान पद से पदच्युत भी किया जा सकता है।

11.5.4 धार्मिक आधार

धार्मिक आधार सामाजिक स्तरीकरण का महत्वपूर्ण आधार है। धार्मिक संगठनों के अंतर्गत भी स्तरीकरण होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण ईसाई धार्मिक संगठन है। ईसाई धर्म विश्व का एक अत्यंत संगठित धर्म है और इसीलिए इस संगठन ने अपनी धार्मिक व्यवस्था को सुचारू रूप में बनाए रखने के लिए अपने धार्मिक अधिकारियों में एक संस्तरण बना रखा है जिसके शीर्ष पर पोप का स्थान है। ईसाई धर्म का स्तरीकरण तो एक उदाहरण मात्र है। लगभग सभी धर्मों में थोड़ा बहुत स्तरीकरण तो होता ही है। हिंदु धर्म में शंकराचार्य होते हैं, जैन धर्म में तीर्थंकर होते हैं लेकिन कोई भी धर्म किसी दूसरे धर्म से न तो ऊंचा होता है और न नीचा। धर्म सभी समान होते हैं। इसलिए धर्मों की तुलना नहीं की जाती।

11.6 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं उसके विभिन्न आधारों को समझने का प्रयास किया है। सभी समाजों में सामाजिक असमानता देखी जा सकती है। प्रत्येक समाज अपनी सीमित वस्तुओं और सेवाओं को अपने सदस्यों के बीच वितरित करता है। इससे सामाजिक असमानता उत्पन्न होती है। यहां अवश्य कहना चाहिए कि यद्यपि प्रत्येक समाज में गैर बराबरी तो होती ही है, किसी में कम किसी में ज्यादा लेकिन सभी यह बराबर कहते हैं कि हमें न्यूनतम गैर-बराबरी समाज में लानी चाहिए। हर कोई समाज को समाजवादी बनाना चाहता है। भारतीय समाज एक प्रजातांत्रिक समाज है। इसमें बहुल संस्कृतियां हैं, यह धर्मनिरपेक्ष है। इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है

1. बोध प्रश्न

1. सामाजिक स्तरीकरण के व्यावसायिक आधार कौन-कौन से होते हैं।
2. सामाजिक असमानता किसे कहते हैं।

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. व्यावसायिक स्तरीकण के आधार दो प्रकार के होते हैं, प्रथम - अंतर्व्यावसायिक, द्वितीय अंत: व्यावसायिक आधार।

2. सामाजिक असमानता का अभिप्राय विकास के क्रम में समाज द्वारा लोगों के बीच स्थापित स्तरीकरण जैसे - समाज का एक समूह अमीर है और एक समूह गरीब है।

11.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. प्राकृतिक असमानता: जन्म से असमानता या व्यक्तिगत भेदभाव

2. सामाजिक असमानता: विकास के क्रम में समाज द्वारा लोगों के बीच स्थापित असमानता

3. सामाजिक स्तरीकरण: वह सामाजिक व्यवस्था जिसके अंतर्गत समाज के विभिन्न समूहों को क्रमश: उच्च व निम्न के आधार पर स्तरीकृत होना।

11.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1 बेंडिक्स, आर. एवं लिपसेट, एस. (संपादित), 1967 क्लास, स्टैटस एंड पावर सोशल स्ट्रेटीफिकेशन इन कंपेरेटिव पर्सपेक्टिव, लंदन: राउटलेज् एंड केगेज पॉल

2. सिंह, योगेंद्र 1997 सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एंड सोशल चेज इंडिया, नई दिल्ली, मनोहर

3. शर्मा, के.एल. 1980 एसेंज ऑन सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, जयपुर रावत पब्लिकेशंस

4. अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

इकाई 12- सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत

Theories of Social Stratification

इकाई की रूपरेखा

12.0 परिचय

12.1 उद्देश्य

12.2 सामाजिक स्तरीकरण के मूल तत्व

12.3 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं

12.4 सामाजिक विभेदीकरण एवं सामाजिक स्तरीकरण

12.5 सामाजिक स्तरीकरण का महत्व या प्रकार्य

12.6 सामाजिक स्तरीकरण के आधार

12.7 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप

12.7.1 दास प्रथा

12.7.2 जागीर प्रथा

12.7.3 जाति व्यवस्था

12.7.4 वर्ग व्यवस्था

12.8 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत

12.8.1 मार्क्सवादी सिद्धांत

12.8.2 प्रकार्यवादी सिद्धांत

12.8.3 ऐतिहासिक स्तरीकरण का सिद्धांत

12.9 सारांश

12.10 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

12.11 पारिभाषिक शब्दावली

12.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.13 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 परिचय

सामाजिक स्तरीकरण शब्द का इस इकाई में विस्तार से अध्ययन करेंगे। सामाजिक स्तरण से तात्पर्य समाज में उच्चता एवं निम्नता, श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना पाई जाती है जिसे सामाजिक स्तरण कहते हैं, तथा सामाजिक स्तरण के मूल तत्वों में सामाजिक विभेदीकरण, उच्चता एवं अधीनता की व्यवस्था, उच्चता एवं अधीनता की सामाजिक मान्यता से है । सामाजिक स्तरण की विशेषता में असमानता को प्रमुख रखा गया है । सामाजिक विभेदीकरण ही सामाजिक स्तरण का कारण है। सामाजिक स्तरण का समाज के लिए विशेष महत्व है। इससे आवश्यकता की पूर्ति, व्यक्तित्व का विकास, श्रम विभाजन, मानसिक संतोष आदि प्रदान होता है। सामाजिक स्तरण के स्वरूप के रूप में दास प्रथा, जागीर प्रथा, जाति प्रथा, वर्ग व्यवस्था आदि है। कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक स्तरण के सिद्धांत भी दिए है जिनमें, मार्क्सवादी सिद्धांत, ऐतिहासिक स्तरण का सिद्धांत, प्रकार्यवादी सामाजिक स्तरण का सिद्धांत आदि हैं।

12.1 उददेश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः-

- सामाजिक स्तरण का अर्थ एवं परिभाषाओं को जान सकेंगे।

- सामाजिक स्तरण के मूल तत्व सामाजिक विभेदीकरण एवं सामाजिक असमानता को जान सकेंगे।
- सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- सामाजिक विभेदीकरण से सामाजिक स्तरण कैसे समाज में पैदा होता है, उसे जान सकते हैं।
- सामाजिक स्तरण का समाज के लिए क्या महत्व है।
- सामाजिक स्तरण के स्वरूप-दास प्रथा, जागीर प्रथा, जाति व्यवस्था, वर्ग व्यवस्था आदि को जान सकते हैं।
- सामाजिक स्तरण के विभिन्न सिद्धांतों जैसे, प्रकार्यवादी सिद्धांत, मार्क्सवादी सिद्धांत, ऐतिहासिक सिद्धांत आदि को जान सकते हैं।

12.2 सामाजिक स्तरीकरण के मूल तत्व

सामाजिक स्तरीकरण के मूल तत्व निम्न हैं जो इस प्रकार हैं:-

- **सामाजिक विभेदीकरण**

सामाजिक स्तरीकरण एक अधिक प्राचीन एवं स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाली प्रक्रिया है, यह अल्पकालिक है। इसमें ऊंच-नीच की भावना नहीं पाई जाती, जब समाज में विभेद उत्पन्न होता है सभी सामाजिक स्तरों का विकास होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक विभेदीकरण ही सामाजिक स्तरीकरण का निर्माण करता है। इसमें समूहों का स्थायी होना आवश्यक नहीं है। यह लंबवत विभाजन है, यह एक स्तरीकरण का मूल कारण है।

- **उच्चता एवं अधीनता की व्यवस्था**

सामाजिक स्तरीकरण द्वारा विभिन्न स्तरों का विकास होता है, जिसमें कुछ लोग ऊंचे पद पर रहते हैं तथा कुछ नीचे, जिससे समाज की सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है।

- **उच्चता एवं अधीनता की सामाजिक मान्यता**

समाज में उच्चता एवं अधीनता के द्वारा सामाजिक स्तरीकरण तभी तक बना रहता है जब समाज की उसे स्वीकृति मिली होती है।

12.3 सामाजिक स्तरीकरण की सामान्य विशेषताएँ

सामाजिक स्तरीकरण की निम्नलिखित सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है -

सामाजिक स्तरीकरण समाज की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो प्रायः हर समाज में पाई जाती है।

- सामाजिक स्तरीकरण में व्यक्तियों को उनकी योग्यता व कार्य के मुताबिक अलग-अलग स्तरों में स्तरीकृत कर दिया जाता है जिससे समाज की सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है।
- सामाजिक स्तरीकरण का मूल कारण सामाजिक विभेदीकरण है जिससे समाज में लोगों में सामाजिक विभिन्नता उत्पन्न करते हुए उन्हें अलग-अलग भागों में स्तरीकृत किया जाता है।
- सामाजिक स्तरीकरण एक प्रक्रिया है जो समाज में निरंतर गति से चलती रहती है। व्यक्ति के जैसे-जैसे कार्य एवं योग्यताएं बदलती व विकसित होती जाती हैं उन्हें उन्ही रूपों में स्तरीकृत किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक विद्यार्थी प्रोफेसर के रूप में भी स्तरीकृत हो सकता है अगर उसमें वे योग्यताएं आ जाती हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण से समाज में विभिन्न श्रेणियों का विकास होता है, जिन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त रहती है तथा जो अपेक्षाकृत स्थायी होती है।
- सामाजिक स्तरीकरण समाज का विभिन्न इकाइयों में बंटवारा है जिससे समस्त इकाइयां उच्चतर एवं निम्नतर के क्रम पाया जाता है।
- सामाजिक स्तरीकरण के कारण दो भिन्न-भिन्न वर्गो में भेद होता है, परंतु एक वर्ग के लोगों में एक सामूहिक चेतना पाई जाती है जिसको वर्ग-चेतना (Class Consciousness) कहते हैं।

- सामाजिक स्तरीकरण में कहीं भी खुले या बंद वर्ग नहीं मिलते। जाति और सामाजिक वर्ग को सामाजिक स्तरीकरण के उदाहरण के रूप में अवश्य माना जा सकता है परंतु न जाति एक पूरी तरह बंद वर्ग है और न वर्ग एक तरह से खुली श्रेणी है। वास्तव में सामाजिक स्तरीकरण में वर्गों के बीच विभाजक रेखा खिंचना बड़ा कठिन है। कहां कौन-सा वर्ग समाप्त होता है और कौन सा वर्ग प्रारंभ होता है, इसका एकदम निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। किसी भी समाज में विभिन्न वर्गों में विवाह आदि की न तो पूरी छूट है और न कहीं पूरा प्रतिबंध। अतः वर्गों का अभाव सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख लक्षण है।

12.4 सामाजिक विभेदीकरण एवं सामाजिक स्तरीकरण

सामाजिक विभेदीकरण भी एक सार्वभैमिक प्रक्रिया है जो आदिकाल से सभी समाजों में व्याप्त रही है। विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों एवं समूहों को कुछ मूर्त आधारों पर विभाजित किया जाता है। नोंर्थ ने सामाजिक विभेदकरण के चार आधार बताए हैं-

i) प्रकार्य

ii) संस्कृति

iii) रूचि

iv) क्रय-विन्यास

विभेदीकरण का चौथा आधार क्रम-विन्यास है, जिसके अंतर्गत समान परिस्थिति प्राप्त लोग समाज के एक स्तर के सदस्य होते हैं। समाज के विभिन्न स्तर प्रस्थितियों के भेद के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न है। इस प्रकार के विभेदीकरण में ऊंचे-नीचे का बोध होता है जोकि उपयुक्त तीनों सामाजिक विभेदीकरण के मापदंडों में नहीं है। क्रम-विन्यास का आधार प्रस्थिति है जो कि सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करती है। अतः वह विभेदीकरण जिसका आधार क्रम-विन्यास है, स्तरीकरण कहलाता है।

- विभेदकरण एक तटस्थ अवधारणा है।
- सामाजिक विभेदीकरण एक जागरूक प्रक्रिया है।
- सामाजिक विभेदीकरण का निर्धारण बाह्य एवं स्पष्ट कारकों द्वारा किया जाता है।

- सामाजिक विभेदीकरण अवैयक्तिक है।
- विभेदीकरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है।

जब सामाजिक विभेदीकरण में उच्चता एवं अधीनता या श्रेष्ठता व हीनता या उच्च एवं निम्न का भाव जुड़ जाता है तो वहीं विभेदीकरण सामाजिक स्तरीकरण कहलाता है। सामाजिक विभेदीकरण एक स्वतः एवं स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाली प्रक्रिया है, जबकि स्तरीकरण एक जागरूक एवं जान-बूझकर अपनाई जाने वाली प्रक्रिया है। विभेदीकरण के लिए समूहों का स्थायी होना आवश्यक नहीं है जबकि स्तरीकरण के लिए समूहों का स्थायी होना आवश्यक है।

इस प्रकार विभेदीकरण एवं स्तरीकरण दोनों में असमानता है लेकिन जिस असमानता में उच्च-निम्न के भाव जुड़ जाते हैं वहीं स्तरीकरण होता है। उदाहरण स्वपरूप, लिंग के आधर पर स्त्री एवं पुरूष का विभाजन विभेदीकरण है जबकि पुरूष को श्रेष्ठ तथा स्त्री को हीन मानना ही स्तरीकरण है।

12.5 सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्य या महत्व

सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्य व महत्व को निम्न शीर्षकों में उल्लेखित किया जा सकता हैः-

1. सामाजिक स्तरीकरण के वैयक्तिक महत्वः-

- व्यक्तिव का विकास
- वैयक्तित्व संघर्ष से रक्षा
- आवश्यकता की पूर्ति
- कार्य करने की प्रेरणा

2. सामाजिक महत्वः-

- सामाजिक एकीकरण
- सामाजिक संगठन
- सामाजिक संकलन

- सामाजिक संघर्ष से रक्षा
- श्रम-विभाजन

3. मनोवैज्ञानिक महत्वः-

- मानसिक संतोष
- मनोवृत्तियों का निर्धारण

12.6 सामाजिक स्तरीकरण के आधार

स्तरीकरण विश्व के सभी समाजों में पाया जाता है, जिसके निर्धारण के आधार समाज द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। पारसंस ने समाज में प्रस्थिति निर्धारण के छः आधारों का उल्लेख किया है, जिसे स्तरीकरण के लिए भी उपयुक्त कहा जा सकता है। वे हैं-

- नातेदारी समूह की सदस्यता।
- व्यक्तिगत विशेषताएं।
- अर्जित उपलब्धियां।
- द्रव्यजात
- सत्ता, तथा
- शक्ति।

12.7 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप

बोटोमोर ने मानव इतिहास में प्रचलित सामाजिक स्तरीकरण के चार प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख किया है-

i) दास प्रथा

ii) जागीर व्यवस्था

iii) जाति व्यवस्था

iv) वर्ग-व्यवस्था

12.7.1 दास-प्रथा

मानव इतिहास में दास-प्रथा भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप रहा है। यह असमानता के चरम रूप का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें व्यक्तियों के कुछ समूह पूर्ण रूप से अधिकारों से वंचित रहते हैं। एल.टी.हॉबहाउस ने कहा है कि 'दास वह व्यक्ति है जिसे कानून और परंपरा दोनों दूसरे की संपत्ति मानते हैं। कुछ विशिष्ट स्थिति मे वह पूर्णतः अधिकार विहीन है तथा कुछ स्थितियों में उसकी रक्षा ठीक उसी प्रकार की जाती है जैसे एक बैल या गधे की। इस प्रकार दास-प्रथा असमानता की कल्पनातीत स्थिति है। यों तो दास-प्रथा के उदाहरण इतिहास में समय-समय पर मिलते रहे हैं किंतु विशेष रूप से यूनानी व रोमन साम्राज्यों में इसका अधिक प्रचलन था। इसके अलावा 18 वीं व 19 वीं शताब्दी में संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी भागों में दास लोग अधिक संख्या में रखे जाते रहे हैं। बोटोमोर के अुनसार दास-प्रथा भी औद्योगिक व्यवस्था के समान रही है क्योंकि इसने मालिकों को दासों से एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य लेने को प्रोत्साहित किया था जिससे मालिकों की जीवन-शैली में काफी अंतर आया। आधुनिक युग में मानव-अधिकार और प्रजातांत्रिक विचारधारा के कारण संस्तरण का यह स्वरूप देखने को नहीं मिलता है। यह समूह भेद का आदिम स्तर है।

12.7.2 जागीर व्यवस्था

मध्य युग में जागीरों की प्रथा थी। ये जागीरें प्रथा व कानून द्वारा मान्य थीं। इसमें तीन वर्ग होते थे- पादरी, सरदार तथा साधारण जनता। प्रत्येक वर्ग की जीवन-शैली एवं संस्कृति भिन्न थी। सामाजिक संस्तरण में सर्वोच्च स्थान पादरियों का था, क्योंकि उस समय राज्य भी चर्च के अधीन था। बोटोमोर जागीरों की तीन विशेषताएं बताते हैं:- (अ) हर जागीर की एक परिभाषित प्रस्थिति थी। (ब) जागीरों में स्पष्ट श्रम-विभाजन था, (स) जागीरें राजनीतिक समूह थीं। ये तीनों ही विशेषताएं जागीरों को स्तरों में बांटती हैं और उनको स्तरीकरण की ठोस भूमिका प्रदान करती हैं।

12.7.3 जाति व्यवस्था

जाति व्यवस्था भी सामाजिक स्तरण का महत्वपूर्ण स्वरूप है। जाति शब्द का उल्लेख होते ही हमारा ध्यान भारतीय जाति व्यवस्था की ओर जाता है, इसका कारण यह नहीं है कि यह केवल भारत में ही विद्यमान है वरन् इसका कारण यह है कि भारत में जाति-प्रथा की पराकष्ठा है।

जाति भारतीय सामाजिक व्यवस्था में पाई जाने वाले संस्तरण का एक अनुपम स्वरूप है। इसका अध्ययन अनेक विद्वानों द्वारा किया गया है। ए.आर. वाडिया का मत है कि जाति शब्द अंग्रेज़ी भाषा के Caste का हिंदी अनुवाद है ;Caste की व्युत्पित्ति पुर्तगाली भाषा के ;Casta शब्द से हुई है जिसका अर्थ मत, विभेद तथा जाति से लिया जाता है। जाति शब्द की उत्पत्ति का पता सन् 1665 में ग्रेसिया डी ओरेटा नामक विद्वान ने लगाया।

इस प्रकार, जाति जन्म पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण की वह गतिशील व्यवस्था है जो अपने सदस्यों पर विवाह, खान-पान, व्यवसाय तथा सामाजिक-सहवास संबंधी प्रतिबंध लगाती है।

(1) डॉ. जी.एम.धुर्ये ने जाति की छह विशेषताओं का उल्लेख किया है-

i) समाज का खंडात्मक विभाजन

ii) संस्तरण

iii) भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबंध

iv) विभिन्न जातियों की सामाजिक एवं धार्मिक नियोग्ताएं तथा विशेषाधिकार

v) पेशों के अप्रतिबंधित चुनाव का अभाव

vi) विवाह संबंधी प्रतिबंध

अन्य विशेषताएं -

(i) जन्मजात सदस्यता

(ii) एक विशिष्ट नाम

(iii) जाति का राजनीति रूप

(2) किंग्सले डेविस के अनुसार जाति व्यवस्था की सात विशेषताएं हैं:-

(i) जाति की सदस्यता वंशानुगत होती हैः-

(ii) जाति की सदस्यता जन्मजात रहती है।

(iii) जाति अंतर्विवाही समूह है,

(iv) जाति अपने सदस्यों पर एक-दूसरे के साथ खान-पान, सामाजिक सहवास, सहयोग, संपर्कों आदि पर प्रतिबंध लगाती है।

(v) प्रत्येक जाति का एक नाम होता है जो कि जातीय चेतना को बल देता है।

(vi) प्रत्येक जाति का परंपरागत व्यवसाय होता है,

(vii) प्रत्येक जाति के मध्य श्रेष्ठता व हीनता की भावना पाई जाती है।

(3) **मैक्सबेवर** के अनुसारः- मैक्सवेबर ने जाति-प्रणाली को इसकी विशेषताओं के आधार पर परिभाषित करने का प्रयत्न किया। उसने जाति को प्रस्थिति समूह के रूप में देखा अर्थात् ऐसा समूह जिसमें सदस्यों को उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति तथा जीवन-स्तर के आधार पर जाना जाता है। इस प्रकार के समूहों पर उनकी सामाजिक अंतःक्रिया को सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबंध लगाए जाते थे। उदाहरण के लिए, कौन किससे शादी करेगा और एक व्यक्ति क्या काम कर सकता है ? समय के अंतराल के बाद इसने जाति विशेषताओं का रूप ले लिया क्योंकि इन विशेषताओं ने जातियों को परिभाषित करना आसान बना दिया। सामाजिक संगठन ब्राह्मण विचारधारा पर आधारित था। हिंदुओं के कर्म, धर्म एवं संस्कार के दार्शनिक विचारों की ओर संकेत करता है। हिंदू मान्यता के अनुसार, प्रत्येक पवित्र हिंदू अपने पूर्व जन्म के कर्म एवं धर्म के कारण विशेष जाति कुल में जन्म लेता है। अतः प्रत्येक जाति के लिए अपनी पहचान को कायम रखना अति आवश्यक हो जाता है और उसे यह भी चेष्टा करनी पड़ती है कि समाज में उसकी स्थिति न गिरे।

(4) **डॉ. एम.एन. श्रीनिवास**:- श्री निवास भी जाति को एक खंडात्मक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार भी प्रत्येक जाति उपजातियों में बंटीं हैं। अपनी व्याख्या में वे निम्न विशेषताओं का उल्लेख करते हैं:-

- संस्तरण
- व्यावसायिक संघ
- खानपान, पोशाक एवं भाषा व प्रथा
- प्रदूषण
- जाति पंचायत व सभाएं
- संस्कृतिकरण
- प्रभुत्वशील जाति:- इनके निर्धारण के तीन आधार हैं:-
- संख्यात्मक
- भूस्वामित्व के माध्यम से आर्थिक शक्ति
- राजनीतिक शक्ति।

(5) **लुई ड्यूमां के विचार**:- जाति पर काफी कुछ अध्ययन फ्रांसिसी विद्वान लुई ड्यूमां (Louis Dumont) ने किया है जिसकी चर्चा उन्होंने अपनी पुस्तक होमो हायरारकिकस (1970) में किया है। ड्यूमां ने जाति के तीन प्रमुख गुणों पर बल दिया है-

- सोपानक्रम
- दूरी
- श्रम-विभाजन

ड्यूमां भी जाति को विभक्त रूप में देखते हैं। उसके अनुसार इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जाति सिर्फ उपभागों में बंटीं है और प्रत्येक उपभाग एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। बल्कि प्रत्येक खंड अपने ऊपर वाले खंड का भाग है। यह कुछ-कुछ प्याज के छिलके की भांति है। एक छिलका उतारने पर एक नई

परत सामने आती है, जिसके नीचे वैसी ही कई और परतें होती हैं। ये सभी परतें मिलकर प्याज बनती है।

ड्यूमां के अनुसार, जाति व्यवस्था खंडों का योग है। प्रत्येक खंड दूसरे खंड के साथ सोपानबद्ध संबंध में व्यवस्थित होता है तथा इसमें दूसरा खंड शामिल होता है। जातियों की इस असमानता एवं संबंध को ड्यूमा ने 'इंकंपासिंग' व 'इंकंपास्क' कहा है।

इसके साथ ही ड्यूमां द्वारा दिया गया जाति का द्वितीय सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण दूरी है। यह जाति के शुचिता अथवा प्रदूषण सोपान क्रम का द्योतक है तथा इसके साथ ही यह जाति की कर्मकांडीय प्रस्थिति को बनाए रखने में भी सहायता करता है। शुचिता व प्रदूषण का सिद्धांत खान-पान व विवाह संबंधी क्षेत्रों में जातियों के संबंधों का आधार है।

12.7.4 वर्ग व्यवस्था

वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण का एक सार्वभौमिक स्वरूप है। विश्व में कोई भी ऐसा समाज नहीं जहां वर्ग न पाया जाता हो। वर्तमान समाज में वर्ग स्तरीकरण का प्रमुख स्वरूप हो गया है। मार्क्स व्यक्ति को सामाजिक प्राणी के स्थान पर वर्ग-प्राणी कहना अधिक उपयुक्त् मानते हैं। वर्ग भी समाज में आदिकाल से प्रचलित रहा है। आयु, लिंग, शिक्षा, आय आदि के आधार पर वर्ग बनते रहे हैं। वर्ग की एक प्रमुख विशेषता है कि इसके निर्माण का आधार जन्म न होकर अन्य आधार है।

- **मैक्सवेबरः**- 'हम एक समूह को तब तक वर्ग कहते हैं जब तक उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ अवसर समान रूप से प्राप्त हों, जहां तक कि यह समूह वस्तुओं पर अधिकार या आमदनी की सुविधाओं से संबंधित आर्थिक हितों द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओं या श्रमिक बाजारों की अवस्थाओं के अनुरूप हों।'
- **मार्क्सः-** 'जीविका-उपार्जन के विभिन्न साधनों के कारण मनुष्य पृथक-पृथक वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। उनके अनुसार एक सामाजिक वर्ग को उसके उत्पादन के साधनों और संपत्ति के वितरण के साथ होने वाले संबंधों के संदर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है।'

वर्ग व्यवस्था की विशेषताएं-

(i) समूहों का उतार-चढ़ाव Hierarchy of Group- समाज में वर्गों की एक श्रेणा होती है जिसमें कुछ वर्ग ऊपर एवं कुछ वर्ग मध्यम एवं कुछ निम्नतम स्थान पर होते हैं।

(ii) समान प्रस्थिति (Equal Status)- एक सामाजिक वर्ग के सदस्यों की समान सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है। जैसे- एक क्लर्क वर्ग, अधिकारी वर्ग, मजदूर एवं पूंजीपति वर्ग आदि।

(iii) ऊंच-नीच की भावना

(iv) वर्ग-चेतना

(v) जन्म का महत्व नहीं

(vii) कम स्थिरता

(viii) पूर्णतया अर्जित

12.8 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण क्यों और किन कारणों से निर्धारित होती है। इस संबंध में विभिन्न विद्वानों ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उन्हें सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत के नाम से संबोधित किया जाता है। बोटोमोर ने स्तरीकरण के सिद्धांत को निम्न तीन भागों में बांटा हैः-

1) मार्क्सवादी सिद्धांत

2) प्रकार्यवादी सिद्धांत

3) ऐतिहासिक स्तरीकरण का सिद्धांत

पारसंस तथा डेविस व मूर के विचारों को प्रकार्यवादी सिद्धांत के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है। मैक्सवेबर तथा वार्नर को ऐतिहासिक स्तरीकरण के सिद्धांत में सम्मिलित किया जाता है। मार्क्सवादी सिद्धांत के अंतर्गत कार्ल मार्क्स को रखा गया है।

12.8.1 मार्क्सवादी स्तरीकरण का सिद्धांत

कार्ल मार्क्स का सिद्धांत -

कार्ल मार्क्स का सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत उनकी वर्ग की अवधारणा पर आधारित है। मार्क्स का विचार है कि समाज में सामाजिक स्तरीकरण का मूल कारण उत्पादन तथा आर्थिक शक्तियां हैं। आर्थिक संरचना सामाजिक संरचना का निर्माण करती है, इसलिए सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति उस समाज में पाई जाने वाली उत्पादन की विधियों तथा आर्थिक शक्तियों पर निर्भर करती है। प्रौद्योगिकी उत्पादन विधि को तथा उत्पादन विधि की अर्थव्यवस्था को निर्धारित करती है, जिनसे समाज में वर्ग-व्यवस्था का जन्म होता है। वर्ग-व्यवस्था से समाज में मुख्यतः दो वर्ग विकसित होते हैं- पूंजीपति वर्ग का उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रहता है तथा ये संपत्ति माने जाती हैं, इसके विपरीत सर्वहारा वर्ग का उत्पादन के साधनों पर कोई अधिकार नहीं होता। ये केवल अपने श्रम को बेचकर अपनी जीविका चलाते हैं। इससे समाज में स्तरीकरण का जो स्वरूप विकसित होता है उसमें आर्थिक असमानता, शोषण व अन्याय का जन्म होता है, पूंजीपति सर्वहारा वर्ग का शोषण करता है जिससे इन दोनों के बीच संघर्ष विकसित होता है। मार्क्स ने इसे वर्ग संघर्ष कहा है। मार्क्स का विश्वास है कि इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विजय तथा अंत में वर्ग विहीन समाज की स्थापना होगी जिसके कारण सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार मार्क्स के स्तरीकरण के सिद्धांत में मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं:-

- सामाजिक स्तरीकरण का मूल कारण उत्पादन की प्रक्रिया है जिससे समाज में वर्ग-व्यवस्था विकसित होती है।
- समाज की प्रारंभिक अवस्था में वर्ग-विभेद नहीं था। वर्ग-प्रणाली धीरे-धीरे बाद में विकसित हुई है जो पूंजीवादी युग में पूर्णरूपेण परिपक्व हो जाती है तथा वर्ग-संघर्ष का जन्म उग्ररूप में विकसित हो जाता हैं । मार्क्स ने समाज की भौतिकवादी व्याख्या करते हुए समाज के इतिहास को निम्न भागों में बांटा है।

i) आदिम साम्यवादी युगः- स्तरीकरण व वर्ग-विभेद का अभाव था।

ii) दासता का युग - सामाजिक स्तरीकरण में दो वर्ग विकसित हुए सामंत वर्ग तथा कृषक या दास वर्ग।

iii) कृषि युग ;सामंतवादी युग- समाज दो वर्गों के रूप में विकसित हुआ जमींदार तथा भूमिहीन।

iv) पूंजीवादी युगः- सामाजिक स्तरीकरण में दो वर्ग पूंजीवादी वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग विकसित हुए।

v) साम्यवादी युगः- सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होगा तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी जिसमें राज्य की संस्था समाप्त हो जाएगी।

i) सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप समाज की उत्पादन विधि की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के साथ बदलता रहता है।

12.8.2 प्रकार्यवादी स्तरीकरण का सिद्धांत

किंग्सले डेविस एवं बिलबर्ट मूर का सिद्धांत -

सामाजिक स्तरीकरण से संबंधित प्रकार्यवादी सिद्धांत का वर्णन किंग्सले डेविस तथा बिलबर्ट मूर ने अपने लेख (Principles of Stratification) में किया है। वह अपने लेख को इस मान्यता से शुरू करते हैं कि कोई भी समाज वर्ग-विहीन नहीं है, सभी समाजों में संस्तरण पाया जाता है। समाजों में स्तरीकरण इसलिए पाया जाता है कि प्रत्येक समाज यह महसूस करता है कि सामाजिक संरचना में प्रत्येक व्यक्ति को कोई न कोई स्थान निश्चित होना चाहिए तथा विभिन्न स्थानों को प्राप्त करने की उन्हें प्रेरणा दी जानी चाहिए। इस प्रकार सामाजिक विषमता समाज में अचेतन रूप से विकसित होती है। इसके द्वारा समाज ऐसी व्यवस्था करता है कि सबसे महत्वपूर्ण पदों पर सबसे योग्य व्यक्ति पहुंचे।

डेविस का कहना है कि समाज के विभिन्न पदों के लिए विभिन्न बुद्धि एवं योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। जो पद सामाजिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, ऐसे पदों के लिए अधिक पुरस्कार की आशा की जाती है। महत्वपूर्ण कार्यों को करने के लिए विशेष प्रतिभा एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। कुछ प्रशिक्षण कठिन एवं खर्चीले होते हैं। अतः उन्हें सभी व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए इन पदों के लिए समाज अधिक सुविधा एवं पुरस्कार की व्यवस्था करता है। उदाहरण के लिए समाज में डॉक्टर, इंजीनियर, आई.ए.एस. के पद आदि महंगे और अधिक परिश्रम के बाद प्राप्त होते हैं बजाय एक अध्यापक या चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी के पद के। अतः इन पदों के लिए समाज द्वारा अधिक वेतन एवं सुविधाओं की व्यवस्था की गयी है।

डेविस के अनुसार समाज तीन प्रकार का पुरस्कार देता हैः-

प्रथम, समाज वस्तुएं देता है जो व्यक्तियों के जीवन धारण एवं आराम के लिए आवश्यक होती हैं अर्थात् आर्थिक प्रोत्साहन।

द्वितीय, समाज मन बहलाव तथा सौंदर्य तथा बोधात्मक प्रकृति की वस्तुएं प्रदान करता है।

तृतीय, समाज आत्मसम्मान एवं अहं की तुष्टि करने वाली वस्तुएं प्रदान करता है अर्थात् प्रतीकात्मक। उदाहरण के लिए, वीरता प्रदर्शित करने वाले सैनिकों को 'परमवीर चक्र' प्रदान किए जाते हैं। राष्ट्रपति द्वारा दी जाने वाली 'भरत रत्न', 'पद्म विभूषण' तथा 'पद्मश्री' आदि उपाध्यिाँ सम्मानजनक पुरस्कार हैं।

इस प्रकार जब समाज में कुछ लोगों को अधिक पुरस्कार एवं सुविधाएं प्रदान की जाती हैं और कुछ को कम तो समाज में स्वतः ही स्तरीकरण पैदा हो जाता है। डेविस का मत है कि यह सिद्धांत बंद तथा खुला दोनों पर लागू होता है क्योंकि स्तरीकरण में व्यक्तियों का नहीं वरन् पदों का क्रम विन्यास होता है।

डेविस व मूर के प्रकार्यात्मक सिद्धांत की आलोचना मेलविन ट्यूमिन द्वारा की गई है। ट्यूमिन का कहना है कि यह कैसे कहा जा सकता है कि समाज में कौन-सा कार्य अधिक महत्वपूर्ण है और कौन-सा कम महत्वपूर्ण है। समाज में बहुत सी ऐसी प्रस्थिति होती हैं, जिससे आम लोगों का कोई मतलब नहीं होता तो उनके लिए उस प्रस्थिति का कोई महत्व नहीं होता। डेविस व मूर शायद यह भूल गए कि प्रत्येक प्रस्थिति के साथ शक्ति की मात्रा जुड़ी होती है। जिस प्रस्थिति के साथ जितनी शक्ति की मात्रा होगी वह प्रस्थिति उतनी ही महत्वपूर्ण होगी। कलेक्टर की प्रस्थिति समाज में अधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि उसे किसी भी कर्मचारी को दंडित करने की शक्ति प्राप्त है।

12.8.3 ऐतिहासिक स्तरीकरण का सिद्धांत

मैक्सवेबर का सिद्धांत - वेबर मार्क्स की तरह वर्ग को स्तरीकरण के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं। वेबर ने कहा कि आर्थिक कारक के साथ शक्ति और सम्मान का भी महत्व होता है। इनके अनुसार संपत्ति से वर्ग भेद उत्पन्न होता है। शक्ति के अधिकारों से राजनीतिक दल बनते हैं और सम्मान में अंतर होने से प्रस्थिति समूह या स्तर बनते हैं। वेबर ने भी प्रस्थिति समूह व दल के आधार पर स्तरीकरण की व्याख्या की है। जिस वर्ग के लोगों के पास संपत्ति होती है, वे एक समुचित सम्मान के साथ एक प्रस्थिति समूह के सदस्य हो जाते है और कालांतर में उनको शक्ति मिल जाती है।

वेबलन का सिद्धांत - अपने सिद्धांत का वर्णन (Theory of Leisure Class) में किया जिसे विलासी वर्ग का सिद्धांत कहते है। वेबलन समाज को दो वर्गों में विभक्त करते हैं प्रथम वह जो अनुत्पादक होते हुए भी अपनी आर्थिक शक्ति के कारण विलास की वस्तुओं का उपभोग करता है, एवं द्वितीय वह जो उत्पादन कार्य में लगा होने पर भी अपनी क्षीण आर्थिक स्थिति के कारण इच्छानुसार उपभोग करने में असमर्थ होता है। वेब्लन का मत है कि उपभोग के संबंध में यह भिन्नता आदिम काल से चली आई है, किंतु उस समय परंपराएं तय करती थीं कि कौन किस वस्तु का उपभोग करेगा। इस प्रकार समाज में ऊंचे एवं नीचे दो वर्ग बन जाते हैं जो स्तरीकरण पैदा करते हैं।

बोध प्रश्न

1. सामाजिक स्तरण का क्या अर्थ है?
2. सामाजिक स्तरण के मूल तत्व क्या हैं?
3. सामाजिक विभेदीकरण से क्या तात्पर्य है?
4. सामाजिक स्तरण एवं सामाजिक विभेदीकरण में क्या अंतर है?
5. सामाजिक स्तरण की विशेषताएं बताईए?
6. सामाजिक स्तरण का समाज के लिए क्या महत्व है ?

12.9 सारांश

इस इकाई में आपने सामाजिक स्तरण के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त की। सामाजिक स्तरीकरण के मूल तत्व के बारे में, सामाजिक विभेदीकरण से किस तरह असमानता के रूप में बदलकर सामाजिक स्तरण में बदलता है । सामाजिक स्तरण का समाज के लिए क्या महत्व है के बारे में जानकारी प्राप्त हुई। सामाजिक स्तरण के स्वरूपों के बारे मे जैसे दास प्रथा, जागीर प्रथा, जाति प्रथा, वर्ग व्यवस्था आदि के बारे में कि ये कैसे सामाजिक स्तरण का रूप धारण कर लेता है, तथा सामाजिक स्तरण के विभिन्न सिद्धांतों जैसेः- प्रकार्यवादी सिद्धांत, संघर्ष वादी सिद्धांत, ऐतिहासिक सिद्धांत आदि की विस्तार से जानकारी प्राप्त हुई है।

12.10 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न

i) उत्तर के लिए देखिए 12.2

ii) उत्तर के लिए देखिए

12.11 पारिभाषिक शब्दावली

1.	स्तरण	-	परत
2.	सामाजिक विभेदीकरण	-	भिन्नता
3.	विभक्तिकरण	-	बंटवारा
4.	प्रस्थिति	-	पदस्थिति
5.	विलासी वर्ग	-	जो विलास की वस्तुओं का उपभोग करता है।
6.	अभिजात वर्ग	-	उच्च पदों पर आसीन परिस्थितियों का समूह
7.	बुर्जुवा	-	पूंजीपति
8.	सर्वहारा	-	मजदूर
9.	सोपान क्रम	-	उच्चता से निम्नता की तरफ

12.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गिड़िस, एथनी, समाजशास्त्र, कैंब्रिज पोलिटी प्रेस 1998.।

2. होरोलंबस, माइकल, समाजशास्त्र: थीम्स एंड पर्सपेक्टिव, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड, प्रेस, 1989.।

3. डेविस, के एंड मूर, विल्बर्त ई, सम प्रिंसिपल्स आफ स्ट्रेटीफिकेशन, 1966.।

4. घुर्ये , जी. एस, कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, मुंबई पापुलर बुक डिपो, 1950.।

5. कर्बे, इरावर्ती, हिंदु समाज: एन इंटरप्रेटेशन, पुने, डेक्कन कॉलिज, 1968.।

6. अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

12.13 निबंधात्मक प्रश्न

7. सामाजिक स्तरण के सिद्धांतों को समझाइए ?

8. सामाजिक स्तरण का प्रकार्यवादी सिद्धांत क्या है ?

9. सामाजिक स्तरण का संघर्षवादी सिद्धांत क्या है ?

10. सामाजिक स्तरण के ऐतिहासिक सिद्धांत से आप क्या समझते हो ?

इकाई 13 सामाजिक वर्ग
Social Class

इकाई की रूपरेखा

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 वर्ग का अर्थ तथा परिभाषा

13.2.1 सामाजिक वर्ग की विशेषता

13.3 सामाजिक वर्ग के प्रकार

13.4 वर्ग-निर्माण के आधार

13.5 सारांश

13.6 पारिभाषिक शब्दावली

13.7 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

13.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

13.10 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

हर उस समूह को सामाजिक वर्ग कहा जाता है, जिसे समाज को अनेक समूहों में बांटकर बनाया जाता है पर जिसका आधार जन्म के अलावा और कोई भी कारण होता है। वास्तव में वर्ग ऐसे समूह होते हैं जिसमें खुलापन पाया जाता है। यह अधिकतर आर्थिक कारणों से और कभी-कभी सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से भी बनते हैं। वर्ग में कुछ श्रेणियां भी पाई जाती हैं जो सामाजिक दृष्टि से एक-दूसरे से निचले या ऊंचे स्तर की मानी जाती हैं। समाजशास्त्र में स्तरीकरण और सामाजिक विभेदीकरण को वर्ग के अध्ययन द्वारा समझा जा सकता है। विश्व में पाए जाने वाले प्रत्येक समाज

में वर्ग को देखा जा सकता है। पुराने समय से ही समाज में आयु, लिंग, शिक्षा, आय, व्यवसाय और धर्म के आधार पर वर्ग बनते आए हैं ,जिनके द्वारा बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री-पुरूष, शिक्षित-अशिक्षित, अमीर-ग़रीब, किसान, व्यापारी, शिक्षक, क्लर्क, अफसर आदि अनेक प्रकार के वर्गों में समाज का स्तरीकरण हुआ।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपके द्वारा संभव होगा;

- सामाजिक वर्ग की परिभाषा देना,
- सामाजिक वर्ग की विशेषताओं द्वारा वर्ग के स्वरूप की चर्चा करना,
- सामाजिक वर्ग के प्रकारों को बताना,
- वर्ग-निर्माण करने वाले आधारों की चर्चा करना।

13.2 वर्ग का अर्थ तथा परिभाषा

वर्ग एक समान सामाजिक प्रस्थिति वाले व्यक्तियों का ऐसा समूह होता है, जिसकी एक विशेष संस्कृति होती है। एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश किया जा सकता है अर्थात् वर्ग में सदस्यता का परिवर्तन संभव है। यह सदस्यता जन्म आधारित न होकर सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आधारों पर किसी भी व्यक्ति को मिल सकती है। सामाजिक वर्ग आधुनिक युग की देन है। आज समाज विभिन्न प्रकार के समूहों में वर्गीकृत है। वर्तमान सामाजिक-व्यवस्था में वर्ग को स्तरीकरण करने के लिए मुख्य आधार बनाया गया है।

वर्ग को सामाजिक आधार पर परिभाषित करते हुए ऑगबर्न एवम् निमकॉफ ने कहा है कि 'एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का योग है, जिनकी एक दिए हुए समाज में अनिवार्य रूप से समान सामाजिक स्थिति होती है।'

समान सामाजिक प्रस्थिति वाले समूहों द्वारा सामाजिक वर्ग का निर्माण होता है, उसे स्पष्ट करते हुए जिंसबर्ट ने कहा है कि 'एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का समूह अथवा एक विशेष श्रेणी है, जिसकी समाज में एक विशेष स्थिति होती है। यह विशेष स्थिति ही अन्य समूहों से उनके संबंध को निर्धारित

करती है।' इसी बात को मैकाइवर और पेज ने इस प्रकार कहा है कि 'एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक् किया जा सके।'

वर्ग को आर्थिक कारणों द्वारा निर्मित मानने वाले समाजशास्त्रियों ने व्यवसाय और आजीविका के अनुसार वर्ग की उत्पत्ति मानी है। मैक्स वेबर के अनुसार 'हम एक समूह को तब तक वर्ग कहते हैं, जब तक उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ अवसर समान रूप से प्राप्त हों, यहां तक कि यह समूह वस्तुओं पर अधिकार या आमदनी की सुविधाओं से संबंधित आर्थिक हितों द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओं या श्रमिक बाजारों की अवस्थाओं के अनुरूप हो।'

वर्ग को सांस्कृतिक आधार पर परिभाषित करते हुए गिंसबर्ग कहते हैं कि 'एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवनयापन की विधियों , विचारों, भावनाओं, मनोवृत्तियों और व्यवहारों में एक-दूसरे के समान होते हैं अथवा इनमें से कुछ आधारों पर एक-दूसरे से समानता अनुभव करते हुए अपने को एक समूह का सदस्य समझते हैं।' अतः वर्ग सार्वभौमिक रूप से सभी जगह पाए जाते हैं , चाहे उनका आधार समान सामाजिक स्थिति हो या आर्थिक या फिर सांस्कृतिक विशेषताएं समान हों। वर्ग की संरचना को हम एक पिरामिड के उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। पिरामिड के सबसे ऊपर के भाग पर उच्च वर्ग और सबसे निचले भाग पर निम्न वर्ग को रख सकते हैं जो साफ तौर पर यह बतलाता है कि सबसे कम संख्या उच्च वर्ग की और सबसे ज्यादा संख्या निम्न वर्ग की मिलती है । ऊपर से क्रमशः नीचे आने के क्रम में मध्य वर्ग मिलता है जो ऊंचे वर्ग वाले भाग की ओर कम तथा निम्न वर्ग वाले भाग की ओर आते-आते अधिक संख्या में मिलता जाता है।

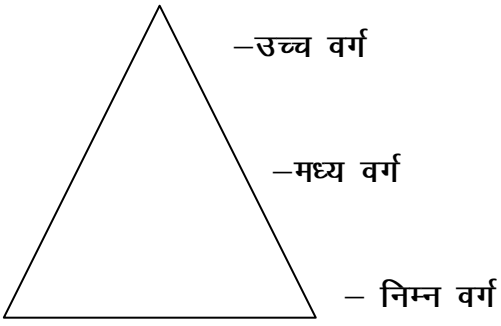

वर्ग की उपरोक्त परिभाषाओं के द्वारा स्पष्ट हो रहा है कि प्रत्येक सामाजिक वर्ग में जो समूह-विशेष होता है उसकी सामाजिक, आर्थिक या सांस्कृतिक स्थिति एक जैसी होती है, तभी वह अपने एक

वर्ग का निर्माण कर पाते हैं। क्योंकि वर्ग का निर्माण व्यक्तियों की समान योग्यताओं के आधार पर होता है इस कारण इनकी सदस्यता में परिवर्तन संभव है। क्योंकि, गुण और योग्यताएं बदली या क्रमशः विकसित की जा सकती हैं। यह परिवर्तन व्यावहारिक रूप से थोड़ा कठिन होता है। एक वर्ग से दूसरे वर्ग में जाने के लिए व्यक्ति को बहुत श्रम चाहे मानसिक या शारीरिक हो, करना पड़ सकता है। अतः यह सैद्धांतिक रूप से भले ही सरल दिखाई पड़े परंतु व्यवहार में लाने पर यह उतना आसान नहीं है।

बोध प्रश्न-1

i) वर्ग की अवधारणा का पांच पंक्तियों में संक्षिप्त उत्तर दीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.2.1 सामाजिक वर्ग की विशेषताएं

वर्ग को समझने के लिए वर्ग के स्वरूप को समझना आवश्यक है। यहां हम वर्ग की कुछ विशेषताओं द्वारा इस अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करेंगे-

1-समान प्रस्थितिः एक वर्ग जिन लोगों के समूह से बनता है उन सभी लोगों की सामाजिक प्रस्थिति एक समान होती है। प्रस्थिति को कई आधारों द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर अगर हम शिक्षा को मुख्य आधार मानें तो शिक्षित और अशिक्षित (पढ़े-लिखे और अनपढ़) लोगों की सामाजिक प्रस्थिति भी अलग-अलग तरह की होगी। इसी प्रकार संपत्ति को मुख्य

आधार मानने पर अधिक और कम धन संपत्ति रखने वाले लोगों की सामाजिक प्रस्थिति एक दूसरे से अलग होगी। व्यवसाय को केंद्र पर रखें तो वेतनभोगी और गैर वेतनभोगी दोनों प्रकार के लोगों की सामाजिक प्रस्थिति में भिन्नता होगी। हालांकि सामाजिक प्रस्थिति को निर्धारित करने के लिए कोई एक आधार सहायक नहीं हो सकता है बल्कि इसके लिए कई दूसरे आधार जैसे जाति की सदस्यता, व्यवसाय की प्रतिष्ठा, व्यवसाय आदि भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

2- **समूहों का उतार-चढ़ाव:** समाज में वर्गों का निर्माण विभिन्न आधारों को लेकर किया जाता है। इन्हीं आधारों पर हम समूहों को ऊंचे अथवा नीचे क्रम में रख सकते हैं, जो उच्च और निम्न वर्ग का निर्माण करते हैं। वह लोग जो उच्च वर्ग के अंतर्गत आते हैं उनकी संख्या कम होने के साथ समाज में उनका मान-सम्मान और शक्ति बाकी वर्गों की तुलना में सबसे ज्यादा होती है। निम्न वर्ग में सबसे अधिक सदस्य संख्या होती है परंतु सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति अपेक्षाकृत कम ही होती है। यह वर्ग आर्थिक रूप से कमजोर होने कारण कई सुविधाओं को प्राप्त करने में भी असफल रहता है। उदाहरण के तौर पर देखें तो संपत्ति के आधार पर प्रमुखतः दो वर्ग पाए जाते हैं एक पूंजीपति तथा दूसरा श्रमिक वर्ग।

3- **वर्ग-चेतनाः** प्रत्येक वर्ग यह जानता है कि उसका सामाजिक पद और प्रतिष्ठा दूसरे वर्गों की तुलना में निम्न अथवा उच्च है। व्यक्ति पैदा होने के बाद जिस प्रकार के वातावरण, परिवार और समाज में रहता है वह एक वर्ग-विशेष की जीवनशैली, खान-पान, सुख-सुविधाओं और विचारों के अनुसार जीवन-यापन कर रहा होता है, अतः व्यक्ति शुरू से ही अपने वर्ग के सांचे में ढलता जाता है और उसके मन में अपने वर्ग के प्रति चेतना विकसित होती जाती है। यह वर्ग-चेतना ही होती है जो उसके व्यवहार और आपसी संबंधों का निर्धारण करती है। वर्ग चेतना के होने पर ही एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों से प्रतिस्पर्धा और तुलना करते हैं और अपने हितों की रक्षा करने के लिए आपसी सहयोग और तालमेल के द्वारा अपने-अपने वर्ग की उन्नति के लिए मिलकर प्रयास करते हैं। वर्ग के लोगों में अपने अधिकारों और सुविधाओं के लिए भी जागरूकता पाई जाती है। जैसे मजदूर वर्ग को देखें तो उनके लोगों के बीच अपने वेतन, बोनस, महंगाई-भत्ता, मकान का किराया, काम के घंटे, भर्ती-पद्धति के लिए सजगता होती है, इनके लिए यह एक साथ मिलकर मालिकों के सामने अपनी मांगें भी रखते हैं, हडताल और प्रदर्शन करते हैं, अतः वर्ग-चेतना लोगों को साथ रहने और काम करने की दिशा में भी प्रेरणा देती है।

4- ऊंच-नीच की भावनाः वर्गों में हमें परस्पर उच्चता और निम्नता की भावना भी देखने को मिलती है। एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों से अपनी तुलना करते हुए उन्हें अपने से ऊंचा, नीचा या बराबर भी मानते हैं। अपने वर्ग के प्रति उनमें एक होने का भाव प्रबल रहता है और 'हम' या अपनेपन की भावना बलवती होती है। मजदूर और श्रमिक वर्ग अपने को अपने मालिकों से नीचा समझता है तो शासन करने वाले और पैसे वाले लोग गरीब वर्गों से अपने को ऊंचा समझते हैं। क्लर्क या कर्मचारी वर्ग अपने को अफसर वर्ग से हीन समझते हैं।

5- सामाजिक संबंधों की सीमितताः एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों के साथ एक निश्चित सामाजिक दूरी बनाए रखते हैं और अपने सामाजिक संबंधों का दायरा प्रायः अपने वर्ग के लोगों तक ही सीमित रखते हैं। एक वर्ग के लोग सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से लगभग एक जैसे ही होते हैं, जिस कारण उन्हें आपस में घुलने-मिलने, विचार व्यक्त करने, संगी-साथी बनाने में कोई मुश्किल नहीं होती है और वह अपना साथ अपने वर्ग के लोगों में से ही चुन लिया करते हैं।

6- खुलापनः वर्ग-व्यवस्था एक ऐसी लचीली व्यवस्था होती है जिसमें कोई भी व्यक्ति कभी-भी अपने वर्ग को बदल सकता है। इसके नियम, जाति-व्यवस्था की तरह कठोर और बंद नहीं होते हैं बल्कि यह लोगों को वर्ग-परिवर्तन का अधिकार देती है। एक व्यक्ति निम्न-वर्ग से उच्च-वर्ग में, अशिक्षित-वर्ग से शिक्षित-वर्ग में और मजदूर-वर्ग से मालिक-वर्ग में प्रयास करके सम्मिलित हो सकता है। हालांकि यह इतना सरल भी नहीं है। क्योंकि, इसके लिए व्यक्ति के अंदर मजबूत इच्छा-शक्ति और प्रयास करने की क्षमता की आवश्यकता होती है। एक अशिक्षित व्यक्ति पढ़-लिख कर शिक्षित-वर्ग में आ सकता है और धनवान व्यक्ति दिवालिया होकर गरीब-वर्ग में शामिल हो सकता है। अतः यदि किसी व्यक्ति ने एक वर्ग-विशेष में जन्म लिया है तो यह जरूरी नहीं कि, वह आजीवन उसी वर्ग का सदस्य रहेगा।

7- वर्ग की वस्तुपरक पहचान: प्रत्येक वर्ग की कुछ विशेषताएं या लक्षण होते हैं जिनके आधार पर एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग किया जा सकता है। जो वर्ग आर्थिक रूप से सबल और संपन्न होता है, उसके लोगों के घर और मोहल्ले शहर के सबसे अच्छे और विकसित इलाकों में और प्रतिष्ठित होते हैं। इसके अलावा उनका रहन-सहन, शिक्षा और आय का स्तर भी औरों से ऊंचा होता है। उच्च वर्ग के लोगों के व्यवहार करने और सामाजिक संबंध बनाने के तरीके भी निम्न वर्ग के

लोगों के लोगों से बहुत अलग होते हैं। कम आय वर्ग के लोगों के आवास झोपड़ियों, गंदी बस्तियों और कच्चे बने मकानों के रूप में देखे जाते हैं जिससे उनके वर्ग की पहचान होती है। इसके अलावा इनकी शिक्षा और आय का स्तर भी बहुत कम होता है इसलिए मकान के प्रकार, मोहल्ले का नाम, शिक्षा, आय, रहन-सहन, बोलने और व्यवहार करने का तरीका और जीवन-शैली जैसी बाहरी विशेषताओं के द्वारा एक वर्ग को सरलता से पहचाना जा सकता है।

8- जन्म का महत्त्व नही: जाति में जिस प्रकार जन्म लेने के साथ ही व्यक्ति हमेशा के लिए उसका सदस्य बन जाता है, वर्ग में ऐसी कट्टरता नहीं होती है। एक व्यक्ति जिस वर्ग में जन्म लेता है वह हमेशा के लिए उस वर्ग का सदस्य बने रहने के लिए बाध्य नहीं होता है। व्यक्ति की कुशलता, योग्यता, शिक्षा, संपत्ति आदि बातों के आधार पर भी वर्ग की सदस्यता निर्धारित की जाती है।

9- अस्थिर प्रकृतिः शिक्षा, आय, धन, शक्ति और व्यवसाय आदि परिवर्तनशील प्रकृति के होने के कारण वर्ग भी औरों की अपेक्षा कम स्थिर होता है। क्योंकि, इन्हीं विशेषताओं के आधार पर वर्ग का निर्माण होता है। एक वर्ग को छोड़कर दूसरे वर्ग का सदस्य बना जा सकने के कारण वर्ग एक परिवर्तनशील या अस्थिर व्यवस्था है। हालांकि यह परिवर्तन तत्काल नहीं होते बल्कि इसमें कुछ समय अवश्य लगता है।

10- उपवर्गः सामाजिक वर्गों में भी उप-वर्ग बने हुए हैं, जैसे मध्य वर्ग में तीन उप-वर्ग प्रचलित हैं। उच्च मध्य वर्ग, मध्य-मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग। उच्च मध्य वर्ग की स्थिति उच्च वर्ग से कम परंतु मध्य-मध्य वर्ग से ऊपर की और निम्न मध्य-वर्ग की स्थिति मध्य-मध्य से कम और निम्न वर्ग से ऊंची होती है। उच्च-वर्ग के सभी धनी लोग भी एक समान नहीं हैं, उनमें भी ऊंच-नीच पाई जाती है।

11- जीवन-अवसर की प्राप्तिः हर एक वर्ग को एक समान आर्थिक सुविधाओं के अवसर प्राप्त होते हैं और उसे आमदनी के संबंध में कुछ निश्चित अवसर प्राप्त होते हैं। किसान को खेती करने के नए तरीकों को प्राप्त करने, श्रमिक और गरीब वर्ग को मजदूरी करने ,व्यवसायी को नए धंधों को शुरू करने तथा धनी वर्ग को अपना उच्च जीवन-स्तर बनाए रखने का अवसर हमेशा मिलता है। मैक्स वेबर ने भी यही कहा है कि एक वर्ग के लोगों को जीवन के कुछ विशेष अवसर और सुविधाएं समान रूप से मिलती हैं।

12- पूर्णतया अर्जितः वर्ग की सदस्यता पूरी तरह अर्जित होती है या प्राप्त की जा सकती है। व्यक्ति अपनी क्षमताओं, गुणों, योग्यताओं, धन-संपत्ति, शिक्षा के स्तर और कुशलता को बढ़ाकर अपना वर्ग बदल सकता है, मेहनत से निम्न वर्ग से उच्च वर्ग तक पहुंच सकता है।

13- सामान्य जीवन-शैलीः एक वर्ग के अधिकांश लोगों का रहन-सहन, सोच और जीने का तरीका एक-समान होता है, यहां उच्च- वर्ग के लोगों का जीवन दिखावा करने, अनावश्यक पैसा खर्च करने और विशेष प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करने में बीतता है तो वहीं पर मध्य वर्ग के लोग पैसे की बचत करने, परंपराओं, रीति-रिवाजों के पालन करने में अधिक ध्यान देते हैं। निम्न वर्ग के लोगों का जीवन किसी प्रकार से रोटी मिलने की जुगत करने में बीतता है। इस वर्ग के अधिकतर लोगों का जीवन अभावों में शुरू होता है और अभावों में ही समाप्त हो जाता है। जीने की जद्दोजहद सभी में समान रूप से मिलती है।

बोध प्रश्न-2

(प) वर्ग है एक -

1- प्राथमिक समूह 2- प्रस्थिति समूह

3- श्रेणी 4- व्यावसायिक गतिशीलता

.....

.....

.....

.....

.....

13.3 सामाजिक वर्गों के प्रकार

भारत में वर्ग के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया अपेक्षाकृत नवीन है, जो सावयवी दृष्टि से जाति स्तरीकरण से जुड़ी हुई है। आज भारत में भी पाश्चात्य देशों के समान ही वर्ग-व्यवस्था पनप रही है। परंतु यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ,पाश्चात्य देशों में जो सार्वभौमिक नियम होते

हैं, हो सकता है कि वे भारत के वर्गों में सिद्ध न भी हो पाएं। विभिन्न मार्क्सवादी तथा गैर मार्क्सवादी विचारकों ने भारत में पाए जाने वाले वर्गों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया है।

जैसा कि आप जानते हैं कि भारतीय समाज मुख्यतया दो भागों में विभाजित है ग्रामीण और शहरी। ग्रामीण और शहरी वर्गों की रूप व संरचना एक-दूसरे से भिन्न होती है। आगे हम वर्गों की इन्ही संरचनाओं पर अलग-अलग विचार करेंगे-

अ) भारतीय ग्रामीण सामाजिक वर्ग

i)**. भू-पति तथा साहूकार वर्ग**- ग्रामीण भारत में भूमि के स्वामित्व के आधार पर जमींदार, भू-पति तथा खातेदार वर्ग की उत्पत्ति हुई। इस समूह के व्यक्ति उच्च-वर्ग के होते हैं जिनके पास गांव की अधिकांश भूमि होती है। अर्थात् वह इनके मालिक होते हैं। इस वर्ग के व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अधिक संपन्न, शक्तिशाली तथा शिक्षित होते हैं। ये लोग अपनी जमीन पर खेतिहर मजदूरों से काम कराते हैं, साहूकारी का कार्य करते हैं तथा अन्य व्यवसायों या उद्योगों में भी लगे होते हैं। यह वर्ग अधिक शक्तिशाली इसलिए भी हो जाता है कि इसकी राजनीति में सक्रिय भागीदारी होती है। इस वर्ग में बहुत थोड़े धनी कृषकों के पास कृषि भूमि का बहुत बड़ा भाग है। इसलिए बहुत थोड़े लोग उच्च वर्ग में हैं।

ii).**कृषक वर्ग**- इन्हें मध्य किसान भी कहा जाता है। क्योंकि, इनके पास मध्यम आकार की जोतें होती हैं। यह लोग अपनी भूमि पर स्वयं खेती करते हैं।यह प्रायः आत्मनिर्भर होते हैं। कभी-कभी इस वर्ग के लोग भू-पति या साहूकार से किराए पर भूमि लेकर भी कृषि करते हैं। इनका कृषि उत्पादन अपने परिवार के सदस्यों की मजदूरी से ही हो जाता है। इनका जीवन-स्तर भू-पति तथा साहूकार वर्ग से नीचा तथा भूमिहीन वर्ग से उच्च होता है।

iii)**.खेतिहर**- ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में इनका स्थान सबसे नीचे है। इनके पास इतनी भूमि नहीं होती कि ये अपनी आजीविका चला सकें। ये लोग दूसरों के खेतों पर दैनिक मजदूरी करके किसी प्रकार अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इस कृषक वर्ग की संख्या काफी है। क्योंकि इनके पास कृषि भूमि का बहुत थोड़ा सा भाग और बहुत कम आय है।

ब)-शहरी सामाजिक वर्ग

i)**.उच्च वर्ग**- इस वर्ग के लोग सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक शक्तिशाली हैं और सामाजिक संस्तरण में इनका स्थान सबसे ऊपर होता है। ये लोग उद्योगों, कारखानों तथा बड़ी-बड़ी फर्मों के मालिक होते हैं। देश की बहुत बड़ी संपत्ति का भाग इन्हीं व्यापारिक घरानों के व्यक्तियों तक सीमित है जैसे- अंबानी, बिड़ला, टाटा, बजाज, सिंघानिया, डालमिया आदि। यह वर्ग सत्तारूढ़ राजनीतिक दल को भी प्रभावित करता है और सरकार से अधिक से अधिक सुविधाएं और लाभ प्राप्त करता है।

ii)**.मध्य वर्ग**- इस वर्ग में आधुनिक वकील, चिकित्सक, अध्यापक, वाणिज्यिक और अन्य उद्योगों में कार्य-प्रबंधक, सरकारी प्रशासन में कार्यरत अधिकारी, इंजीनियर और कृषि वैज्ञानिक आदि आते हैं। यह वर्ग उच्च वर्ग के लिए संचालन का कार्य करता है। धन के लालच में मध्य वर्ग अग्रणी होता है। इस वर्ग के तीन मुख्य उपवर्ग देखने को मिलते हैं।

1.पुरातन मध्य वर्ग- यह पुराने समय से चला आ रहा वर्ग है। इस उपवर्ग में वे लोग होते हैं जो छोटा- मोटा धंधा करते हैं। जैसे- दुकानों के मालिक।

2.उच्च मध्य वर्ग- इस उपवर्ग के लोग उच्च शिक्षा प्राप्त कर उच्च वर्ग की प्रस्थिति पाने की दौड़ में हैं।

3.निम्न मध्य वर्ग- इस उपवर्ग के अंतर्गत अध्यापक, नर्स, कार्यालयों के कर्मचारी और अन्य लोग सम्मिलित होते हैं।

iii)**श्रमिक-वर्ग**- इस वर्ग में वे लोग सम्मिलित होते हैं जो शारीरिक श्रम करने वाले धंधों से जुड़े होते हैं। जैसे- बागानों, कारखानों, खानों, यातायात, रेल तथा उद्योगों आदि में काम करने वाले लोग आते हैं। यह अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को कठिनता से पूरा कर पाते हैं। ये लोग अशिक्षित तथा कम शिक्षित होते हैं। इस वर्ग के भी कई उपवर्ग होते हैं।

1. **उच्च श्रमिक वर्ग-** यह उपवर्ग कुशल कारीगरों का है। जो अपने कार्यों में दक्ष होते हैं तथा यह अन्य श्रमिकों की अपेक्षा उच्च प्रस्थिति में होते हैं।

2. निम्न श्रमिक वर्ग- इस वर्ग में वह मजदूर आते हैं, जिन्हें काम को करने के लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती और आय भी बहुत थोडी़ मिलती है।

बोध प्रश्न-3

i.) सामाजिक वर्ग के प्रकारों को तीन पक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.4 वर्ग-निर्माण के आधार

वर्ग को विभाजित करने के लिए कुछ आधार माने गए हैं जिनमें धन-संपत्ति आदि आर्थिक कारण, निवास, परिवार आदि सामाजिक कारण तथा शिक्षा और धर्म जैसे सांस्कृतिक कारक प्रमुख हैं।

रॉबर्ट बीरस्टीड ने वर्ग-विभाजन के जिन सात आधारों को बताया है वह इस प्रकार हैं -

1- धन-संपदा और आयः यह हमेशा से वर्ग-विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण आधार रहे हैं। व्यक्ति की आय अधिक होने पर वह अधिक-से-अधिक संपत्ति जमा करता है और अधिक धन से ऐशो-आराम और सुख-सुविधाओं की वस्तुएं खरीदता है, आसानी से ऊंची से ऊंची शिक्षा प्राप्त करता है और इस तरह समाज में वह अपनी स्थिति और जीवन का स्वर भी ऊंचा उठा सकता है। कार्ल मार्क्स और मार्टिंडेल ने यह माना है कि यदि किसी व्यक्ति की वर्ग-स्थिति को जानना है तो पहले यह देखना चाहिए कि, उस व्यक्ति का उत्पादन के साधनों और उत्पादित वस्तुओं पर कितना और कैसा नियंत्रण है? उत्पादन के साधनों पर आमतौर पर सबसे ज्यादा नियंत्रण पूंजीवादी वर्ग के लोगों का

होता है। वास्तव में विभिन्न वर्गों के बनने का कारण ही व्यक्तिगत संपत्ति की बढ़ोत्तरी कर आर्थिक शक्तियों का एक समान वितरण न होना रहा है।

हालांकि यह भी उतना ही सत्य है कि किसी व्यक्ति के पास केवल बहुत धन-संपत्ति के होने से ही उसका वर्ग निर्धारित नहीं होता है बल्कि इसके लिए यह देखना भी बहुत महत्व रखता है कि उसकी इस धन-संपत्ति और आय के प्रमुख स्रोत या माध्यम क्या है? गलत कामों जैसे चोरी, मिलावट, तस्करी, कालाबाजारी, जुआ आदि के द्वारा पैसा कमाने वाले की तुलना में उद्योग-धंधों और व्यवसाय में ईमानदारी से धन कमाने वाले व्यक्ति की वर्ग-स्थिति कहीं अधिक ऊंची होती है। अधिक धन तो वेश्या के पास भी होता है परंतु उसके धन कमाने के गलत तरीके के कारण उसकी सामाजिक प्रस्थिति कम मानी जाती है। जिस व्यक्ति ने अपने परिश्रम के द्वारा स्वयं के प्रयासों से संपत्ति एकत्र की होती है उसकी स्थिति परंपरागत रूप से मिले पैसों से धनी बने व्यक्ति से तुलनात्मक रूप से ऊंची होती है।

वर्ग-निर्धारण के लिए सभी समाजों में केवल धन-संपदा ही मुख्य आधार नहीं होती है बल्कि संस्कृति, शिक्षा, व्यवसाय की प्रकृति, प्रजाति की सदस्यता आदि कारकों द्वारा भी वर्ग-निर्धारण किया जाता है।

2- परिवार और नातेदारीः परिवार और संबंध भी व्यक्ति के वर्ग को निर्धारित करते हैं। ऐसा केवल भारत में ही नहीं बल्कि कई अन्य देशों में भी देखा गया है कि, व्यक्ति के परिवार की स्थिति और प्रतिष्ठा तथा उसके नातेदारों की सामाजिक प्रस्थिति उसकी वर्ग-स्थिति को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारत के प्रतिष्ठित और अभिजात वर्ग के माने जाने वाले टाटा, बिड़ला, डालमिया, अंबानी और नेहरू के वंश में पैदा होने वाले व्यक्तियों को स्वाभाविक रूप से उच्च-वर्ग की सदस्यता प्राप्त हो जाती है और जिन परिवारों से इनके संबंध तथा नाता होता है उनकी स्थिति भी ऊंची मान ली जाती है। भारत में तो विशेषकर यह देखा गया है कि यहां प्रदत्त-प्रस्थिति का बहुत महत्त्व रहा है। यहां व्यक्ति के वर्ग की सदस्यता परिवार और नातेदारी के संबंधों द्वारा तय किया जाना इसकी मुख्य भूमिका को बताता है। जब सामंतवादी व्यवस्था का प्रचलन था, तब एक राजा के पुत्र की वर्ग-स्थिति इस कारण ऊंची मानी जाती थी कि, उसका संबंध एक राजघराने से होता था। उसके वर्ग को निर्धारित करने में उसके परिवार और संबंधों का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

3- निवास की स्थितिः वर्ग-स्थिति को नियत करने में यह भी महत्त्वपूर्ण होता है कि व्यक्ति जहां निवास करता है वह स्थान कहां है और उसके पड़ोस में कैसे लोग रहते हैं? जो लोग शहरों में विकसित कॉलोनियों में रहते हैं उनकी प्रतिष्ठा और समाज में सम्मान गंदी बस्तियों, झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले और कच्चे घरों में रहने वाले लोगों से ऊंचा होता है। यदि हम प्राचीन भारत के इतिहास पर एक नजर डालें तो यह पता चलता है कि उस समय भी मुख्य शहर में राजा और उनके सगे-संबंधी तथा अन्य संबंधित व्यक्ति रहते थे और गरीब तथा पिछड़े वर्ग के निम्न लोगों के रहने के घर मुख्य शहर/गांव से दूर हटकर बने होते थे। यह घर भी कच्ची झोपड़ियों के रूप में होते थे। भारत के कई गांवों में आज भी यह व्यवस्था चली आ रही है।

4- निवास-स्थान की अवधिः यदि व्यक्ति का संबंध ऐसे किसी पुराने परिवार या वंश से होता है जोकि कई वर्षों पूर्व समाज में प्रतिष्ठित रह चुका होता है तो यह बात भी उसकी वर्ग-स्थिति को निर्धारित करने के लिए काफी महत्त्व रखती है। अगर व्यक्ति का संबंध ऐसे किसी परिवार से होता है जो कि हमेशा यहां-वहां घूमते रहते हैं, घुमक्कड़ होते हैं, तब ऐसे व्यक्ति की वर्ग-स्थिति भी ऊंची न होकर कम ही होती है। भारत में लोगों के गतिशील न होने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि एक तो इस तरह अलग-अलग स्थानों पर बसते रहने से उसकी वर्ग-प्रस्थिति पर भी बुरा असर पड़ता था और दूसरे अपने भावात्मक-संबंध और पूर्वजों का घर होने के कारण उसे अपने आवास से विशेष लगाव भी होता था।

5- व्यवसाय की प्रकृतिः व्यक्ति के द्वारा किए जाने वाले कार्यों और व्यवसायों का प्रभाव भी वर्ग-स्थिति तय करने में बहुत महत्त्व रखता है। कई पेशे ऐसे हैं जिनकी आर्थिक-स्थिति चाहे कैसी भी हो, परंतु उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा उन्हें हमेशा उच्च वर्ग का बनाए रखने में सहायक सिद्ध होती है जैसे प्राध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, राजनेता, कूटनीतिज्ञ, वैज्ञानिक आदि व्यवसायों में लगे लोग हमेशा उच्च वर्ग के सदस्य माने जाते हैं। इसके विपरीत अनैतिक और गलत कार्यों से अधिक धन कमाने वाले व्यक्ति जैसे शराब, चरस के ठेकेदार, तस्कर, जुआरी और वेश्यावृत्ति में लगे लोगों की समाज में वर्ग-स्थिति और प्रतिष्ठा दोनों ही कम होती है।

6- शिक्षाः लगभग सभी समाजों में व्यक्ति की वर्ग-स्थिति को तय करने का एक प्रमुख आधार शिक्षा भी रही है। किसी भी तरह के विशेष ज्ञान जैसे शिक्षा, प्रशिक्षण, तकनीकी डिप्लोमा, प्रौद्योगिक ज्ञान,

विज्ञान और कलात्मक कार्यों में निपुणता प्राप्त होने पर समाज में व्यक्ति का सम्मान भी बढ़ जाता है। भारत जैसे देश में उन व्यक्तियों की वर्ग-स्थिति ऊंची होती है जिन्होंने धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की हो। आजकल उद्योगीकरण, विज्ञान और तकनीकी का चारों तरफ प्रचार-प्रसार है, जिसके कारण जिन व्यक्तियों ने वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा ग्रहण की है, उनकी भी समाज में प्रतिष्ठा बढ़ रही है और उन्हें उच्च-वर्ग में माना जाने लगा है।

7- धर्म: जो समाज परंपरावादी अधिक होते हैं उनमें व्यक्ति की वर्ग-स्थिति को तय करने का एक मुख्य कारक व्यक्ति की धार्मिक स्थिति भी रही है। वैसे यह प्रवृत्ति या चलन लगभग सभी समाजों में पाया जाता है परंतु परंपरात्मक समाजों में इसे अधिक देखा जा सकता है। भारत में पहले से ही पुरोहितों को धार्मिक कर्मकाण्ड करवाने के कारण ऊंचे स्थान पर रखा जाता रहा है। प्राचीन-काल से लेकर आज तक भारतीय समाज में ऋषि-मुनियों, साधु-संतों और योगियों को विशेष आदर-सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है।

वर्ग-स्थिति को निर्धारित करने में इन सभी कारकों ने कहीं-न-कहीं समाज को प्रभावित किया है, और सामाजिक वर्गों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाई है।

बोध प्रश्न-4

वर्ग-निर्माण करने वाले किन्हीं चार आधारों को बताइए ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.5 सारांश

इस इकाई में हमने सबसे पहले वर्ग की अवधारणा को स्पष्ट किया है। वर्तमान समय में वर्ग- व्यवस्था के मुख्य अंग के रूप में स्तरण का बहुत अधिक महत्त्व है। जिस समाज की प्रकृति मुक्त या खुली हुई होती है, वहीं वर्ग-व्यवस्था देखने को मिलती है। अधिकतर पश्चिमी देशों ने तथा संसार के सभी देशों ने स्तरण के लिए वर्ग-व्यवस्था को ही माध्यम बनाया है। भारत में भी आज वर्ग-व्यवस्था का प्रचलन है। भारत में वर्ग-व्यवस्था का सूत्रपात मुख्यतया ब्रिटिश शासन काल के दौरान हुआ। इस दौरान भारत की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियां परिवर्तन के नए दौर से गुजर रही थीं और औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था भी आधुनिक दौर में प्रवेश कर गई थी। उपरोक्त स्थितियों में विशेषतः आर्थिक आधार पर नवीन वर्गों का उद्भव हुआ और वर्ग-व्यवस्था धीरे-धीरे लोकप्रिय होने लगी। इसके पश्चात् वर्ग के प्रकारों की चर्चा ग्रामीण तथा शहरी संरचना के आधार पर की है। जिस कारण इनमें व्यापक भिन्नता देखने के लिए मिलती हैं। अंत में हमने वर्ग के निर्माण में उन आधारों की व्याख्या की है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के द्वारा इच्छित वर्ग में प्रवेश प्राप्त कर सकता है।

13.6 पारिभाषिक शब्दावली

नातेदारी व्यवस्था -समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सुव्यवस्थित संबंध श्रृंखला एक सामाजिक प्राणी को अन्य व्यक्तियों के साथ संयुक्त करती है।

अर्जित प्रस्थिति- जिसे हम अपनी योग्यता और कुशलता से प्राप्त करते हैं।

सामाजिक संस्तरण- समाज की विभेदीकृत श्रेणिबद्धता की प्रक्रिया है जिसमें समाज पदक्रमित श्रेणियों में बंटा हुआ होता है।

13.7 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध- प्रश्न 1

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर वर्ग का अर्थ तथा परिभाषा शीर्षक के अंतर्गत दिए गए विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न 2

प्रस्थिति समूह।

बोध-प्रश्न 3

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर सामाजिक वर्ग के प्रकार शीर्षक के अंतर्गत दिए गए विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न 4

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर वर्ग-निर्माण के आधार शीर्षक के अंतर्गत दिए गए विवरण में से लिखना है।

13.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

सिंह, योगेंद्र. 1977. सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एंड चेंज इन इंडिया. मनोहर. दिल्ली.

शर्मा, के. एल. 2001. कास्ट एंड क्लास इन इंडिया. रावत पब्लिकेशन. जयपुर.

दोषी व जैन, 2009, समाजशास्त्रः नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

3.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बी. बी. मिश्रा. 1978. द इंडियन मिडिल क्लासेस. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. दिल्ली.

हसनैन, नदीम. 2005. समकालीन भारतीय समाजःएक समाजशास्त्रीय परिदृश्य. भारत बुक सेंटर. लखनऊ.

13.10 निबंधात्मक प्रश्न

1-सामाजिक वर्ग किसे कहते हैं ? भारत में वर्ग निर्माण के प्रमुख आधारों की विवेचना कीजिए।

2-वर्ग व्यवस्था की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए वर्ग के प्रकारों का वर्णन कीजिए।

इकाई 14–सामाजिक समूह-अर्थ,परिभाषा व विशेषताएं

Social Groups-Meaning,Definitions & Characteristics

इकाई की रुपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 सामाजिक समूह

14.3 सामाजिक समूह – अर्थ व विशेषताएं

14.4 सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएं

14.5 सारांश

14.6 पारिभाषिक शब्दावली

14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

14.8 संदर्भ ग्रंथ

14.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

14.10 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

मनुष्य की जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक आवश्यकता होती हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह में रहना आवश्यक है क्योंकि इनकी पूर्ति मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता । इसी कारण मनुष्य अनेक समूहों का सदस्य है। उदाहरण के लिए - हम सभी अपने परिवार, क्रीड़ा समूह, मित्र मंडली, जाति तथा राष्ट्र के सदस्य हैं। इस संदर्भ एडवर्ड सोपियर का कथन है कि समूह का निर्माण इस तथ्य

पर आधारित है कि कोई न कोई स्वार्थ उस समूह के सदस्यों को एक सूत्र से बांधे रहता है। विभिन्न प्रकार के समूह से ही समाज का निर्माण होता है। सीमित से अभिप्रायः किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु बनाए गए ऐसे संगठन से है जिसके सदस्य सामूहिक रूप से पारस्परिक सहयोग द्वारा लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। समुदाय, समूह एवं सीमित की प्रकृति मूर्त होती है। संस्था नियमों की व्यवस्था अथवा व्यवहार से संबंधित कार्य प्रणाली के कारण अमूर्त होती है। एक समाज में अनेक समुदाय पाए जाते हैं, समुदाय में अनेक समूह एवं समितियां पाई जाती हैं जो समाज द्वारा मान्य तरीकों जिन्हें हम संस्था कहते हैं द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास करती है अथवा जिनके सदस्यों का व्यवहार इन्हीं स्वीकृत तरीकों द्वारा नियंत्रित होता है।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- सामाजिक समूह के अर्थ के बारे में जान सकेंगे।
- सामाजिक समूह की विशेषताएं व सामाजिक समूह के प्रकार के बारे में ज्ञान अर्जित कर सकेंगे

14.2 सामाजिक समूह

हम सब समूहों में रहते हैं। परिवार, पड़ोस, क्रीडा समूह इत्यादि समूह के ही उदाहरण हैं। इनका मानव व्यवहार को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण स्थान होता है। समाजशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन है। सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता यह है कि मनुष्य परस्पर अंतर्क्रिया करते हैं, संवाद करते हैं तथा सामाजिक सामूहिकता को निर्मित करते हैं। प्रत्येक समाज चाहे उसका स्वरूप कैसा भी क्यों ना हो मानवीय समूह और सामूहिकता विद्यमान रहती है। इन समूहों एवं सामूहिकता के प्रकार अलग-अलग होते हैं।

सामाजिक समूहों का समाजशास्त्रीय अध्ययन 20 शताब्दी में ही प्रारंभ हुआ। इससे पहले अधिकांश विद्वान समाज के उद्भव एवं विकास को समझने में ही लगे हुए थे। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप सामाजिक समूहों के सदस्यों में पाए जाने वाले संबंधों में तीव्र गति से परिवर्तन हुए जिसे समझने के प्रयास किए जाने लगे। टॉनीज, दुर्खीम, मार्क्स इत्यादि विद्वानों ने इस ओर विशेष

ध्यान दिया। अधिकांश समूहों की एक विशेष संरचना होती है। परिवर्तन की प्रक्रियाएं समूहों की संरचना को भी प्रभावित करती हैं। प्रस्तुत अध्याय में सामाजिक समूह की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

14.3 सामाजिक समूहों का अर्थ एवं परिभाषायें-

सामान्य अर्थों में समूह का अर्थ व्यक्तियों के संग्रह या समुच्चय से लगा लिया जाता है। संग्रह या समुच्य केवल लोगों का जमावाड़ा होता है जो एक समय में एक ही स्थान पर होते हैं लेकिन एक - दूसरे से कोई निश्चित संबंध नहीं रखते। उदाहरणार्थ - हम खेल के मैदान, जेल से, बाजार, सिनेमाघर, रेलवे स्टेशन, हवाई अडडे, अथवा बस स्टॉप पर व्यक्तियों की भीड़ को देखते हैं लेकिन उन्हें समूह की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसका कारण यह है कि उन व्यक्तियों में सामाजिक संबंधों व पारस्परिक चेतना का अभाव होता है। पारस्परिक चेतना व सामाजिक संबंध अन्योन्याश्रित हैं। चेतना के अभाव में परस्पर संबंध स्थापित नहीं होते। इन्हें अर्द्धसमूह तो कहा जा सकता है, परंतु सामाजिक समूह नहीं। अर्द्धसमूहों में संरचना अथवा संगठन की कमी होती है तथा सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति अनभिज्ञ होते है। सामाजिक वर्गों, परिस्थति समूह, समूह आयु एवं लिंग समूहों भीड इत्यादि को अर्द्धसमूह के उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है।

समूहों के निर्माण हेतु अंतर्क्रिया तथा संचार का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए - बाजार में सामान्य दृष्टिकोण से व्यक्तियों के संग्रह को समूह नहीं कहा जा सकता है। किंतु यदि किसी कारण से चाहे पॉकेट मार के पकडने से या अन्य किसी कारण से ये संग्रहित लोग आपस में अंतर्क्रिया करते है। तो उनमें सामाजिक संबंधों का जन्म होता है। तब उस समय संग्रह समूह में परिवर्तित हो जाएगा चाहे उसकी प्रकृति स्थायी ही क्यों न हो। इसी भांति, महिला आंदोलन ने महिलाओं को एक सामूहिक निकाय के रूप में संगठित कर इन्हें सामाजिक समूह के रूप में परिवर्तित किया है। इन आंदोलनों ने महिलाओं को अपनी पहचान एक सामूहिकता और समूह के रूप में विकसित करने में सहायता दी है। एक सामाजिक वर्ग जाति अथवा समुदाय से संबंधित व्यक्ति एक सामूहिक निकाय के रूप में संगठित होकर जब दीर्घकालीन अंतर्क्रियाएं करने लगते है तथा उनमें अपनत्व की भावना विकसित होने लगती है, तो वह समूह का रूप धारण कर लेते हैं।

इसी भांति आयु के आधार पर निर्मित समूह को सामाजिक समूह नहीं कहा जाता है। यह भी अर्द्धसमूह का उदाहरण है। कई बार ऐसा भी होता है कि किसी की मांग को लेकर किशोर आयु समूह संगठित हो जाए। यदि शिक्षा संस्थाओं में किसी मांग को लेकर अथवा समाज में किसी महत्वपूर्ण भूमिका को लेकर इस प्रकार का समूह अपने सदस्यों में आपसी पहचान एवं अपनत्व की भावना का विकास कर लेता है, सदस्यों में दीर्घ एवं स्थायी अंतर्क्रिया प्रारंभ हो जाती है तथा उनमें अंतर्क्रिया के प्रतिमान स्थिर होने लगते हैं तो आयु के आधार पर बना किशोर समूह एक सामाजिक समूह का रूप धारण कर लेता है।

एक सामाजिक समूह में कम से कम निम्न लक्षण होने अनिवार्य हैं-

1. निरंतरता के लिए दीर्घ एवं स्थायी अंतर्क्रिया,
2. इन अंतर्क्रियाओं का स्थिर प्रतिमान,
3. समूह एवं उसके नियमों , अनुष्ठानों एवं प्रतीकों के प्रति जागरूकता,
4. सामान्य रूचि,
5. सामान्य आदर्शों एवं मूल्यों को अपनाना ,तथा
6. एक निश्चित संगठन या संरचना का होना।

बोटोमोर के अनुसार, सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस योग को कहते हैं जिसमें विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित संबंध होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति समूह के प्रति और इसके प्रतीकों के प्रति सचेत होता है। दूसरे शब्दों में, एक सामाजिक समूह का कम से कम अल्पविकसित आधार होता है। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार ,समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के संग्रह से है जो एक-दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं।

बोगार्डस के अनुसार सामाजिक समूह का अर्थ हम दो या अधिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं जिनके ध्यान के कुछ सामान्य लक्ष्य होते हैं जो एक दूसरे को प्रेरणा देते हैं, जिनमें सामान्य वफादारी पाई जाती है और सामान्य क्रियाओं में भाग लेते हैं।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्र होकर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। तो वे सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं। इस भांति, गिलिन के अनुसार सामाजिक समूह के विकास हेतु एक ऐसी अनिवार्य स्थिति होती है जिसमें संबंधित व्यक्तियों में अर्थपूर्ण अंत: उत्तेजना और अर्थपूर्ण प्रत्युत्तर संभव हो सके एवं जिसमें उन सबका सामान्य उत्तेजकों अथवा हितों पर ध्यान टिका रहे और सामान्य चालकों एवं प्रेरकों व संवेगों का विकास हो सके।

एंथोनी गिडेंस ने सामाजिक समूह की परिभाषा इस भांति की है: सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का एक योग है जो नियमित रूप से एक दूसरे के साथ अंतर्क्रिया करते हैं। इस तरह की नियमित अंतर्क्रियाएं समूह के सदस्यों को एक निश्चित इकाई का रूप देती है। इन सदस्यों की पूर्ण रूप से सामाजिक पहचान अपने समूह से ही होती है। आकार की दृष्टि से समूह में विभिन्नता होती है। समूह का आकार बहुत निकट संबंधों जैसे परिवार से लेकर विशाल समष्टि जैसे रोटेरी क्लब तक होता है।

बोगार्डस कहते हैं: 'एक सामाजिक समूह में कई व्यक्ति होते हैं - दो या अधिक। इन व्यक्तियों का ध्यान कुछ सामान्य लक्ष्यों की ओर होता है। ये लक्ष्य एक दूसरे को प्रेरित करते हैं। इन सदस्यों में एक सामान्य निष्ठा होती है और ये सदस्य एक जैसी गतिविधियों में अपनी भागीदारी करते हैं।'

बोगार्डस ने समूहों के कई प्रकार बताए हैं। इन प्रकारों का आधार समूह द्वारा की जाने वाली गतिविधियां हैं। समूहों की लंबी तालिका में वे परिवार, समुदाय, व्यवसाय, शिक्षा, राष्ट्र आदि को सम्मिलित करते हैं। बोगार्डस कहते हैं कि समूह कभी भी स्थिर नही होता, उसमें गतिशीलता होती है और इससे आगे इसकी गतिविधियों में परिवर्तन आता है और इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। कभी-कभी लगता है कि जैसे समूह स्थिर हो गया है, चलते हुए उसके पांव थम गए से लगते हैं और कभी-कभी ऐसा भी लगता है जैसे समूह सरपट गति से दौड़ता जा रहा है। यह सब भ्रम जाल है। वास्तविकता यह है कि समूह किसी तालाब के पानी की तरह बंधा हुआ नहीं रहता। उसमें गतिशीलता बराबर रहती है। कभी यह गतिशीलता बहुत धीमी होती है, कभी मध्यम और कभी-कभार बहुत तेज।

आगबर्न और निमकॉफ पुरानी पीढ़ी के पाठ्यपुस्तक लेखक हैं। उन्होंने समूह की परिभाषा बहुत ही सामान्य रूप में रखी है:

जब कभी दो या अधिक व्यक्ति एकत्र होते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।

रोबर्ट मर्टन ने सामाजिक समूह की अवधारणा को संशोधित रूप में रखा है। वे बोगार्डस द्वारा की गई समूह की परिभाषा से एकदम असहमत हैं। उनका तर्क है कि सामाजिक समूह की किसी भी परिभाषा में अनिवार्य तत्व अंतर्क्रिया है। समूह के सदस्य कितने ही क्यों न हों जब तक उनमें अंतर्क्रिया नहीं होती, वे समूह नहीं बनते। बोगार्डस प्रजाति को एक समूह मानते हैं। कॉकेशियन प्रजाति की जनसंख्या असीमित है और रुचिकर बात यह है कि इस नस्ल के लोग न तो एक दूसरे को जानते हैं और न उनमें कोई नियमित अंतर्क्रिया है। ऐसी अवस्था में मर्टन प्रजाति या इसी तरह राष्ट्र को एक समूह नहीं मानते। वास्तव में मर्टन ने सामाजिक समूह की परिभाषा अपने संदर्भ समूह सिद्धांत की पृष्ठभूमि में दी है। उनका कहना है कि समूह एकत्रीकरण नहीं है। प्रजाति और राष्ट्र तो व्यक्तियों का एकत्रीकरण है। इन व्यक्तियों में पारस्परिक अंतर्क्रियाएं नहीं होतीं। अतः सामाजिक समूह मर्टन के अनुसार एकत्रीकरण तो है लेकिन इसके अतिरिक्त सदस्यों में अंतर्क्रिया होती है ''हम एक ही समूह के सदस्य हैं'' हम सुदृढ़ता की भावना भी रखते हैं, आदि भी इसकी आवश्यकताएं हैं। इन सदस्यों में मानदंड और मूल्य भी एक समान होते हैं।

सामाजिक समूह की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक समूह हेतू दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अंतर्क्रिया एवं सामाजिक संबंधों को होना अनिवार्य है। प्रस्तुतः के चार तत्व होते है- प्रथम दो या दो से अधिक का संग्रह द्वितीय, उनमें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष संबंधों एवं अंतर्क्रियाओं का होना, तृतीय उनकी अंतर्क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना तथा चतुर्थ एक निश्चित संरचना या संगठन का होना उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक संबंधों का होना अति आवश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि जिस समय दो या दो से अधिक व्यक्ति कतिपय सामान्य उद्देश्यों अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर संबंधों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी सकती है।

14.4 सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ -

सामाजिक समूह की सामान्य विषेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. समूह व्यक्तियों का संग्रह है - समूह के लिए व्यक्तियों का होना आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं है कि समूह के सदस्यों में शारीरिक निकटता ही हो, परंतु उनके मध्य अंतर्क्रिया का होना आवश्यक है। इस अंतर्क्रिया में सामाजिक संबंधों का जन्म होता है।

2. समूहों को अपनी सामाजिक संरचना होती है- प्रत्येक समूह की एक सामाजिक संरचना होती है। फीचर के अनुसार प्रत्येक समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है। उस संरचना में व्यक्तियों की परिस्थिति निर्धारित होती है। प्रत्येक समूह में आयु, लिंग, जाति, व्यवसाय आदि के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। प्रत्येक सदस्य को समूह में अपनी परिस्थिति संबंधित भूमिका निभानी पड़ती है।

3. **समूह में कार्यात्मक विभाजन होता है-** समूह में संगठन बनाए रखने के लिए प्रत्येक सदस्य विविध कार्य करता है उदाहरण के लिए - शिक्षण संस्था में प्रत्येक शिक्षक अलग अलग विषय को पढ़ाते हैं तथा ज्ञान देने के लक्ष्य को पूरा करते हैं। प्रधानाचार्य की अपनी अलग भूमिका होती है। और लिपिक वर्ग के सदस्य उनके लिए निर्धारिक कार्यों को निस्पादित करते हैं।

4. **समूह में सामान्य स्वार्थों की भावना होती है** - मनुष्य समूह का सदस्य इसलिए बनता है कि उसके माध्यम से उसके स्वार्थों की पूर्ति होती है। अतएव उनकी भावनाएं भी एक सी होती है। यदि सदस्यों के स्वार्थ या हित असमान होंगे तो ऐसी दशा में संबंधों में दृढ़ता रहेगी और समूह में संगठन ही होगा।

5. **समूह की सदस्यता ऐच्छिक होती है** - परिवार जैसे समूह को छोड़कर अन्य सभी समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। यह व्यक्ति की व्यक्तिगत रूचि तथा लक्ष्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है कि वह किस समूह का सदस्य बनेगा। अतः मनुष्य अपने जीवन काल में अनेक समूहों के संपर्क में आता है।

6. **समूह की अपनी सत्ता होती है-** समूह का आधार सामूहिक व्यवहार के अभाव में समूह का अस्तित्व संभव नहीं है व्यक्ति समूह के समक्ष अपने अस्तित्व को बहुत गौण मानता है। समूह पर

उसे पूरा विश्वास तथा श्रद्धा होती है। अतः वह समूह के नियम तोड़ने से डरता है। यह भावना समूह के अस्तित्व की रक्षा करती है। इसके साथ ही साथ इससे समूह की स्थायित्व तथा संगठन प्राप्त होता है।

7. **सामाजिक मानदंड समूह में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं-** समूह अपने अस्तित्व के लिए कुछ मानदंडों के आदर्श नियमों का स्थापना करता है। इनके द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इन्हीं मानदंडों के कारण सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी समूहों के सामान्य मानदंड हों तथा वे सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू हों।

8. **समूह एक मूर्त संगठन है -** सामाजिक समूह समान उद्देश्यों व लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का संकलन है। क्योंकि यह व्यक्तियों का संकलन है अतएव यह मूर्त होता है।

बोध प्रश्न -1

निम्नलिखित में आप किसे सामाजिक समूह कहेंगे

(i) विवाह (iii) समाज सेवी संगठन

(ii) जन्मदिन का समारोह (iv) भीड़

14.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात यह स्पष्ट होता है कि जब व्यक्ति एक दूसरे से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संबंधों के आधार पर स्वयं को एक पृथक इकाई के रूप में अनुभव करते हैं तथा एक-दूसरे को सहयोग देना अपने दायित्व के रूप में देखने लगते हैं तब व्यक्तियों की इसी समग्रता को एक सामाजिक समूह कहा जाता है

14.6 पारिभाषिक शब्दावली

सामाजिक समूह – जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्र होकर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं

14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) समाज सेवी संगठन

14.8 संदर्भ ग्रंथ

Davis,Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company, 1949.

अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problem & Literature, London:Allen & Unwin,1969.

14.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Bogardus, E.S., Introducation to Sociology: Los Angeles: University of Southern California Press, 1917.

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problem & Literature, London:Allen & Unwin,1969.

अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

14.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.सामाजिक समूह किसे कहते है? इसकी प्रमुख विशेषताएं कौन सी हैं ?

इकाई-15-सामाजिक समूह: प्राथमिक एवं द्वितीयक

Social Groups-Primary & Secondary

इकाई की रूपरेखा

15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.2 सामाजिक समूह: अर्थ एवं परिभाषा

15.3 सामाजिक समूह की विशेषताएं

15.4 सामाजिक समूह का वर्गीकरण

15.5 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह

15.6 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की तुलना

15.7 सारांश

15.8 बोध प्रश्न

15.9 संदर्भ ग्रंथ

15.0 प्रस्तावना

मनुष्य जन्म के समय सिर्फ एक जैविक सावयव होता है । परंतु जब वह धीरे-धीरे समाज में अपना समाजीकरण करता है तो सामाजिक समूह में उसका समाजीकरण होता है। यही समाजीकरण उसको पशु से मनुष्य बनाता है। मानव का सामाजिक जीवन हर जगह छोटे अथवा बड़े समूहों में बंटा होता है। अगर यह समूह न होते तो शायद हम पशु एवं मनुष्य में भेद न कर पाते। सामाजिक समूह से व्यक्तियों को एक अलग पहचान मिलती है। समूह शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता है।

कुछ लोग एक साथ मिलकर क्रिकेट का मैच देख रहे हैं तो वह भी समूह है और कुछ लोग एक साथ सड़क पार कर रहे हैं तो वह भी समूह कहा जाता है। लेकिन समाजशास्त्र में समूह का अर्थ अलग है। जैसा आप जानते हैं कि समाजशास्त्र का मूल संबंध मानव के सामाजिक व्यवहार से है, इसलिए यह जानना आवश्यक है कि लोग एक दूसरे से किस प्रकार का व्यवहार करते हैं । व्यक्ति का जो पारस्परिक व्यवहार समूह में ही संभव होता है। इसलिए सामाजिक समूह का अध्ययन किया जाना समाजशास्त्र के लिए आवश्यक है।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप ज्ञात कर सकेंगे-

- सामाजिक समूह की अवधारणा
- सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषताएं
- सामाजिक समूह के विभिन्न प्रकार
- सामाजिक समूह के महत्व का ज्ञान
- सामाजिक समूह का वर्गीकरण
- प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह
- प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की तुलना

15.2 सामाजिक समूह: अर्थ एवं परिभाषा

जब कुछ व्यक्ति किसी विशेष आधार पर अपने ही समान कुछ दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आते हैं अथवा उनके प्रति जागरूक होते हैं, तब व्यक्तियों के इस स्थायी अथवा अस्थायी संगठन को हम सामाजिक समूह कहते हैं। सामाजिक समूह न तो अनेक व्यक्तियों का समुच्चय है और न ही यह एक सामाजिक कोटि है। विभिन्न विद्वानों ने समूह को परिभाषित किया है। सभी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि समूह में सम्मिलित लोगों में पारस्परिक संपर्क होता है और यह संपर्क हमेशा बना रहता है, एक दो दिन का नहीं। वास्तविकता यह है कि समूह के सदस्यों की अंतर्क्रियाएं

नियमित रूप से होती रहती हैं। नियमित रूप से होने वाली अंतर्क्रिया ही व्यक्तियों को समूह का सदस्य बनाती है।

एंथोनी गिडेंस ने सामाजिक समूह की परिभाषा इस भांति की है: सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का एक योग है जो नियमित रूप से एक दूसरे के साथ अंतर्क्रिया करते हैं। इस तरह की नियमित अंतर्क्रियाएं समूह के सदस्यों को एक निश्चित इकाई का रूप देती है। इन सदस्यों की पूर्ण रूप से सामाजिक पहचान अपने समूह से ही होती है। आकार की दृष्टि से समूह में विभिन्नता होती है। समूह का आकार बहुत निकट संबंधों जैसे परिवार से लेकर विशाल समष्टि जैसे रोटेरी क्लब तक होता है।

बोगार्डस ने पांचवें दशक के प्रारंभ में समाजशास्त्र की एक पाठ्य पुस्तक लिखी थी। इसमें समूह की व्याख्या वृहत् रूप में की है। उन्होंने समूह का संबंध संस्कृति, परिवार, समुदाय, व्यवसाय, खेल-कूद, शिक्षा, धर्म, प्रजाति और संसार तक के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार, ये सब समाज के अंग अपने आप में समूह हैं। उनकी दृष्टि से विभिन्न प्रजातियां, इसी भांति धार्मिक समूह और यहां तक कि रेडियो और टी.वी. देखने-सुनने वाले लोग भी समूह हैं। प्रारंभिक अर्थ में समूह व्यक्तियों की एक इकाई है जिनमें पारस्परिक संबंध होते हैं। उदाहरण के लिए, किसी जंगल में वृक्षों का जो झुरमुट है, वह समूह है, इसी तरह गली के नुक्कड़ पर बसे हुए मकान समूह हैं या हवाई अड्डे पर खड़े हुए हवाई जहाज समूह बना देते हैं। ये सब समूह बेजान हैं, एक प्रकार के समुच्चय हैं। समूह सामाजिक समूह तब बनते हैं जब उनमें अंतर्किया प्रारंभ होती है। समूह की मूल आवश्यकता अंतर्क्रिया है।

बोगार्डस कहते हैं: 'एक सामाजिक समूह में कई व्यक्ति होते हैं - दो या अधिक। इन व्यक्तियों का ध्यान कुछ सामान्य लक्ष्यों की ओर होता है। ये लक्ष्य एक दूसरे को प्रेरित करते हैं। इन सदस्यों में एक सामान्य निष्ठा होती है और ये सदस्य एक जैसी गतिविधियों में अपनी भागीदारी करते हैं।'

बोगार्डस ने समूहों के कई प्रकार बताए हैं। इन प्रकारों का आधार समूह द्वारा की जाने वाली गतिविधियां हैं। समूहों की लंबी तालिका में वे परिवार, समुदाय, व्यवसाय, शिक्षा, राष्ट्र आदि को सम्मिलित करते हैं। बोगार्डस कहते हैं कि समूह कभी भी स्थिर नहीं होता, उसमें गतिशीलता होती है और इससे आगे इसकी गतिविधियों में परिवर्तन आता है और इसका स्वरूप भी बदलता रहता है।

ऑगबर्न और निमकॉफ ने समूह की परिभाषा बहुत ही सामान्य रूप में रखी है: जब कभी दो या अधिक व्यक्ति एकत्र होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।

रोबर्ट मर्टन ने सामाजिक समूह की अवधारणा को संशोधित रूप में रखा है। वे बोगार्डस द्वारा की गई समूह की परिभाषा से एकदम असहमत हैं। उनका तर्क है कि सामाजिक समूह की किसी भी परिभाषा में अनिवार्य तत्व अंतर्क्रिया है। समूह के सदस्य कितने ही क्यों न हों जब तक उनमें अंतर्क्रिया नहीं होती, वे समूह नहीं बनते। बोगार्डस प्रजाति को एक समूह मानते हैं। कॉकेशियन प्रजाति की जनसंख्या असीमित है और रुचिकर बात यह है कि इस नस्ल के लोग न तो एक दूसरे को जानते हैं और न उनमें कोई नियमित अंतर्क्रिया है। ऐसी अवस्था में मर्टन प्रजाति या इसी तरह राष्ट्र को एक समूह नहीं मानते। वास्तव में मर्टन ने सामाजिक समूह की परिभाषा अपने संदर्भ समूह सिद्धांत की पृष्ठभूमि में दी है। उनका कहना है कि समूह एकत्रीकरण नहीं है। प्रजाति और राष्ट्र तो व्यक्तियों का एकत्रीकरण है। इन व्यक्तियों में पारस्परिक अंतर्क्रियाएं नहीं होतीं। अतः सामाजिक समूह मर्टन के अनुसार एकत्रीकरण तो है लेकिन इसके अतिरिक्त सदस्यों में अंतर्क्रिया होती है 'हम एक ही समूह के सदस्य हैं' हम सुदृढ़ता की भावना भी रखते हैं, आदि भी इसकी आवश्यकताएं हैं। इन सदस्यों में मानदंड और मूल्य भी एक समान होते हैं।

मर्टन ने समूह की जो नई संशोधित व्याख्या की है, उसके अनुसार (1) समूह में दो या अधिक सदस्य होते हैं , (2) समूह में अंतर्क्रियाओं का होना आवश्यक है और ये अंतर्क्रियाएं निरंतर चलती रहती हैं, (3) समूह की एक और अनिवार्यता समूह के सदस्यों के बीच में हम की भावना पर्याप्त रूप में पाई जाती है। हम की भावना के दो पहलू हैं। पहला तो यह कि व्यक्ति अपनी पहचान उस समूह से करता है जिसका वह सदस्य है और दूसरा समूह के लोग अपने सदस्यों को अपना समझते हैं। अन्य शब्दों में व्यक्ति की पहचान समूह से है और समूह की पहचान व्यक्ति से।

15.3 सामाजिक समूह की विशेषताएं

ऊपर हमने सामाजिक समूह के अर्थ एवं परिभाषा को प्रस्तुत किया है। इकाई के इस भाग में हम सामाजिक समूह की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करेंगे, जिससे सामाजिक समूह की अवधारणा और अधिक स्पष्ट हो सके:

1. **एक से अधिक सदस्य या सदस्यों की बहुलता:** कोई भी एक व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, समूह नहीं बनाता। समूह के लिए कम से कम दो व्यक्ति होने चाहिए। अधिकतम सदस्यों की संख्या वहां तक सीमित है जहां तक सदस्यों के बीच में किसी न किसी तरह की अंतर्क्रिया संभव हो।

2. **संपर्क और अंतर्क्रिया**: हमने कहा है कि समुच्चय यानी एकाधिक व्यक्तियों का जमावड़ा समूह नहीं बनता। समूह के लिए आवश्यक है कि व्यक्तियों में पारस्परिक संपर्क हो और उनके बीच में अंतर्क्रियाएं हों। मर्टन अंतर्क्रियाओं पर सबसे अधिक जोर देते हैं। निश्चित रूप से अंतर्क्रियाएं समूह की प्राणवायु हैं।

3. **पारस्परिकता की चेतना**: समूहों के सदस्यों में यह चेतना होनी चाहिए कि उनके समूह के अन्य सदस्य उनके ही भाई-बंधु हैं। हम सब एक ही आंगन की उपज हैं, यह चेतना समूह के लिए आवश्यक है। समूह के प्रति इस चेतना को कार्ल मार्क्स ने अधिक ताकत के साथ रखा है। मजदूर संघ का सदस्य यह जानता है कि अंततोगत्वा वो मजदूर है और उसकी पहचान एक मजदूर की ही पहचान है। मार्क्स इसके लिए वर्ग चेतना की अवधारणा को काम में लाते हैं।

4. **अंतर्क्रिया करने वाले लोगों में अपने को एक इकाई समझने की भावना**: समूह का सदस्य अपनी अस्मिता को समूह के साथ जोड़ता है। वह यह समझता है कि समूह से पृथक् उसकी न कोई पहचान है और न कोई अस्तित्व। साधारण शब्दों में, व्यक्ति की पहचान उसके समूह से है जिसका वह सदस्य है और दूसरी ओर समूह की पहचान उसके सदस्यों से है। दोनों का अस्तित्व पारस्परिक पहचान पर निर्भर है।

5. **समान लक्ष्य:** कोई भी व्यक्ति किसी भी समूह का सदस्य समान लक्ष्यों के कारण बनता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है जब समूह के लक्ष्य अपने आप सदस्य के लक्ष्य बन जाते हैं। परिवार का सदस्य या तो जन्म से बनता है या विवाह से। ऐसी अवस्था में जन्म के बाद या विवाह के उपरांत सदस्य के लक्ष्य समूह के साथ जुड़ जाते हैं। जब तक सदस्य का समूह के लक्ष्यों के साथ में तालमेल नहीं बैठता, व्यक्ति की सदस्यता अप्रासंगिक बन जाती है।

6. **समान मानदंड:** वस्तुतः लक्ष्य साध्य होते हैं और मानदंड साधन। साध्य और साधन समूह के अनिवार्य तत्व हैं। ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति साध्यों यानी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समूह का सदस्य बनता है तो परिणामस्वरूप उसके साधन यानी मानदंड भी एक जैसे होते हैं। यदि परिवार उच्च व तकनीकी शिक्षा को अपने सदस्यों की समृद्धि के लिए स्वीकार करता है तो निश्चित रूप से सदस्य भी ऐसी शिक्षा प्राप्त करने के मानदंडों को स्वीकार करेंगे।

7. **समान मूल्य:** मानदंड का ऊंचा स्तर मूल्य होते हैं। इस दृष्टि से जब प्रत्येक समूह के मानदंड होते हैं, तब उसके कुछ मूल्य भी होते हैं। समूह के सदस्यों का यह प्रयास होता है कि वे अपने निर्धारित मूल्यों को प्राप्त कर सकें।

समूह की परिभाषा, उसके अर्थ और लक्षणों की व्याख्या अधूरी होगी, अगर हम यह याद न दिलाएं कि आज के औद्योगिक और पूंजीवादी समाज में समूह का एक वृहत् स्वरूप भी हमारे सामने है और यह स्वरूप औपचारिक और विशाल संगठनों का है। आधुनिक और उत्तर आधुनिक समाजों में, जिनमें यूरोप व अमेरिका जैसे देश सम्मिलित हैं, लघु समूहों का युग गुजर गया है। इन देशों में तो परिवार जैसे प्राथमिक समूहों की श्वास भी फूल रही है। यहां मनुष्य का लगभग संपूर्ण जीवन वृहत् संगठनों में गुजर जाता है। यह तो एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका जैसे देश हैं, जिनमें व्यक्ति का सरोकार सामान्य और छोटे समूहों से होता है। ऐसी स्थिति में समूह के जो लक्षण हमने ऊपर रखे हैं, उन्हें वृहत् संगठनों के रूप में भी देखना चाहिए। निश्चित रूप से बोगार्डस के समय की यानी आज से पांच दशक पहले की समूह की अवधारणा बहुत कुछ अप्रासंगिक बन गई है।

15.4 सामाजिक समूह का वर्गीकरण

जिन समूहों के हम सदस्य हैं, वे सभी समान महत्व के नहीं हैं। कुछ समूह हमारे साथ जन्म से ही जुड़े हैं। परिवार, जाति, प्रजाति आदि ऐसे समूह हैं जिनके सदस्य हम जन्म के पश्चात् ही बन जाते हैं। दूसरे प्रकार के समूह वे हैं जिनके सदस्य हम, अपनी पसंदगी से हैं, लेकिन जिनके बिना भी हमारा काम चल नहीं सकता। चिकित्सालय, विश्वविद्यालय या महाविद्यालय, व्यावसायिक संगठन, सार्वजनिक प्रतिष्ठान और ऐसे ही अनेकों संगठन हैं जिनका योगदान हमारे जीवन में बहुत महत्वपूर्ण है। यह भी एक रुचिकर बात है कि कुछ समूह जो विकासशील समाजों के कुछ ऐसे समूह हैं जिनके बिना उन समाजों का काम नहीं चल सकता, जबकि ये समूह विकासशील समाज के लिए अप्रासंगिक हो

जाते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि समूह का महत्व और उसका वर्गीकरण समाज से जुड़ा हुआ है। अपने आप में समूह का वर्गीकरण इस तरह सापेक्षिक है। आदिवासी समाजों के लिए तो जटिल संगठनों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। उनके लिए तो परिवार, नातेदारी, गांव, भजन मंडली आदि ही महत्वपूर्ण समूह हैं।

जब समूह का वर्गीकरण करते हैं तो इसके लिए तर्क होते हैं। वर्गीकरण के आधार होते हैं। समूह के वर्गीकरण के लिए यदि मानदंडों को निर्धारित किया जाए तो एक मानदंड आकार होगा, दूसरा सामाजिक संबंधों की गहनता, भौतिक दूरी, अस्तित्व की अवधि और ऐसी ही कई कसौटियाँ निश्चित। वास्तविकता यह है कि सभी समूह समान नहीं होते। आकार, जटिलता, सदस्यता, उद्देश्य और साधन के आधार पर समूहों में विभिन्नता देखने को मिलती है। परिवार जैसे समूह आकार में छोटे होते हैं। दूसरी ओर आर्थिक और राजनीतिक समूह काफी बड़े होते हैं। समूहों को प्राथमिक-द्वितीयक, अंतर्समूह-बाह्य समूह, सदस्यता-असदस्यता तथा सकारात्मक-नकारात्मक समूहों की श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। मर्टन जैसे समाजशास्त्री ने व्यक्ति की समूह के प्रति उन्मुकत्ता के आधार पर संदर्भ समूह की धारणा को समाजशास्त्र में विकसित किया है। एंथोनी गिडेंस ने तो आधुनिक औद्योगिक और अधिकारीतंत्र से जुड़े समाज में बहुत बड़े संगठनों को समूह की श्रेणी में रखा है। उनका तर्क है कि आधुनिक औद्योगिक पूंजीवादी समाजों का जीवन वस्तुतः औपचारिक संगठनों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। वे तो बड़े सहज रूप में कहते हैं कि औद्योगिक समाज यानी संगठन समूहों का समाज। यद्यपि भारत और एषिया के अन्य देशों में उद्योगीकरण अत्यधिक विकसित नहीं हुआ है, फिर भी इन देशों में उद्यमिता तीव्रगति से बढ़ रही है। ऐसी अवस्था में विकासशील देशों में उद्योगीकरण से जुड़े हुए संगठनों को भी समूह के वर्गीकरण में पर्याप्त स्थान मिलना चाहिए।

समाजशास्त्रियों ने समूह का वर्गीकरण तो किया है लेकिन इस संबंध में, उनमें कोई एक राय हो ऐसा नहीं है। किसी ने समूह के आकार को आधार बनाया है तो किसी ने समय को वर्गीकरण का आधार माना है। सच्चाई यह है कि समूह का वर्गीकरण सभी ने अपने-अपने तर्क और संदर्भ के आधार पर किया है। परिणामस्वरूप समूह के वर्गीकरण अनेक हैं, उनमें मतैक्य का अभाव है। इस विभिन्नता के होते हुए भी निश्चित रूप से सभी समाजशास्त्री अमेरिकी समाजशास्त्री चार्ल्स होर्टन कूले से सहमत हैं। उन्होंने प्राथमिक समूह को अनिवार्य प्रकार बताया है। दूसरे वर्गीकरण सदस्यों की

संख्या के आधार पर स्थायित्व के आधार पर और अन्य आधारों पर निश्चित प्रकारों में रखे गए हैं। यहां हम कतिपय उल्लेखनीय वर्गीकरणों का वर्णन करेंगे।

कूले ने सबसे पहली बार प्राथमिक समूह की अवधारणा को रखा था। प्राथमिक समूह से उनका तात्पर्य लोगों के उस छोटे साहचर्य से है, जिनमें सदस्य एक दूसरे से भावनात्मक स्तर पर जुड़े होते हैं। प्राथमिक समूहों में परिवार, नातेदार, मित्र मंडली, छोटे मोटे गांव, पड़ोस आदि सम्मिलित हैं। प्राथमिक समूह की यह अवधारणा कूले ने 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में रखी थी। तब शायद सम्मिलित समूह का इस प्रकार का अर्थ प्रासंगिक भी था। आज विकसित और विकासशील देशों में परिवार जैसे प्राथमिक समूह को संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं। कई समाजों में अब परिवार अनिवार्य रूप से एक संतोषजनक समूह नहीं रहा। नातेदारों का प्राथमिक समूह भी संकट के कगार की ओर कभी धीरे-धीरे और कभी तेजी से बढ़ता जा रहा है। यही बात मित्र मंडली पर भी लागू होती है। ऐसा लगता है कि दुनियां भर के प्राथमिक समूह आज वैसे नहीं रहे, जैसी उनकी कल्पना कूले ने की थी।

15.5 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह

प्राथमिक समूह: प्राथमिक समूह के कई दृष्टांत हैं, परिवार, मित्र मंडली, जनजातीय समाज, पड़ोस और खेल समूह। इनके सदस्यों के बीच में घनिष्ठ, अनौपचारिक, प्रत्यक्ष संबंध होते हैं। इस समूह के सदस्यों में अपनत्व की भावना होती है। भारतीय गांव एक प्राथमिक समूह है। गांव के लोग न केवल एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, वे प्रत्येक परिवार के इतिहास से परिचित होते हैं। इरावती कर्वे अपनी पुस्तक दि हिंदु सोशल ऑर्गेनाइजेशन में कहती है कि गांव में जब कोई अजनबी आता है तो उसकी पहचान अजनबी के रूप में सारा गांव करता है। गांव के एक परिवार का दामाद वस्तुतः संपूर्ण गांव का दामाद समझा जाता है। एक परिवार का भानजा संपूर्ण गांव का भानजा समझा जाता है। ये सब संबंध प्राथमिक हैं। कम से कम आज भी भारतीय गांवों में प्राथमिक समूह का महत्व किसी भी अर्थ में कम नहीं किया जा सकता।

कूले ने अपनी पुस्तक **सोशल ऑरगेनाइजेशन** में प्राथमिक समूह की परिभाषा इस तरह की है: प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहों से है, जिनकी विशेषता आमने-सामने के घनिष्ठ साहचर्य और सहयोग के रूप में व्यक्त होती है। ये समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक हैं, परंतु मुख्यतः इस बात में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण में मौलिक है। घनिष्ठ साहचर्य का

परिणाम यह होता है कि एक सामान्य संपूर्णता में वैयक्तिकताओं का इस प्रकार एकीकरण हो जाता है कि प्रायः कई प्रयोजनों के लिए व्यक्ति का अहम् समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाता है। इस संपूर्णता के वर्णन के लिए अति सरल विधि 'हम' कहना उचित होगा, क्योंकि यह अपने में उस प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक पहचान को समाविष्ट करता है। इसके लिए 'हम' ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक ह्यूमन सोसायटी में कूले की उपरोक्त परिभाषा की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि प्राथमिक समूह के सदस्यों में हम की भावना सर्वोपरि होती है। वैसे हम दैनिक जीवन में कई लोगों के साथ रूबरू संबंध रखते हैं। व्यापारी और ग्राहक के संबंध, बैंक के काउंटर पर बैठे बाबू से संपर्क या आमने-सामने के संबंध होते हैं, लेकिन ये आमने-सामने के संबंध निश्चित रूप से किसी प्राथमिक समूह को नहीं बनाते। ये प्राथमिक समूह तो तब बनते हैं जब भावात्मक स्तर पर लोग आमने-सामने मिलते हैं। प्राथमिक समूह के लिए गहन संवेगों का होना आवश्यक है। यह भी संभव है कि कभी-कभार द्वितीयक समूहों में भी कई बार प्राथमिक समूह बन जाते हैं। बैंकिंग उद्योग में कई लोग काम करते हैं। यह द्वितीयक समूह हैं पर इसमें मुट्ठी भर लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने आपको प्राथमिक स्तर पर बांध लेते हैं।

यद्यपि डेविस ने कूले की प्राथमिक समूह की परिभाषा की सटीक व्याख्या की है, पर वे इस तरह की परिभाषा से असहमत भी हैं। कूले हम की भावना पर अत्यधिक जोर देते हैं। उनका तो कहना है कि प्राथमिक समूह ही क्यों, सभी समूहों में कम या ज्यादा हम की भावना अवश्य होती है। ऐसी अवस्था में हम की भावना केवल प्राथमिक समूह की विशेषता हो, ऐसा नहीं है। भारत एक राष्ट्र है यानी यह द्वितीयक समूह है, इसमें हम की भावना अनिवार्य रूप से पायी जाती है। हमारा भारत महान है, हम सभी भारतवासी हैं। ये सब मुहावरे हम की भावना से बंधे हुए हैं। ऐसा होते हुए भी भारत राष्ट्र प्राथमिक समूह नहीं है। कूले का तो कहना है कि प्राथमिक समूह के संबंध संपूर्ण जीवन को अपने परिवेश में समेट लेते हैं। जब परिवार प्राथमिक समूह है तो वह अपने सदस्यों के संपूर्ण जीवन की देखरेख करता है। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक समूह अपने सदस्यों के संपूर्ण जीवन को अपनी सीमाओं में बांध लेता है।

इलेक्स इंकेल्स ने प्राथमिक समूह की बहुत बड़ी विशेषता आमने-सामने या आत्मिक संबंधों को माना है। वे लिखते हैं:

प्राथमिक समूह के सदस्यों के संबंध भी प्राथमिक होते हैं, जिनमें व्यक्ति एक दूसरे से आमने सामने मिलते हैं। इन समूहों में सहयोग और साहचर्य की भावनाएं इतनी प्रभावपूर्ण होती हैं कि व्यक्ति का अहं हम की भावना में बदल जाता है।

प्राथमिक समूह की विशेषताएं

1. **एक से अधिक व्यक्ति**: कूले ने जब प्रारंभ में प्राथमिक समूह की परिभाषा दी, तब उन्होंने कहा कि समूह के लिए एक से अधिक सदस्यों का होना आवश्यक है। समूह के इस लक्षण के संबंध में बाद के सभी समाजशास्त्रियों ने यह एक अनिवार्य लक्षण स्वीकार किया।

2. **संवेग:** कूले ने प्राथमिक समूह का दूसरा लक्षण संवेग बताया। ये संवेग हम की भावना को सुदृढ़ करते हैं। जब समूह के सदस्य संवेगात्मक रूप से जुड़े होते हैं तब बिना किसी हानि-लाभ की चिंता करते हुए वे एकजुट होकर रहते हैं।

3. **पारस्परिक पहचान**:कूले ने प्राथमिक समूह की एक और विषेशता पारस्परिक पहचान बताई है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की समाज या समुदाय में पहचान अपने परिवार से होती है, अपने आप में वह कुछ नहीं है।

4. **शारीरिक समीपता:** किंग्सले डेविस ने प्राथमिक समूह का बहुत बड़ा लक्षण शारीरिक समीपता को माना है। एक ही छत के नीचे रहने के कारण प्राथमिक समूह के सदस्य एक दूसरे को बहुत निकटता से समझते हैं। ये सदस्य एक ही चूल्हे से भोजन करते हैं, एक ही बटुए से खर्च करते हैं और सदस्यों के संपूर्ण जीवन का सरोकार प्राथमिक समूह से होता है। रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार सभी में प्राथमिक समूहों के सदस्यों की किसी न किसी प्रकार से भागीदारी होती है।

5. **लघु आकार:** डेविस यह भी कहते हैं कि प्राथमिक समूहों का आकार छोटा होता है। छोटे आकार की कोई संख्या निर्धारित नहीं है, लेकिन आकार इतना छोटा होना चाहिए कि समूह के सदस्य एक दूसरे से प्राथमिक रूप से जुड़ सकें अथवा संपर्क कर सकें। नातेदार और समुदाय के सदस्य अंतर्क्रियाओं की दृष्टि से एक दूसरे के निकट होते हैं। इसीलिए डेविस कहते हैं कि समूह का आकार इतना छोटा होना चाहिए कि सदस्य एक दूसरे से प्रत्यक्ष संपर्क बनाए रख सकें। रेडफील्ड ने भी समूह के छोटे आकार को स्वीकार किया है।

6. **संबंधों की अवधिः** यह लक्षण भी डेविस ने रखा है। वे कहते हैं कि प्राथमिक समूह के सदस्यों के संबंध छोटी अवधि के लिए नहीं होते। संबंध जितने लम्बे समय के लिए होंगे, प्राथमिक समूह उतना ही अधिक सुदृढ़ और सुगठित होगा। गांव के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। पीढ़ियां भी इसी भांति परिवार से जुड़ी रहती है। नातेदारी के संबंध भी लम्बी अवधि तक चलते हैं।

7. **सुनिश्चितता:** रॉबर्ट रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह के जो लक्षण रखे हैं, उनका संदर्भ ग्रामीण समुदाय से है। उन्होंने मेक्सिको के गांवों का अध्ययन किया है। भारतीय सामाजिक मानवशास्त्री इस शताब्दी के पांचवें दशक में रेडफील्ड के ग्रामीण अध्ययन से बहुत अधिक प्रभावित थे। इस दशक में तो रेडफील्ड की लोकप्रियता हमारे यहां चरम सीमा पर थी। रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह की बहुत बड़ी विशेषता सुनिश्चितता को बताया है। इसका मतलब यह है कि एक प्राथमिक समूह दूसरे अगणित प्राथमिक समूहों से पृथक् होता है। इसकी अपनी एक अलग पहचान होती है। गांव के संदर्भ में रेडफील्ड कहते हैं कि यह बहुत निश्चित है कि गांव यहां प्रारंभ होता है और वहां समाप्त होता है। परिवार की भी ऐसी ही पृथकता होती है। यह परिवार अमुक पीढ़ियों का है, इसका गोत्र यह है और सामान्यतया इस परिवार में इस तरह के व्यवसाय होते रहते हैं।

8. **सजातीयता:** प्राथमिक समूह के सदस्य चाहे पुरुष हों या स्त्री, छोटे हों या बड़े, समान स्तर के होते हैं। सामान्यतया सोच विचार, शिक्षा-दीक्षा और धंधे में इन सदस्यों में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं होता। इसी कारण रेडफील्ड सजातीयता को प्राथमिक समूहों का बहुत बड़ा लक्षण मानते हैं। ग्रामीण समुदाय में तो धंधे की यानी कृषि की सजातीयता बहुत अधिक होती है। बाढ़ आ गई या सूखा पड़ गया, तब गांव के सभी लोग निराशा की सांस में ऊपर नीचे होने लगते हैं। यह एक प्रकार की मानसिक सजातीयता है।

9. **आत्मनिर्भरताः** रेडफील्ड गांवों के बारे में कहते हैं कि यहां आत्मनिर्भरता होती है। पालने से लेकर शमशान घाट तक की संपूर्ण आवश्यकताएं गांव में पूरी हो जाती हैं। इस अर्थ में प्राथमिक समूह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में आत्मनिर्भर होते हैं, परिवार को देखिए- गरीब हो या अमीर, अपने भाई-बहिनों की सभी आवश्यकताएं यहां पूरी हो जाती हैं। मित्र मंडली भी एक ऐसा समूह है जो अपने मित्रों की सहायता सभी आवश्यकताओं में करते हैं। यही हाल नातेदारों का भी है।

हमारे यहां गांधीजी जीवन भर यह कहते रहे कि हमें गांवों को स्वावलंबी बनाना चाहिए। इससे उनका तात्पर्य यह था कि गांव के लोग स्वयं अपनी आवश्यकताओं को पूरा करें। लोगों को खाने के लिए जितना अनाज चाहिए, गांव के खेतों में पैदा किया जाना चाहिए। गांव की अतिरिक्त उपज ही बाजार में पहुंचानी चाहिए। गांव के कपड़े की आवश्यकता जुलाहे के करघे को करनी चाहिए। बुनियादी शिक्षा गांव के स्कूल से मिल जानी चाहिए। ये सब तत्व या ऐसे ही तत्व प्राथमिक समुदाय को स्वावलंबी बनाते हैं। यह निश्चित है कि आज के विश्वव्यापीकरण और उदारीकरण के युग में आत्मनिर्भरता हाशिये पर आ गई है, फिर भी कई ऐसी आवश्यकताएं हैं जो सामान्यतया प्राथमिक समूह के सदस्यों के कारण पूरी हो जाती हैं। रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह के जो लक्षण दिए हैं, उनमें कतिपय लक्षण आधुनिक समाज के लिए अप्रासंगिक हो गए हैं। स्वयं रेडफील्ड ने इस अप्रासंगिकता की चर्चा की है। ऐसा लगता है कि उद्योगीकरण, शहरीकरण के कारण समाज में जो तीव्र परिवर्तन आ रहे हैं, उनमें प्राथमिक समूहों की भूमिका धीरे-धीरे, लेकिन निश्चित रूप से सिकुड़ रही है।

10. अंतर्क्रियाएँ: होमंस और इसी भांति विलियम वाइट ने प्राथमिक समूह का बहुत बड़ा लक्षण अंतर्क्रिया को माना है। समूह के सदस्य एक दूसरे से बराबर मिलते जुलते रहते हैं। अंतर्क्रियाओं में ही, होमंस कहते हैं, संवेग पाए जाते हैं। अंतर्क्रिया और संवेग प्राथमिक समूह के सदस्यों को एक सूत्र में बांधते हैं।

11. प्रतियोगिता और संघर्ष: प्राथमिक समूह इसी समाज की उपज हैं। इन समूहों में कितनी ही एकता और सुदृढ़ता हो, दरारें अवश्य होती हैं। महाभारत का युद्ध कोई दो विरोधी समूहों में नहीं हुआ था। इस युद्ध में कौरव और पांडव यानी भाई-भाई ही लड़े थे। राम को वनवास इसलिए मिला कि कैकेयी को दशरथ का राम को राजा बनाना रास नहीं आया और इसी कारण राम को वनवास जाना पड़ा। महाकाव्य की कथाओं के ये दृष्टांत मिथक कहे जा सकते हैं। इन्हें छोड़ दें तब भी आज प्रत्येक प्राथमिक समूह में मिट्टी के चूल्हे हैं। मित्र-मित्र में लड़ाई, सगे-संबंधी में झगड़ा, गांव में राजनीतिक दलबंदी और परिवार में संपत्ति बँटवारे पर झगड़ा, सभी प्राथमिक समूहों में संघर्ष है, प्रतियोगिता है।

द्वितीयक समूहः कूले ने प्राथमिक समूह के विवरण में द्वितीयक समूह की चर्चा नहीं की है। शायद 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में विदेशों में भी द्वितीयक समूहों का अधिक महत्व नहीं था। इसी

कारण कूले ने प्राथमिक समूहों की व्याख्या तक ही अपने आपको सीमित रखा। इन देशों में उद्योगीकरण और शहरीकरण के परिणामस्वरूप द्वितीयक समूह महत्वपूर्ण होने लगे हैं। इसी कारण 20वीं शताब्दी के मध्य में पहुंचकर द्वितीयक समूह अध्ययन के मुख्य क्षेत्र बन गए। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि समाज जितना अधिक आधुनिक, औद्योगिक और पूंजीवादी होगा, उतने ही अधिक उसमें द्वितीयक समूह होंगे। कूले के बाद के समाजशास्त्रियों ने द्वितीयक समूह की व्याख्या विशद् रूप में की है। यहां हम द्वितीयक समूह की कतिपय महत्वपूर्ण परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे।

एंथोनी गिडेंय जब द्वितीयक समूह को परिभाषित करते हैं तो निश्चित रूप से उनका संदर्भ अमेरिका है। इस देश में तो मनुष्य का संपूर्ण जीवन ही द्वितीयक समूह की परिसीमा में आ जाता है। इस तरह के विशाल समूह के संदर्भ में द्वितीयक समूह की व्याख्या करते हुए गिडेंस लिखते हैं: एक द्वितीयक समूह मनुष्यों की संख्या है जो नियमित रूप से मिलते हैं, लेकिन जिनके संबंध मुख्य रूप से अवैयक्तिक होते हैं। द्वितीयक समूहों में व्यक्तियों के संबंध प्रगाढ़ नहीं होते। ये लोग सामान्यतया एक दूसरे के निकट तब आते हैं जब उनके कुछ व्यावहारिक और निश्चित काम होते हैं।

एंथोनी गिडेंस द्वितीयक समूह की तालिका में किसी एक कमेटी या क्लब को सम्मिलित करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो कई ऐसी सामाजिक स्थितियां होती हैं, जिनमें प्राथमिक और द्वितीयक समूहों में कोई निश्चित अंतर करना कठिन हो जाता है। राजनीतिक दलों, शिक्षण संस्था की कमेटियों और व्यापारिक संगठनों में कई सदस्य एक दूसरे के साथ मित्रता स्थापित कर लेते हैं। ऐसे लोग बड़े सहज भाव से एक दूसरे से मिलते भी हैं। वे अवैयक्तिक कार्य भी करवा लेते हैं। व्यापारिक संगठनों के लोग अनौपचारिक रूप से यानी प्राथमिक समूहों की तरह जीवन के कई क्षेत्रों में एक दूसरे की सहायता करते हैं। तथ्यपूर्ण बात यह है कि द्वितीयक समूहों में भी कई छोटे-छोटे प्राथमिक समूह बन जाते हैं। सरकारी अधिकारी तंत्र में तो पदोन्नति, स्थानांतरण आदि मुद्दों पर अधिकारीतंत्र के प्राथमिक समूह ही काम में आते हैं।

द्वितीयक समूह की विशेषताएं

1. द्वितीयक समूह लोगों की एक समिति है ये समूह मध्यम आकार से वृहद् आकार के होते हैं। इनमें सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती है। इसी कारण लोग एक दूसरे को जानते भी नहीं हैं। इन द्वितीयक समूहों को समिति इसलिए कहते हैं कि इनकी स्थापना सोच समझकर विधिवत् रूप से की

जाती है। द्वितीयक समूहों के उदाहरण में अधिकारीतंत्र, स्वयंसेवी संस्थाएं, व्यावसायिक संगठन आदि सम्मिलित हैं।

2. अवैयक्तिक संबंध: द्वितीयक समूह के सदस्य एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते। बैंक के काउंटर पर वह व्यक्ति जो चैक लेता है या डाकघर में जो बाबू टिकट देता है, वह कौनसी जाति-बिरादरी का है, कहां का रहने वाला है, विवाहित या अविवाहित है, इससे हमें कोई व्यक्तिगत जानकारी नहीं है। हमारा उद्देश्य तो चेक का धन लेना या डाक टिकट लेना है। तात्पर्य हुआ, द्वितीयक समूह के सदस्यों के साथ हमारे संबंध किसी सुनिश्चित उद्देश्य को लेकर ही होते हैं। इससे आगे संबंधों का हमारा कोई सरोकार नहीं होता।

3. संबंधों का आधार संविदा होती है: द्वितीयक समूह के सदस्यों के साथ लंबी अवधि तक हमारे संबंध होते हैं। बाजार का कामकाज बैंक के संबंधों के बिना नहीं हो सकता। चिकित्सालय या सेवार्थ संस्थाओं के द्वितीयक संगठनों के साथ भी हमारे संबंध निश्चित नियमों के अनुसार होते हैं। कोई किसी पर कृपा नहीं करता।

4. औपचारिक संबंध: द्वितीयक समूहों में लोगों के साथ हमारे संपर्क वस्तुतः प्रस्थिति और भूमिका से जुड़े होते हैं। किसी अमुक प्रस्थिति में कौनसा व्यक्ति काम करता है, इस व्यक्ति से हमें कोई मतलब नहीं। आज इस प्रस्थिति में महेश काम करता है, कल वह चला जाता है और उसके स्थान पर सुरेश आ जाता है। हमें महेश व सुरेश से कोई तात्पर्य नहीं है। हमारा संबंध तो उस प्रस्थिति के साथ है, जिस पर इन नामों के लोग काम करते थे। अतः द्वितीयक समूह में हमारे संपर्कों का उपागम हर स्थिति में औपचारिक ही होता है।

5. निश्चित उद्देश्य: द्वितीयक समूह में व्यक्ति के जीवन की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। प्रत्येक संगठन के कुछ सीमित और निश्चित लक्ष्य होते हैं। ये संगठन इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ही काम करते हैं, इनसे आगे नहीं। अतः जहां कहीं हमारा संगठनों से वास्ता पड़ता है तो हमारे संबंध कुछ सीमित क्षेत्रों में ही होते हैं। चिकित्सालय हमें बीमारी का निदान तो देगा लेकिन यदि हम इससे हमारे पहनने के कपड़े मांगे तो इस आवश्यकता की पूर्ति का काम चिकित्सालय के क्षेत्र से बाहर है।

6. संविदा के उल्लंघन पर दंड हम आग्रहपूर्वक कह रहे हैं कि द्वितीयक समूह संविदा की सीमा में काम करते हैं। यदि ये समूह संविदा की शर्तों को नहीं मानते तो इसका खामियाजा उन्हें पंचों या

अदालत के माध्यम से भोगना पड़ेगा। जब बीमा धारकको उसकी निश्चित धनराशि नहीं मिलती या उसके भुगतान में अड़चने आती हैं तो दोनों के लिए अदालत खुली है। संविदा द्वितीयक समूहों के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करती है।

15.6 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की तुलना

निश्चित रूप से विकसित समाजों में द्वितीयक समूह प्रधान होते हैं जबकि विकासशील समाजों में इन समूहों की प्रधानता कम हो जाती है। इससे आगे आदिम समाजों में तो केवल मुट्ठी भर प्राथमिक समूह होते हैं और द्वितीयक समूह थोड़े हो जाते हैं। देखना यह है कि इन समूहों में अंतर का निर्णायक आधार कौनसा है। जिन समाजशास्त्रियों ने प्राथमिक और द्वितीयक समूहों का अंतर स्पष्ट किया है, वे सभी इस तथ्य से सहमत हैं कि यह अंतर सामाजिक संबंधों की प्रकृति का है। यदि द्वितीयक समूहों में सामाजिक संपर्क होते हैं तो ये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष होते हैं, लेकिन संबंध अवश्य होते हैं और प्राथमिक समूहों में भी संबंध ही होते हैं। संबंधों की समानता होते हुए भी यह संबंधों की प्रकृति है जो इन दोनों समूहों को पृथक् पहचान देती है।

चार्ल्स कूले ने जब प्राथमिक समूह की अवधारणा को प्रस्तावित किया तो उन्होंने बड़ा जोर देकर कहा कि इन समूहों में संबंध आमने-सामने के होते हैं। संबंध केवल औपचारिक नहीं होते, वैयक्तिक होते हैं। इन संबंधों में आत्मीयता होती है, अपनापन होता है। संबंधों की इसी निकटता के कारण वे परिवार, मोहल्ले में खेलने वाले बच्चे, पड़ोसी आदि को प्राथमिक समूह का अंग मानते हैं। आगे चलकर कूले जब यह कहते हैं कि ये प्राथमिक समूह इसलिए भी प्राथमिक है कि जीवन के प्रारंभ में इनका महत्व बहुत अधिक होता है। ये समूह तो जीवन की नर्सरी है और कोई भी समाज इनकी अवहेलना नहीं कर सकता। प्राथमिक और द्वितीयक समूह के अंतर की इस प्रस्तावना के बाद इनके अंतर को हम निम्न बिंदुओं में रखेंगे।

- सामान्यतया प्राथमिक समूह छोटे होते हैं और छोटे भी इतने कि समूह के सदस्य एक दूसरे के साथ निकट संबंध स्थापित कर सकें। दूसरी ओर द्वितीयक समूह वृहद् आकार के होते हैं और उनमें साहचर्य नहीं होता। द्वितीयक समूहों को बांधने का काम समूह के एक जैसे लक्ष्य ही करते हैं। चिकित्सकों का व्यावसायिक समूह स्थानीयता से उठकर क्षेत्र, राज्य या देश तक होता है। ये चिकित्सक व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे को बहुत कम जानते हैं फिर भी वे द्वितीयक समूह बनाते हैं, ठीक इसी तरह हिंदुस्तान के लगभग 8 करोड़ आदिवासी एक

दूसरे से परिचित नहीं हैं, फिर भी वे द्वितीयक समूह बनाते हैं। संविधान द्वारा दी गई सुरक्षा ने उन्हें एक सूत्र में बांध दिया है।

- प्राथमिक समूह के संबंध घनिष्ठ और वैयक्तिक होते हैं। इन संबंधों का आधार सहज रूप से संवेगात्मक होता है। माता-पिता कैसे भी हों, लेकिन हैं वे माता-पिता। ये संवेग ही प्राथमिक समूह की पूंजी है। द्वितीयक समूहों में संबंध अवैयक्तिक, औपचारिक और उद्देश्यपरक होते हैं। जब तक द्वितीयक समूह के सदस्य हैं, संबंध बने रहते हैं। जब मुंबई छोड़ दिया और कानपुर में बस गए तो मुम्बई अपना नहीं रहा और कानपुर अपना द्वितीयक समूह बन गया। द्वितीयक समूह के संबंध निरंतरता नहीं रखते। प्राथमिक समूह में संबंधों की गहराई होती है। भाई का स्थानांतरण कहीं और हो जाता है तब भी बहिन उसकी बहिन ही है। संबंधों की यह गहराई बड़ी सरलता से प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के बीच में एक लक्ष्मण रेखा खींच देती है। प्राथमिक समूहों के संबंधों की गहराई इतनी अधिक होती है कि यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है।
- संबंध तो प्राथमिक और द्वितीयक दोनों समूहों में होते हैं, लेकिन प्राथमिक समूह के संबंध सर्वांगीण होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन समूहों में सभी तरह के संबंध होते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार के सदस्य अन्य सदस्यों के लिए सभी तरह की सहायता उपलब्ध करवाते हैं। खान-पान, शिक्षा, मनोरंजन, बीमारी यानी सदस्यों के जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवार के सदस्य एक दूसरे की सहायता करते हैं। मतलब यह हुआ कि जहां तक संभव हो, प्राथमिक समूह के सदस्यों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्रोतों की उपलब्धि पर निर्भर है। द्वितीयक समूहों के संबंध एकमात्र सीमित उद्देश्यों तक ही बंधे रहते हैं। सहकारी समिति ऋण दे सकती है, अपने सदस्यों की बीमारी में सेवा सुश्रुषा नहीं कर सकती। विश्वविद्यालय का अध्यापक अधिक से अधिक अपनी पूरी निष्ठा से अध्यापन कर सकता है, लेकिन विद्यार्थी को रोटी, कपड़ा और मकान तो नहीं दे सकता। बहुत थोड़े में कहना चाहिए कि जहां प्राथमिक समूह सदस्यों की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, वहां द्वितीयक समूह एक मात्र समूहों से जुड़े हुए उद्देश्यों की ही पूर्ति करते हैं।
- प्राथमिक और द्वितीयक समूहों का उद्देश्य अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखना है। दोनों ही समूह सदस्यों को संबद्धता के सूत्र में बांधे रखते हैं। लेकिन दोनों के नियंत्रण की प्रकृति में अंतर है। प्राथमिक समूह के नियंत्रण का आधार नैतिक मूल्य और निश्चित परंपरागत

मानदंड होते हैं। इनकी अवहेलना करने पर लोग यानी प्राथमिक समूहों के अन्य सदस्य उनकी आलोचना करते हैं। दूसरी ओर द्वितीयक समूह में नियम का उल्लंघन करने पर कानूनी कार्रवाई की जाती है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि द्वितीयक समूह के सदस्य संविदा से बंधे होते हैं। इसी कारण हम कहते हैं कि दोनों समूह सामाजिक नियंत्रण तो रखते हैं लेकिन प्राथमिक समूहों का नियंत्रण नैतिकता और परंपरा पर आधारित होता है, द्वितीयक समूहों का नियंत्रण कानूनी होता है।

- प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के अंतर को बहुत स्पष्ट रूप से कैंची की तरह काटकर रखा नहीं जा सकता। किसी के लिए भी यह कहना बहुत मुश्किल है कि यहां प्राथमिक समूह समाप्त होते हैं और वहां द्वितीयक समूह प्रारंभ होते हैं। दूध और पानी को अलग करना कठिन है। यह इसलिए कि प्रत्येक द्वितीयक समूह में कई प्राथमिक समूह होते हैं। जितना बड़ा द्वितीयक समूह होगा, उतने ही अधिक उसमें प्राथमिक समूह होंगे। पिछले पृष्ठों में हमने कई बार दोहराया है कि द्वितीयक समूह में भी प्राथमिक समूह उभर आते हैं। हम प्रायः कहते हैं कि अमुक राजनीतिक दल में गुटबाजी है। यह इसका गुट है और वह उसका। ये गुट वस्तुतः प्राथमिक समूह है। कहना यह चाहिए कि प्रत्येक द्वितीयक समूह में सामान्यतया प्राथमिक समूह होते हैं।

15.7 सारांश

हमने इस इकाई में सामाजिक समूह की अवधारणा को समझने का प्रयास किया है। सामाजिक समूह वह है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति हों, एक ही प्रकार के परस्पर संबंध हों, यानी समान विश्वास, मूल्य और आदर्शों पर आधारित हो, साथ ही इन परस्पर संबंधों में नियमितता होनी चाहिए तभी सामाजिक समूह का निर्माण होता है। सामाजिक समूह का निर्माण कुछ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। मानव जीवित तभी रहता है, जब वह समूह का सक्रिय सदस्य हो। परिवार ऐसा समूह है जिससे हमें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में मदद मिलती है। अलग-अलग व्यक्ति के रूप में हमारे लिए सभी आवश्यकताओं को पूरा करा संभव नहीं है। समूह द्वारा ही हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। समूहों के माध्यम से ही हमें अनेक प्रकार की संतुष्टि प्राप्त होती है। अतः हमारे लिए किसी भी समूह का अंग होना महत्वपूर्ण हो जाता है। समूह मुख्य रूप

से प्राथमिक व द्वितीयक होते हैं। संबंधों की घनिष्ठता के आधार पर ही समूह के प्रकार विकसित होते हैं।

15.8 बोध प्रश्न

1. सामाजिक समूह को परिभाषित करते हुए उसकी प्रमुख विशेषताएं बताइए।
2. सामाजिक समूह का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।
3. प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

15.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गिडेंस, एंथोनी, सोशियोलॉजी, चतुर्थ संस्करण, पोलिटी, यू.के., 2001.
2. हेरालाम्बोस एवं होलबोर्न, सोशियोलॉजीः थीम्स एंड पर्सपेक्टिव, पंचम संस्करण, कोलिंस, लंदन, 2000.
3. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2007.

इकाई 16- समिति

Association

इकाई की रुपरेखा

16.0 प्रस्तावना

16.1 उद्देश्य

16.2 समिति का अर्थ व परिभाषाएं

16.3 समिति के अनिवार्य तत्व

16.4 समिति की प्रमुख विशेषताएं

16.5 समितियों के प्रकार

16.6 सारांश

16.7 अभ्यास प्रश्न

16.8 पारिभाषिक शब्दावली

16.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

16.10 निबंधात्मक प्रश्न

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य समिति व समिति के विभिन्न प्रकार की पूर्ण जानकारी प्रदान करना है, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समिति के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र के किसी भी विद्यार्थी को इस विषय को पढ़ने से पहले इसकी अवधारणाओं को समझ लेना चाहिए। सच में देखा जाए तो अवधारणाएं अपने औपचारिक रूप में निश्चित और स्पष्ट होती हैं। समाजशास्त्र की एक निश्चित पारिभाषिक शब्दावली है। इससे विद्यार्थी का पूरा संपर्क होना चाहिए। इसलिए मैकाइवर तथा पेज ने कहा कि समाजशास्त्र में भी प्रत्येक विज्ञान और ज्ञान की शाखा की तरह अपने निजी पारिभाषिक उपकरणों का एक परिवार है। इसलिए समाजशास्त्र के विद्यार्थी को चाहिए कि वह प्रारंभिक अभ्यास की तरह कुछ प्राथमिक अवधारणाओं को जो कि उसके अध्ययन क्षेत्र के आधार है, पकड लें और याद कर लें।

अवधारणाएं केवल शब्द नहीं हैं। कोई भी शब्दकोश शब्दों के अर्थ को तो देता है लेकिन इन शब्दों में निहित जो ऐतिहासिक एवं विधि संबंधी अर्थ निहित होते हैं, उनकी आख्या नहीं देता। कोई भी समाज विज्ञान तभी समृद्ध होगा जब उसके पास आधिकारिक अवधारणाएं होंगी। यहां हम समाजशास्त्र की कतिपय अवधारणाओं की व्याख्या करेंगे जो सामान्यतया समाजशास्त्र में पाई जाती हैं।

16.2 समिति –अर्थ व परिभाषाएं

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के कारण उसकी असीमित इच्छाएं व आवश्यकताएं हैं। जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए व्यक्ति अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयास करता है। मैकाइवर एवं पेज के मतानुसार इन आवश्यकताओं या लक्ष्यों को पूरा करने के तीन ढंग हो सकते हैं - प्रथम व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को स्वतंत्र रूप से अकेले ही बिना किसी की सहायता लिए स्वयं पूरा कर ले, परंतु यह एक तो असामाजिक ढंग है तथा दूसरे अत्यंत दुश्कर है, द्वितीय व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरे के हितों का हनन करे व उनसे संघर्ष करे। यह ढंग भी समाज विरोधी प्रवृत्ति को अधिक स्पष्ट करता है। यद्यपि संघर्ष जीवन का ही एक अंग है फिर भी यह असामाजिक है। समाज द्वारा इस तरीके को मान्यता प्रदान की जाती है तथा तृतीय व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को दूसरे व्यक्तियों के सहयोग से पूरा करें। यह एक सामाजिक ढंग है। आवश्यकताओं को पूरा करने का तीसरा ढंग सीमित का आधार है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पारस्परिक सहायता तथा सहयोग के आधार पर मिलजुल कर

लक्ष्यों को पूरा करने वाले समूह या संगठन को हम समिति कह सकते हैं। जब कुछ लोग मिलकर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सहयोग के आधार पर किसी संगठन का निर्माण करते है तब इसी संगठन को हम समिति कहते हैं।

समिति व्यक्तियों का समूह है। यह किसी विशेष हित या हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। परिवार, विद्यालय, व्यापार, संघ, चर्च, धार्मिक संघ, राजनीति दल, राज्य इत्यादि समितियां हैं। इनका निर्माण विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ - विद्यालय का उद्देश्य शिक्षण तथा व्यावसायिक तैयारी है। इसी प्रकार श्रमिक संघ का उद्देश्य नौकरी की सुरक्षा, उचित पारिश्रमिक दरें, कार्य की स्थितियां इत्यादि को ठीक रखना है। साहित्यकारों या पर्वतारोहियों के संगठन भी समिति के ही उदाहरण हैं। जिंसबर्ग के अनुसार समिति आपस में संबंधित सामाजिक प्राणियों का एक समूह है जो एक निश्चित लक्ष्य या लक्ष्यों की पूर्ति के लिए एक सामान्य संगठन का निर्माण करते हैं। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार सामान्य हित या हितों की पूर्ति के लिए दूसरों के सहयोग के साथ सोच-विचार कर संगठित किए गए समूह को समिति कहते हैं। गिलिन एवं गिलिन के अनुसार समिति व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो किसी विशेष हित या हितों के लिए संगठित होता है तथा मान्यता प्राप्त या स्वीकृत विधियों और व्यवहारों द्वारा कार्य करता है। इसी भांति बोगार्डस के अनुसार समिति प्रायः किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों का मिलजुलकर कार्य करना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसमें सहयोग व संगठन पाया जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य किसी लक्ष्य की पूर्ति है। समिति के सदस्य अपने विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति कुछ निश्चित निमयों के अंतर्गत सामूहिक प्रयास द्वारा करते हैं।

16.3 समिति के अनिवार्य तत्व

समिति के निम्नलिखित चार अनिवार्य तत्व हैं-

1. **व्यक्तियों के समूह** - समिति समुदाय की ही तरह मूर्त है। यह व्यक्तियों का एक संकलन है। दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों का होना समिति के निर्माण हेतु अनिवार्य है।

2. **सामान्य उद्देश्य** - समिति का दूसरा आवश्यक तत्व सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों का होना है। व्यक्ति इन्हीं सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो संगठन बनाते हैं उसे ही समिति कहा जाता है।

3. **पारस्परिक सहयोग** - सहयोग समिति का तीसरा अनिवार्य तत्व है। इसी के आधार पर समिति का निर्माण होता है। सहयोग के बिना समिति का कोई अस्तित्व नहीं है।

4. **संगठन -** समिति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन का होना भी आवश्यक है। संगठन द्वारा समिति की कार्यप्रणाली में कुशलता आती है।

समिति के निर्माण हेतु उपर्युक्त चारों तत्वों का होना अनिवार्य है, वस्तुतः समितियों का निर्माण अनेक आधारों पर किया जाता है। अवधि के आधार पर समिति स्थायी जैसे राज्य एवं अस्थायी जैसे बाढ़ सहायता समिति, सत्ता के आधार पर संप्रभु जैसे राज्य, अर्द्धसंप्रभु जैसे विश्वविद्यालय एवं संप्रभु जैसे क्लब कार्य के आधार पर जैविक जैसे परिवार व्यावसायिक जैसे श्रमिक संघ मनोरंजनात्मक जैसे संगीत क्लब, परोपकारी जैसी सेवा समिति हो सकती हैं।

16.4 समिति की प्रमुख विशेषताएं-

समिति की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी कुछ विषेषताएं भी स्पष्ट होती हैं। इनमें से प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **मानव समूह** - समिति का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समूह से होता है जिसका एक संगठन होता है। संगठन होने का आधार उद्देश्य या उद्देश्यों की समानता है।

2. **निश्चित उद्देश्य** - समिति के जन्म के लिए निश्चित उद्देश्यों का होना आवश्यक है। यदि निश्चित उद्देश्य न हो तो व्यक्ति उनकी पूर्ति के लिए तत्पर न होंगे और न ही समिति का जन्म होगा।

3. **पारस्परिक सहयोग** - समिति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक व्यवस्था का निर्माण करती है। उद्देश्य की प्राप्ति तथा व्यवस्था के लिए सहयोग होना अति आवश्यक है। चूंकि सदस्यों के समान उद्देश्य होते हैं, इस कारण इनमें सहयोग पाया जाता है।

4. **ऐच्छिक सदस्यता** - प्रत्येक मनुष्य की अपनी आवश्यकताएं हैं। जब वह मनुष्य सोचता है कि अमुक समिति उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है तो वह उसका सदस्य बन जाता है। समिति की सदस्यता के लिए कोई बाध्यता नहीं होती है। इसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। इसे कभी भी बदला जा सकता है।

5. **अस्थायी प्रकृति -** समिति का निर्माण विशिष्ट उद्देश्यों के पूर्ति के लिए किया जाता है। जब उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाती तो वह समिति समाप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ - गणेशोत्सव के लिए गठित समिति गणेशोत्सव समाप्त हो जाने के बाद भंग हो जाती है।

6. **विचार-पूर्वक स्थापना** - समिति की स्थापना मानवीय प्रयत्नों के कारण होती है। व्यक्तियों का समूह पहले यह परामर्श करता है कि समिति उनके लिए कितनी लाभप्रद होगी। यह विचार विमर्श करने के पश्चात ही समिति की स्थापना की जाती है।

7. **नियमों पर आधारित -** प्रत्येक समिति की प्रकृति अलग होती है। इसी कारण समितियों के नियम भी अलग-अलग होते हैं। उद्देश्यों को पाने के लिए व सदस्यों के व्यवहार में अनुरूपता लाने के लिए कतिपय निश्चित नियम आवश्यक है। नियमों के अभाव में समिति अपने लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर सकती।

8. **मूर्त संगठन -** समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु एकत्र होते है। इस दशा में समिति को मूर्त संगठन के रूप में वर्णित किया जा सकता है। इसको किसी के भी द्वारा देखा जा सकता है।

9. **समिति साधन है, साध्य नहीं** - समितियों का निर्माण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है यदि हम पढने के शौकीन हैं, तो वाचनालय की सदस्यता ग्रहण कर लेते हैं। इससे हमें इच्छानुसार पुस्तकें मिलती रहती हैं। इसमें वाचनालय पुस्तकें प्राप्त करने का साधन है, साध्य नहीं, और यही समिति है। अतः हम कह सकते हैं समिति साधन है, साध्य नहीं।

16.5 समितियों के प्रकार

समिति की संरचना के आधार पर समितियों को दो भागों में बांटा जा सकता है

औपचारिक समितियां एवं अनौपचारिक समितियां

अ - औपचारिक समितियां - औपचारिक समिति का आदर्श रूप वही है जो समिति की विभिन्न परिभाषाओं में दिखाया गया है। किसी विशिष्ट हित या हितों की प्राप्ति के लिए जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक औपचारिक एवं स्पष्ट कार्यपद्धति के अनुसार संगठित होते हैं तो उसे औपचारिक समिति कहा जाता है। ऐसी समितियों में संपूर्ण कार्य को निश्चित भागों में तार्किक आधार पर बांट दिया जाता है । और उसी के अनुरूप प्रत्येक कार्य के लिए निश्चित पदों का सृजन किया जाता है। प्रत्येक पद के अधिकार और कर्तव्य सुपरिभाषित होते हैं। औपचारिक नियमों के आधार पर प्रत्येक पद के लिए उपयुक्त योग्यता का व्यक्ति चयन द्वारा नियुक्त किया जाता है। उसका वेतनक्रम, उन्नति का प्रावधान प्रशिक्षण आदि सभी सेवा संबंधी नियम स्पष्ट होते हैं। इसी भांति निरीक्षण एवं नियंत्रण के नियम भी पूर्व निर्धारित होते हैं।

इस भांति, औपचारिक समिति के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं-

1 विशिष्ट नाम

2 सुघोषित उद्देश्य

3 स्पष्ट नेतृत्व

4 औपचारिक संविधान

5 निरीक्षण एवं नियंत्रण की व्यवस्था पुरस्कार एवं दंड द्वारा

6 कार्य क्षेत्र की परिधि तथा

7 विशिष्ट चिन्ह यदि कोई हो तो।

ब- अनौपचारिक समितियां - अनौपचारिक समितियां उपर से ही परस्पर दो विरोधी शब्द लगते हैं क्योंकि अधिकांशतः समिति की परिभाषा औपचारिक नियमों की विद्यमानता के आधार पर ही की जाती है। परंतु यदि हम सतह से नीचे गहराई में देखें तो यह एक यथार्थ है कि अनेक समितियां अनौपचारिक रूप से विकसित होती है और कार्य करती है। इसके सदस्य विशिष्ट हितों के लिए मिलजुलकर कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं। औपचारिक रूप से चयन न होने पर भी उसमें स्पष्ट नेतृत्व उभरकर सामने आ जाता हैं। और उसकी प्रभाविता भी साफ दिखाई देती है। ऐसे

समितियों के सदस्य भी अपने व्यवहार के आदर्श एवं नियम विकसित कर लेते हैं। जो परस्पर सहमति के परिणाम होते हैं। ये नियम अथवा आचरण के प्रतिमान, चाहे लिखित या औपचारिक न हों, परंतु उनके प्रति सदस्यों में उच्च स्तर की प्रतिबद्धता पाई जाती है। अनौपचारिकता के आधार पर नीचे दो अनौपचारिक समितियों मित्र मंडली एवं परिवार के उदाहरण दिए जा रहे हैं।

मित्र मंडली भी एक विशेष प्रकार की समिति है। संबंधी आवश्यताओं की सहज पूर्ति व स्नेहमय सहयोग के लिए पारस्परिक आकर्षण के आधार पर इस मित्र मंडली का निर्माण होता है। यद्यपि यह सही है कि उनमें आपस में कोई लिखित विधान लागू नहीं होता, परंतु मित्रों के आचरण भी कुछ आदर्श होते हैं। मित्रों से आशा की जाती है कि वे एक दूसरे से कुछ छुपाएंगे नहीं, एक दूसरे के परिवार को अपने परिवार के समान मानेंगे। आवश्यकता पड़ने पर यथा संभव एक दूसरे की सहायता करेंगे। विपदा के समय यह सहायता सामान्य सीमाओं से भी परे हो सकती है। धीरे -धीरे उस मित्र मंडली के बीच में भी कोई एक निर्णायक के पद पर पहुंच जाता है। जिसके सुझावों व निर्देशों पर सभी को विश्वास है और जो मित्र मंडली का नायक बन जाता है। इन उपर्युक्त अलिखित आर्दशों का उल्लंघन करने वाला ऐसी मित्र मंडली से या तो खुद ही बाहर हो जाता है या बाहर कर दिया जाता है।

इस भांति, अनौपचारिक समिति के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं-

1 समान हित,

2 पारस्परिक परिचय एवं संपर्क,

3 कार्यप्रणाली की सहजता एवं सरलता,

4 वैयक्तिक संबंध,

5 अनौपचारिक नियमावली, तथा

6 सहमति के आधार पर स्वतः विकसित सहज नेतृत्व।

16.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि पारस्परिक सहायता तथा सहयोग के आधार पर मिलजुल कर लक्ष्यों को पूरा करने वाले समूह या संगठन को हम समिति कह सकते हैं। जब कुछ लोग मिलकर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सहयोग के आधार पर किसी संगठन का निर्माण करते हैं तब इसी संगठन को हम समिति कहते हैं

16.7 अभ्यास प्रश्न

1. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है- सत्य /असत्य

.....

.....

2. अनौपचारिक समितियां किसे कहते है ?तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए ?

.....

.....

.....

.....

अभ्यास प्रशनों के उत्तर

1. सत्य

2. उत्तर के लिए देखिए इकाई का 16.5 भाग

16.8 पारिभाषिक शब्दावली

समिति - सहायता तथा सहयोग के आधार पर मिलजुल कर लक्ष्यों को पूरा करने वाले समूह या संगठन को हम समिति कह सकते हैं।

औपचारिक समितियां- जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक औपचारिक एवं स्पष्ट कार्यपद्धतिके अनुसार संगठित होते हैं तो उसे औपचारिक समिति कहा जाता है।

16.9 संदर्भ

1. गिडेंस, एंथोनी, सोशियोलॉजी, चतुर्थ संस्करण, पोलिटी, यू.के., 2001.

2. हेरालांबोस एवं होलबोर्न, सोशियोलॉजीः थीम्स एंड पर्सपेक्टिव, पंचम संस्करण, कोलिंस, लंदन, 2000.

3. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2007

4. अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

16.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. अनौपचारिक समितियां व औपचारिक समिति के बीच अंतर स्पष्ट किजिए ?

इकाई-17-विवाह, परिवार एवं धर्म

Marriage, Family & Religion

इकाई की रूप रेखा

17.0 परिचय

17.1 उद्देश्य

17.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषाएं

17.3. विवाह का उद्देश्य

17.4 विवाह के प्रकार

17.4.1 एक विवाह

17.4.2 बहु विवाह

17.5 विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत

17.6 विवाह से संबंधित नियम

17.7 विवाह के अन्य स्वरूप

17.7.1 हिंदू विवाह

17.7.2 मुस्लिम विवाह

17.7.3 ईसाई विवाह

17.8 परिवार की अवधरणा एवं परिभाषाएं

17.9 परिवार की विशेषताएं

17.10 परिवार के प्रकार

17.11 परिवार के प्रकार्य

17.12 परिवार के महत्वपूर्ण स्वरूप

17.13 धर्म का अर्थ

17.14 धर्म की विशेषताएं

17.15 धर्म के सिद्धांत

17.15.1 मार्क्स का धर्म का सिद्धांत

17.15.2 मैक्स वेबर का सिद्धांत

17.16 सारांश

17.17 अभ्यास प्रश्न

17.18 पारिभाषिक शब्दावली

17.19 संदर्भ ग्रंथ सूची

17.0 परिचय

इस इकाई में हम विवाह, परिवार एवं धर्म का विस्तार से अध्ययन करेंगे। विवाह से तात्पर्य है जब दो विषमलिंगियों को समाज द्वारा सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाती है बच्चे पैदा करने की उसे विवाह कहा जाता है। परिवार एवं विवाह समाज की वो सामाजिक संस्थाएं हैं जो समाज को पोषण एवं आगे बढ़ाती हैं। विवाह के अनेक रूप होते हैं जैसेः एक विवाह, बहुविवाह आदि। विवाह के रूप जैसे अंतर्विवाह यानि किसी व्यक्ति का अपनी जाति, प्रवर या समूह में ही विवाह होता है उसे अंतर्विवाह कहते हैं। इसके विपरीत बहिर्विवाही से तात्पर्य किसी व्यक्ति का अपने गोत्र या गांव के बाहर विवाह होता है उसे बहिर्विवाही कहते हैं। तथा सभी धर्मो में विवाह के अपने-अपने नियम हैं एवं प्रकार हैं। विवाह से ही परिवार की उत्पत्ति होती है। यह समाज एवं एक व्यक्ति के लिए पोषण का कार्य करता है। विश्व के प्रत्येक समाज में परिवार रूपी संस्था पाई जाती है। वो किसी भी रूप में हो। परिवार की उत्पत्ति से संबंधित विभिन्न सिद्धांत हैं, जो परिवार के विकास को बताते हैं।

परिवार के विभिन्न प्रकार हैं जैसे-एकल परिवार, संयुक्त परिवार, विस्तृत परिवार इत्यादि । परिवार का महत्वपूर्ण प्रकार्य समाज में व्यक्तियों का लालन-पालन एवं समाजीकरण करना है। इस इकाई में तीसरा तथ्य धर्म है धर्म की उत्पत्ति भय से हुई है अर्थात जिससे मानव डरता है। उसकी पूजा करने लगता है । धर्म के अपने सिद्धांत हैं। मार्क्स का सिद्धांत, मैक्स वेबर का सिद्धांत ।

17.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- विवाह का अर्थ एवं परिभाषाओं को जान सकेंगे।
- विवाह का उद्देश्य एवं विवाह के प्रकारों के बारे में जान सकेंगे।
- विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांतों व नियमों को जान सकेंगे।
- हिंदू विवाह के संबंध में जान सकेंगे।
- मुस्लिम विवाह के संबंध में जान सकेंगे।
- इसाई विवाह के बारे में जान सकेंगे।
- परिवार की अवधारणा, परिभाषाएं, एवं विशेषताओं को जान सकेंगे।
- परिवारों की उत्पत्ति से संबंधित सिद्धांतों को जान सकेंगे।
- परिवार के प्रकार्यों को जान सकेंगे।
- परिवारों के प्रकारों या स्वरूपों को जान सकेंगे।
- धर्म का अर्थ एवं विशेषताओं को जान सकेंगे।
- धर्म के सिद्धांतों को जान सकेंगे।

17.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषाएं

विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि व्यक्ति की यौन संबंधी आवश्यकता ने विवाह नामक संस्था को जन्म दिया तथा विवाह ने परिवार और नातेदारी को । इस प्रकार विवाह द्वारा यौन आवश्यकता की पूर्ति को सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। विवाह एक सार्वभौमिक संस्था है जो प्रायः सभी समाजों

में पाई जाती है, अंतर सिर्फ इसके स्वरूप को लेकर है। किसी-किसी समाज में विवाह यौन संतुष्टि के लिए नहीं किया जाता बल्कि संपत्ति के बंटवारे को रोकने के लिए भी किया जाता है । उदाहरण के लिए नगा जनजाति में पुत्र द्वारा सगी मां को छोड़कर पिता की अन्य विधवा पत्नियों से विवाह।

- लूसीमेयर के अनुसार, 'विवाह स्त्री पुरूष का ऐसा योग है जिससे जन्मा बच्चा माता-पिता की वैध संतान माना जाता है।'
- बोगार्डस के अनुसार, 'विवाह स्त्री पुरूष का पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की संस्था है।'
- मजूमदार एवं मदन के अनुसार, 'विवाह संस्था में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो विषम लिंगियों की यौन क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक, आर्थिक संबंध में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विवाह समाज द्वारा स्वीकृत एक सामाजिक संस्था है। यह दो विषम लिंगी व्यक्तियों को यौन संबंध स्थापित करने के अधिकार प्रदान करती है। विवाह संबंध बहुत ही व्यापक होते हैं। इनमें एक-दूसरे के प्रति भावात्मक लगाव, देखभाल, सहायता व एक-दूसरे को निरंतर एक दूसरे को सहारा देना सम्मिलित है। विवाह के पश्चात उत्पन्न संतान को ही वैध माना जाता है।

17.3 विवाह का उद्देश्य

मुर्डाक ने विश्व के 250 समाजों के अध्ययनोपरांत विवाह के तीन उद्देश्यों का उल्लेख किया-

- यौन संतुष्टि
- आर्थिक सहयोग
- संतानों का समाजीकरण एवं लालन-पालन

17.4 विवाह के प्रकार

विभिन्न समाजों में पाए जाने वाले विवाह के स्वरूपों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

17.4.1 एक विवाह

एक विवाह में एक समय में एक पुरूष एक ही स्त्री से विवाह करता है। वर्तमान में एक विवाह को विवाह का सर्वश्रेष्ठ रूप समझा जाता है। वेस्टमार्क ने 'एक विवाह को ही विवाह का आदि स्वरूप माना है।'

एक विवाह दो प्रकार का होता हैः-

क्रमिक एक विवाह:- इस प्रकार के विवाह में एक समय में एक से ही संबंध होता है परंतु वह किसी एक को छोड़कर या मृत्यु के बाद दूसरे से विवाह कर लेता है।

एकल विवाहः- एकल परिवार में केवल एक स्त्री का विवाह एक ही पुरूष से होता है। किसी एक की मृत्यु के बाद भी वह दूसरा विवाह नहीं करते।

17.4.2 बहु विवाह

जब एकाधिक पुरूष अथवा स्त्रियां विवाह बंधन में बंधते हैं तो ऐसे विवाह को बहु-विवाह कहते हैं। बहु-विवाह के प्रमुख चार रूप पाए जाते हैं।

(क) बहुपति विवाह - एक स्त्री का कई पतियों के साथ विवाह बहुपति विवाह कहलाता है। बहुपति विवाह के भी दो रूप पाए जाते हैं।

(i) **भ्रातृक बहुपति विवाह (Fraternal Polyandry)**- इस प्रकार के विवाह में पति आपस में भाई होते हैं उदाहरणस्वरूप- खस, टोडा एवं कोटा जनजाति।

(2) **अभ्रातृक बहुपति विवाह (Non Fraternal Polyandry)**- इस प्रकार विवाह में पति आपस में भाई नहीं होते हैं जैसे- नाया।

वेस्टमार्क के अनुसार लिंग अनुपात का असंतुलित होना ही बहुपति विवाह का कारण है। समनर कनिंघम एवं डॉ. सक्सेना बहुपति विवाह के लिए गरीबी को मुख्य कारण मानते हैं।

(ख) **बहुपत्नी विवाह (Polygamy)**- ऐसा विवाह जिसमें एक पुरूष एकाधिक स्त्रियों से विवाह करता है। उदाहरणस्वरूप- नगा, गोंड, बैगा, भील, टोडा, लुशाई, नंबूदिरी ब्राह्मण में ऐसा विवाह पाया जाता है। यह भी विभिन्न प्रकार के होते हैं।

(1) **द्वि-पत्नी विवाह (Biogamy)** - इस प्रकार के विवाह में एक पुरूष एक साथ दो स्त्रियों से विवाह करता है। कई बार पहली स्त्री के संतान न होने पर दूसरा विवाह कर लिया जाता है जैसे- आरगेन व एस्किमो जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित है।

(2) **समूह विवाह (Group Marriage)** - समूह विवाह में पुरूषों का एक समूह स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है और समूह कपल में प्रत्येक पुरूष समूह की प्रत्येक स्त्री का पति होता है। विवाह की प्रारंभिक अवस्था में यह स्थिति रही होगी, ऐसी उद्विकासवादियों की धारणा है।

17.5 विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत

मैकाइवर का कहना है कि उत्पत्तियां सदैव अस्पष्ट होती हैं। इसके बारे में सिर्फ अनुमान या कल्पना ही की जा सकती है। विवाह की उत्पत्ति के संबंध में निम्न विचार प्रचलित हैं-

मार्गन का उद्विकासीय सिद्धांत -

मार्गन का मत है कि विवाह संस्था का विकास हुआ है। समाज की प्रारंभिक अवस्था में विवाह नामक संस्था का अभाव था। प्रारंभ में समाज में यौन साम्यवाद की स्थिति थी। पुरूष को किसी भी स्त्री से यौन संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता थी। धीरे-धीरे मानव समाज के विकास के साथ ही विवाह संस्था का क्रमिक विकास हुआ है जिसकी मुख्य निम्न अवस्थाएं हैं।

- समूह विवाह
- सिंडेस्मियन विवाह
- व्यवस्थित विवाह

बैकोफन ने विवाह की उत्पत्ति की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है-

- बहुपति विवाह

- बहुपत्नी विवाह
- एक विवाह

वेस्टमार्क का सिद्धांत -

वेस्टमार्क का कहना है कि मनुष्य पशु से भिन्न होता है। मनुष्य में अपनत्व एवं ईर्ष्या की भावना पाई जाती है इसलिए जिसके साथ वह एक बार यौन संबंध स्थापित कर लेता था तो उसको अपना मानता था। इसलिए एक विवाह मानव समाज में विवाह का स्थायी रूप था और है। बहुपति या बहुपत्नी विवाह तो केवल वैवाहिक आदर्श का उल्लंघन मात्र है।

17.6 विवाह से संबंधित नियम

प्रत्येक समाज में विवाह से संबंधित कुछ नियम पाए जाते हैं। जीवन साथी के चुनाव के दौरान तीन बातों का ध्यान रखा जाता है-

(1) चुनाव का क्षेत्र

(2) चुनाव का पक्ष

(3) चुनाव की कसौटियां

हिंदू विवाह से संबंधित नियमों को हम चार भागों में बांट सकते हैं-

(1) **अंतर्विवाह (Endogamy)**- अंतर्विवाह का तात्पर्य है एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव अपने ही समूह से करे। यह समूह अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग हो सकता है। डॉ. रिवर्स के अनुसार, 'अंतर्विवाह से अभिप्राय उस विनिमय से है जिसमें समूह में ही विवाह साथी चुनना अनिवार्य होता है।'

(2) **बहिर्विवाह (Exogamy)**- बहिर्विवाह से तात्पर्य है एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। डॉ. रिवर्स के शब्दों में, 'बहिर्विवाह से बोध होता है कि वह दूसरे सामाजिक समूह से अपना जीवन-साथी ढूंढे।'

हिंदूओं में प्रचलित बहिर्विवाह के स्परूप निम्न हैं-

(क) **गोत्र बहिर्विवाहः**- हिंदूओं में सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ऋषि पूर्वज से हुई है। गोत्र शब्द के तीन या चार अर्थ हैं जैसे- गौशाला, गाय का समूह, किला तथा पर्वत आदि। इस प्रकार एक घेरे में या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था। गोत्र का शाब्दिक अर्थ गोत्र अर्थात् गायों के बांधने का स्थान। जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बंधती थीं, उनमें नैतिक संबंध बन जाते थे और संभवतः वे रक्त संबंधी भी होते थे। अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते। हिंदू विवाह अधिनियम 1955 द्वारा वर्तमान में सगोत्र बहिर्विवाह से प्रतिबंध हटा दिया गया है, किंतु व्यवहारों में आज भी इसका प्रचलन है।

(ख) **सप्रवर बहिर्विवाह (Sapravar Exogamy)**- समान पूर्वज एवं समान ऋषियों के नामों का उच्चारण करने वाले व्यक्ति अपने को एक ही प्रवर संबद्ध मानते हैं। एक प्रवर में विश्वास करने वाले विवाह नहीं करते। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 द्वारा सप्रवार विवाह संबंधी निषेधों को समाप्त कर दिया गया है।

(ग) **सपिंड बहिर्विवाह (Spinal Exogamy)** इरावती कर्वे सपिंडता का अर्थ बताती हैं- जैसे सपिंड अर्थात् मृत व्यक्ति को पिंडदान देने वाले या उसके रक्तकरण से संबंधित लोग। मिताक्षरा के अनुसार वे सभी जो एक ही शरीर से पैदा हुए हैं सपिंडी हैं। वसिष्ठ ने पिता की ओर से सात व माता की ओर पांच, गौतम ने पिता की ओर से आठ व माता की ओर से छह पीढ़ियों तक के लोगों से विवाह करने पर प्रतिबंध लगाया है।

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 ने सपिंड बहिर्विवाह को मान्यता प्रदान की है। माता एवं पिता दोनों पक्षों से तीन-तीन पीढ़ियों के सपिंडियों में परस्पर विवाह पर रोक लगा दी गई है। फिर भी यदि किसी समूह की प्रथा अथवा परंपरा इसे निषेध नहीं मानती है तो ऐसा विवाह भी वैध माना जाएगा।

(घ) **ग्राम बहिर्विवाह**(Village Exogamy)- ग्राम बहिर्विवाह की प्रथा भी काफी प्राचीन है। पंजाब एवं दिल्ली में उस गांव में भी विवाह वर्जित है जिसकी सीमा व्यक्ति के गाव से मिलती है।

(ड) **टोटम बहिर्विवाह** (Totem Exogamy)- इस प्रकार का नियम जनजातियों में प्रचलित है। टोटम कोई भी एक पशु, पक्षी, पेड़, पौध अथवा निर्जीव वस्तु हो सकती है जिसे एक गोत्र के लोग

आदर की दृष्टि से देखते हैं, उससे आध्यात्मिक संबंध जोड़ते हैं। टोटम पर विश्वास करने वाले लोग परस्पर भाई-बहिन समझे जाते हैं, अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते।

(3) **अनुलोम विवाह** (Anuloma or Hypergamy)- जब एक उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल एवं गोत्र के लड़के का विवाह ऐसी लड़की से किया जाए जिसका वर्ण, जाति, उपजाति, कुल एवं गोत्र लड़के से नीचा हो तो ऐसे विवाह ही अनुलोम विवाह कहते हैं। अन्य शब्दों में, इस प्रकार के विवाह में लड़का उच्च सामाजिक समूह का होता है और लड़की निम्न सामाजिक समूह की।

(4) **प्रतिलोम विवाह** (Pratiloma or Hypogamy)- इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण, जाति तथा उपजाति या कुल की होती है जबकि लड़का निम्न वर्ण, जाति, उपजाति या कुल का होता है। कपाड़िया के शब्दों में, 'निम्न वर्ण के व्यक्ति का उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता है।' प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने वाली संतान की कोई जाति नहीं होती है। हिंदू शास्त्रों ने इस प्रकार के विवाह को निषिध ही नहीं माना है बल्कि इसका विरोध भी किया है। ध्यातव्य है कि हिंदू विवाह वैधता अधिनियम, 1949 एवं हिंदू विवाह अधिनियम 1955 के द्वारा अनुलोम व प्रतिलोम विवाह दोनों को ही वैध माना गया है।

17.7 विवाह के अन्य स्वरूपः-

(1) **द्वि-जीवन वृत्ति विवाह** - आधुनिक समाज में ऐसे विवाह का रूप देखने को मिल रहा है जिसमें पति-पत्नी दोनों नौकरी या व्यवसाय करते हैं। पश्चिमी समाजों में ऐसे विवाह अधिकांतः देखने को मिलते हैं। भारत में भी ऐसे विवाह अधिकांशतः देखने को मिलने लगे हैं। इस प्रकार के विवाह में स्त्री को घर व बाहर दोनों के कार्यों को निपटाना पड़ता जिससे वे भूमिका संघर्ष का शिकार होती हैं।

(2) **समलैंगिक विवाह** - इस प्रकार का विवाह आजकल चर्चा का विषय है तथा विवादग्रस्त है जिसमें दो समलिंगियों अर्थात् पुरूष-पुरूष या स्त्री-स्त्री के बीच विवाह होता है। आजकल ऐसे विवाह का प्रचलन बढ़ने लगा है। कुछ जनजातियों विशेषकर चाइना, इंडियनों और अर्जेंडे सूडान में पुरूष-पुरूष के बीच विवाह सामान्य बात है। चाइना इंडियनों में इन्हें द्वितीय पत्नी कहा जाता है।

(3) **मार्गेनेटिक विवाह** - जब उच्च वर्ग का पुरूष अपने से दो निम्न प्रस्थिति अथवा हीन वर्ग की स्त्री से विवाह करता है, मार्गेनिटिक विवाह कहलाता है। इससे उत्पन्न संतान वैध तो होती है,

लेकिन पत्नी व बच्चे को पुरूष की संपत्ति एवं पद से वंचित रखा जाता है। भारत में ऐसे विवाह को वर्जित किया गया है।

17.7.1 हिंदू विवाह

पश्चिमी समाजों से भिन्न हिंदू समाज में विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता है। विवाह के पश्चात् ही कोई हिंदू धार्मिक क्रियाओं को करने का अधिकारी होता है। इसलिए हिंदू विवाह का मुख्य उद्देश्य धार्मिक है। अतः एक हिंदू के जीवन में विवाह अत्यावश्यक माना गया है।

पी.एन.प्रभु का कहना है कि 'हिंदू विवाह एक संस्कार है' – के.एम. कपाड़िया भी कहते हैं कि 'हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार है। यह पवित्र समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है जब यह पवित्र मंत्रों के साथ किया जाए।'

हिंदू विवाह के उद्देश्य:-पी.एन.प्रभु तथा के.एम. कपाड़िया ने हिंदू विवाह के उद्देश्यों के तीन बिंदुओं का उल्लेख किया है- धर्म , प्रजा, पुत्र प्राप्ति तथा रति (यौन संतुष्टि) । हिंदू विवाह के स्वरूप या प्रकारः-

मनु के अनुसार विवाह के आठ स्वरूप हैं जिनमें चार ;ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, उच्चकोटि के जबकि चार (असुर, गांधर्व, राक्षस व पैशाच) विवाह निम्न कोटि के माने जाते हैं। प्रथम चार विवाहों को प्रशस्ति (श्रेष्ठ) एवं धर्मानुसार व बाद के चार विवाहों को अप्रशस्ति (निकृष्ट कोटि के) विवाह की श्रेणी में रखा गया है। हिंदू विवाह के स्वरूप निम्नलिखित हैं-

1. ब्रह्म विवाहः- सुंदर व गुणवान वर को अपने घर बुलाकर वस्त्र आदि देकर कन्यादान करना ही ब्रह्म विवाह है। इस विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है। वर्तमान समय में प्रचलित विवाह ब्रह्म विवाह का ही स्वरूप है।

2. दैव विवाहः- यह एक प्रतीकात्मक विवाह है जिसमें यज्ञ कराने वाले पुरोहित को कन्यादान दिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि ऐसे विवाह देवताओं के साथ होता है। इससे देवदासी प्रथा का जन्म हुआ जो वेश्यावृत्ति का कारण माना जाता है। अतः इसका विरोध किया जाने लगा है।

3. आर्ष विवाहः- आर्ष से तात्पर्य ऋषि से है। जब विवाह के लिए इच्छुक ऋषि द्वारा कन्या के पिता को एक जोड़ी बैल और एक गाय दी जाती है। तब विवाह संपन्न होता है यह वधू मूल्य नहीं है बल्कि पिता को इस बात का आश्वासन है कि वह जिसे अपनी पुत्री सौंप रहा है, वह उसका उचित निर्वाहन का सकेगा।

4. **प्रजापत्य विवाह**:- यह ब्रह्म विवाह के ही समान है लेकिन इसमें कन्या के पिता द्वारा वर बधू को आशीर्वाद देते हुए इस वाक्य का उच्चारण किया जाता है- 'तुम दोनों एक साथ मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो।'

5. **असुर विवाह**:- यह एक निम्न कोटि का विवाह माना जाता है जिसमें कन्या का पिता कन्या का मूल्य लेकर विवाह करता है। इसे सामान्यतः बेटी बेचवा कहकर समाज में आलोचना की जाती है।

6. **गांधर्व विवाह**:- यह प्रेम विवाह है जो आजकल नई पीढ़ी में देखने को मिलता है।

7. **राक्षस विवाह**:- युद्ध में स्त्री का हरण करके जब उससे विवाह किया जाता है तो वह राक्षस विवाह कहलाता था। चूंकि यहां इससे प्रत्यक्ष संपर्क क्षत्रियों का था इस कारण इस प्रकार का विवाह विशेष रूप से क्षत्रियों के लिए था। इसलिए इसे 'क्षत्रिय विवाह' भी कहते हैं।

8**. पैशाच विवाह**:- मनु कहते हैं कि 'सोयी हुई, उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरापन की हुई अथवा राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है' यह विवाह सभी विवाहों में निम्नकोटि का विवाह है।

विवाह के परंपरागत स्वरूपों में आज केवल तीन प्रकार के विवाहों का ही प्रचलन है। ये हैं- ब्रह्म विवाह, असुर विवाह तथा गांधर्व विवाह। ब्रह्म विवाह का प्रचलन सर्वाधिक है जबकि गांधर्व विवाह का उससे कम।

17.7.2 मुस्लिम विवाह

हिंदुओं के विपरीत मुस्लिमों में विवाह को एक संविदा (Contract)माना जाता है तथा 'कुरान' इसका मुख्य स्त्रोत है। सामान्यतः मुस्लिमों में विवाह के लिए 'निकाह' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ 'लिंगों का मेल' (Union of sexes)है। इस्लामी वैधानिक मान्यताओं के

अनुसार निकाह एक कानूनी संविदा है जिसका लक्ष्य पति-पत्नी के यौन संबंधों तथा उनकी संतान के संबंधों व उनके पारस्परिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को वैधता प्रदान करना है।

डी.एफ.मुल्ला (Principle of Muslim Law)- के अनुसार, 'निकाह को एक संविदा रूप में परिभाषित किया जाता है जिसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति और संतान को वैधता प्रदान करना है।'

मुस्लिम विवाह की संविदात्मक प्रकृति स्पष्ट होती है। मुस्लिम विवाह मुख्यतः एक समझौता है जिसका उद्देश्य यौनिक संबंधों और बच्चों के प्रजनन को कानूनी रूप देना है तथा समाज के हित में पति-पत्नी और उनसे उत्पन्न संतानों के अधिकारों व कर्त्तव्यों को निर्धारित करके सामाजिक जीवन का नियमन करना है। संविदा में सामान्यतः तीन विशेषताएं पायी जाती हैं-

(1) दोनों पक्षों की स्वतंत्र सहमति

(2) स्वीकृति के रूप में कुछ न कुछ पेशगी

(3) ये दोनो पक्ष निषेध संबंधों के अन्तर्गत न आते हों

मुस्लिम विवाह में ये तीनों बातें आ जाती है।

मुस्लिम विवाह की शर्तें-

मुस्लिम विवाह की कुछ प्रमुख शर्तें हैं-

- सही मस्तिष्क का व्यक्ति जिसकी उम्र 15 वर्ष से कम न हो। संरक्षक की देखरेख में नाबालिक विवाह भी हो सकता है।
- निकाह के लिए दोनों पक्ष स्वतंत्र हों।
- काजी के सामने निकाह का कबूलनामा इकरार होता है।
- निकाह में दो गवाहों का होना आवश्यक है। गवाहों के मामले में दो स्त्रियां एक पुरूष के बराबर मानी गई हैं।
- विवाह के प्रतिफल के रूप में मेहर की राशि निश्चित कर ली जाती है या भुगतान कर दिया जाता है।

- दोनों पक्ष निषेध संबंधों के अंतर्गत न आते हों।

17.7.3 ईसाई विवाह

हिंदुओं के समान ईसाइयों में भी विवाह को एक पवित्र बंधन माना जाता है। एक पुरूष और एक स्त्री का पवित्र मिलन ही विवाह है। ईसाइयों में विवाह के दो स्वरूप होते हैं- धार्मिक विवाह तथा सिविल विवाह। धार्मिक विवाह में चर्च व पादरी की भूमिका प्रमुख होती है लेकिन अदालत से विवाह संपंन्न होने के पश्चात भी पादरी का आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है। 1872 के भारतीय ईसाइ विवाह अधिनियम के अनुसार, विवाह के लिए लड़के, लड़कियों की न्यूनतम आयु क्रमशः 16 वर्ष और 13 वर्ष होनी चाहिए ईसाइयों में अधिकांश विवाह धार्मिक विवाह ही होते हैं, जो गिरजाघर में संपन्न किये जाते हैं।

ईसाई विवाह के मुख्य उद्देश्यः- ईसाई विवाह के दो मुख्य उद्देश्य हैं-

(1) यौन इच्छा की संतुष्टि

(2) संतानोत्पत्ति

ईसाइयों में विवाह-विच्छेद - ईसाइयों में विवाह विच्छेद को अच्छा नहीं माना जाता। फिर भी ईसाइयों में तलाक (विवाह-विच्छेद) 'भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम , 1869' (The Indian Divorce Act, 1869) द्वारा होता है। इस नियम का लाभ प्राप्त करने के लिए किसी एक पक्ष अर्थात् वर या वधू का ईसाई होना आवश्यक है। इस अधिनियम के अनुसार विवाह-विच्छेद की निम्न शर्तें हैं-

- पति ने ईसाई धर्म छोड़कर अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लिया है।
- पति ने दूसरा विवाह कर लिया है।
- पति ने बलात्कार या सौदेबाजी या पशुओं के साथ मैथुन किया हो।

17.8 परिवार की अवधरणा एवं परिभाषाएं

परिवार सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधर स्तंभ है, जिसका व्यक्ति के जीवन में प्राथमिक महत्व है । परिवार सामाजिक संगठन की एक सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक निर्माणक इकाई है। परिवार के द्वारा ही सामाजिक संबंधों का निर्माण होता है जो समाजशास्त्र की मूल विषय वस्तु है। मानव में सदैव जीवित रहने की इच्छा होती है जिसे परिवार द्वारा वह पूरा करता है मैलिनोवस्की (Sex and Repression in savage society) कहते हैं कि 'परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है।'

एल्मर अपनी पुस्तक Sociology of Family में लिखते हैं कि 'Family' शब्द का उदगम लैटिन शब्द 'Famulus' से हुआ है जो एक ऐसे समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर व दास हों।'

परिवार एक ऐसी संस्था है जिसकी परिभाषा ऐसी नहीं दी जा सकती है जो सभी देश, कालों के परिवारों के लिए सही हो। इसका मुख्य कारण यह है कि परिवार के रूप एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में बदलते रहते हैं। कहीं पर एक विवाह प्रथा मान्य है तो कहीं पर बहु विवाह। एक विवाह और बहु विवाह का प्रभाव परिवार पर पड़ता है। इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखते हुए डनलप महोदय ने कहा कि परिवार की कोई सार्वभौमिक परिभाषा नहीं दी जा सकती है।

परिवार को साधारणतया एक ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें पति, पत्नी और उनके बच्चे पाए जाते हैं तथा जिसमें इन बच्चों की देख-रेख तथा पति-पत्नी के अधिकार व कर्त्तव्यों का समावेश होता है।

(1) **मैकाइवर व पेज**- 'परिवार निश्चित यौन संबंध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।'

(2) **लूसीमेयर के अनुसार**, 'परिवार एक गार्हस्थ समूह है जिसमें माता-पिता और संतान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल में दंपति और उसकी संतान रहती है।

(3) **किंग्सले डेविस** के अनुसार, 'परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसमें सगोत्रता के संबंध होते हैं और जो इस प्रकार एक-दूसरे के संबंधी होते हैं।'

(4) **बर्गेस व लॉक** के अनुसार, 'परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिसमें वे विवाह, रक्त या दत्तक संबंध से संबंधित होकर एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं एवं एक दूसरे पर स्त्री-पुरूष, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन इत्यादि के रूप में प्रभाव डालते व अंतःक्रिया करते हुए एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं।'

ऑगबर्न और निमकॉफ - 'जब हम परिवार के बारे में सोचते हैं तो हमारे समक्ष एक ऐसी कम या अधिक स्थायी समिति का चित्र आता है। जिसमें पति एवं पत्नी अपने बच्चों के साथ या बिना बच्चों के रहते हैं। या एक ऐसे अकेले पुरूष या अकेली स्त्री की कल्पना आती है जो अपने बच्चों के साथ रहते हैं।' परिवार को एक समिति मानते हुए ऑगबर्न और निमकॉफ ने इसे भिन्न लिंग व्यक्तियों के बीच होने वाले समझौते के परिणामस्वरूप संतानोत्पत्ति की सामाजिक वैधता के रूप में स्पष्ट किया है परिवार तब भी परिवार है जब उसमें बच्चे नहीं हैं यह अकेली माता अथवा अकेले पिता के साथ बच्चों सहित भी परिवार ही है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परिवार जैविकीय संबंधों पर आधारित एक सामाजिक समूह है जिसमें माता-पिता और उनकी संतानें होती हैं तथा जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए भोजन, प्रजनन, यौन संतुष्टि समाजीकरण संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

इस प्रकार परिवार के निम्नलिखित पांच तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है-

- स्त्री-पुरूष का यौन संबंध (Mating relationship)
- यौन संबंधों को विधिपूर्वक स्वीकार किया जाता है।
- संतानों की वंश व्यवस्था (Reckoning of descent)
- सह निवास (Child & Rearing)

17.9 परिवार की विशेषताएं

- **सार्वभौमिकता** - परिवार एक सार्वभौमिक इकाई है। परिवार हर समाज, हर काल, देश व परिस्थिति में पाए जाते हैं, चाहे इनका स्वरूप कुछ भी हो। समाज का इतिहास ही परिवार

का इतिहास रहा है। क्योंकि जब से मानव का जन्म इस धरती पर हुआ है तभी से परिवार रहा है। चाहे पहले उसका स्वरूप भले ही कुछ रहा हो।

- **भावात्मक आधार** - परिवार का आधार व्यक्ति की वे भावनाएं हैं जिनकी पूर्ति के लिए उसने परिवार का निर्माण किया है, जैसे वात्सल्य, यौन, सहयोग, सहानुभूति इत्यादि।
- **सृजनात्मक प्रभाव** - व्यक्ति परिवार में ही जन्म लेता है और परिवार में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। इसलिए परिवार व्यक्ति पर रचनात्मक प्रभाव डालता है। जिस प्रकार का परिवार होगा उसी प्रकार व्यक्तियों के विचार व दृष्टिकोण निर्मित होंगे। मिट्टी के बर्तन के समान बच्चों के भविष्य का निर्माण परिवार में ही होता है।
- **सीमित आकार** - चूंकि परिवार के अंतर्गत केवल वे ही व्यक्ति आते हैं जो वास्तविक या काल्पनिक रक्त् संबंध से होते हैं, इसलिए अन्य संगठनों की अपेक्षा इसका आकार सीमित होता है। किसी भी परिवार में दो-चार सौ सदस्य नहीं होते, क्योंकि जैसे बच्चे बड़े होते गए उनका विवाह होता गया, फलस्वरूप उन्होंने अलग परिवार बसाना प्रारंभ किया, इस तरह परिवार का आकार सीमित होता जाता है। आज संतति निरोध द्वारा पारिवारिक आकार को और सीमित बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।
- **सामाजिक संरचना में केंद्रीय स्थिति** - परिवार सामाजिक संरचना का केंद्र बिंदु है। जिसके आधार पर समाज की अन्य समस्त इकाइयों व सामाजिक संबंधों का निर्माण होता है। परिवार के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज का छोटा रूप परिवार और परिवार का विस्तृत रूप समाज है।
- **सदस्यों का उत्तरदायित्व** - परिवार का आकार सीमित है लेकिन सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। जबकि अन्य संगठन कृत्रिम हैं इसलिए उनके सदस्यों की जिम्मेदारी सीमित है। प्राथमिक समूह होने के नाते परिवार में इसके सदस्यों की जिम्मेदारी और कार्य बढ़ जाते हैं। परिवार में व्यक्ति को हर कार्य अपना समझकर करना पड़ता है।
- **सामाजिक नियंत्रण** - परिवार सामाजिक नियंत्रण की एक उचित विधि है। परिवार प्राथमिक समूह है, इस कारण परिवार व्यक्ति के व्यवहारों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण रखता है परिवार सामाजिक नियंत्रण का अनौपचारिक साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति वास्तविक रूप से नियंत्रित रहते हैं।

- **परिवार की अस्थायी एवं स्थायी प्रकृति** - परिवार की प्रकृति अस्थायी एवं स्थायी दोनों है। परिवार स्त्री-पुरूष का एक संगठन है। अगर परिवार को हम एक समिति के रूप में लेते हैं तो इसकी प्रकृति अस्थायी है, क्योंकि जैसे ही परिवार का कोई सदस्य अलग हुआ या उसकी मृत्यु हो गई तो समिति नष्ट हो गई। लेकिन इसके वाबजूद परिवार स्थायी है क्योंकि परिवार एक संस्था है जो कृत्रिम नहीं बल्कि वास्तविक है, जिनका आधार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां हैं जो कभी नष्ट नहीं होतीं, इसलिए परिवार भी कभी नष्ट न होने वाली संस्था है।

17.10 परिवार के प्रकार

मानव समाज में वैसे विभिन्न प्रकार के परिवार पाए जाते हैं लेकिन सुविधा की दृष्टि से परिवार को छह आधारों सत्ता, वंश, उत्तराधिकार, निवास स्थान, विवाह तथा सदस्य संख्या या आकार पर विभाजित किया जाता है-

सत्ता या वंश उत्तराधिकार या निवास स्थान के आधार पर परिवार के दो भेद हैं-

(क) **पितृसत्तात्मक(Patriachal)** या **पितृवंशीय(Patrilineal)** या **पितृनामी(Patrimonai)** या **पितृस्थानीय(Patrilocal)** - परिवार, भारत वर्ष में सामान्यतः इस प्रकार के परिवार प्रायः सभी सभ्य समाजों में पाए जाते हैं। कुछ जनजातीय समाजों में भी, उदाहरण के लिए उड़ीसा की खरिया तथा मध्य प्रदेश की भील जनजाति में पितृसत्तात्मक परिवार पाए जाते हैं।

(ख) **मातृसत्तात्मक (Matriarchal)** या **मातृवंशीय (Matrilineal)** या **मातृनामी (Matrimonial)** या **मातृस्थानीय (Matrilocal)**- परिवार, अधिकतर इस प्रकार के परिवार ब्रह्मपुत्र के दक्षिण की खासी, गारो जनजाति, केरल के नायर तथा दक्षिण भारत की इरूला, कादूर, पुलायन इत्यादि जनजातियों में पाए जाते हैं।

सदस्यों की संख्या के आधार पर परिवार को दो भागों में विभाजित किया जाता है-

(क) **मूल या केंद्रीय परिवार** - इस प्रकार के परिवार में स्त्री -पुरूष व उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं। इसमें अन्य रिश्तेदारों का अभाव होता है, इसलिए इनका आकार छोटा होता है। इन्हें व्यक्तिगत परिवार कहते हैं।

(ख) **संयुक्त परिवार** - भारत में परिवार से तात्पर्य संयुक्त परिवार से है। संयुक्त परिवार से तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ी के लोग एक साथ एक छत के अंदर रहते हैं तथा उनकी सामान्य संपत्ति, सामान्य संस्कृति एवं सामान्य निवास होता है। संयुक्त परिवार को प्रायः तीन भागों में बांटा जाता है-

(क) **मिताक्षरा संयुक्त परिवार**:- बंगाल व असम को छोड़कर संपूर्ण भारत में पाए जाते हैं। इसमें पुत्र के पिता की संपत्ति पर जन्म से ही अधिकार हो जाता है। इसके प्रणेता विज्ञानेश्वर हैं।

(ख) **दायभाग संयुक्त परिवार**:- बंगाल व असम में पाए जाते हैं। इसमें पिता की मृत्यु या उसके देने के बाद ही पुत्र का संपत्ति पर अधिकार होता है। इसके प्रणेता जीमूतवाहन हैं।

(ग) **विस्तृत परिवार**- यह संयुक्त परिवार का ही एक भेद है, जिसमें मूल परिवार के अलावा पति-पत्नी के रिश्तेदार भी सम्मिलित रहते हैं। आज की परिस्थिति कुछ भिन्न है, व्यक्ति अलग-अलग दूर स्थानों में नौकरी करते हुए भी अपने परिवार (संयुक्त परिवार) के धार्मिक क्रिया-कलापों में हिस्सा बंटाते हैं। इस प्रकार से उनका अपने परिवार के प्रति एक प्रकार का भावनात्मक लगाव बना रहता है। जिसके कारण भी हम इन्हें परिवार कहते हैं।

विवाह के आधार पर परिवार के मुख्यतः दो प्रकार हैं-

(क) **एक विवाही परिवार** - इसमें एक पुरूष का एक स्त्री से विवाह होता है आधुनिक सभ्य समाजों में एक विवाही परिवार ही मुख्यतः पाए जाते हैं। हिंदू विवाह अधिनियम , 1955 भी एक पति व एक पत्नी की अनुमति देता है।

(ख) **बहु विवाही परिवार** - इस प्रकार के परिवार में एक पुरूष कई औरतों से विवाह करता है या एक औरत कई पुरूषों से यौन संबंध रख सकती है। प्रायः इस प्रकार के परिवार आदिम समाजों में पाए जाते हैं। इसक दो स्वरूप हैं-

(1) **बहुपति विवाही परिवार** - इस प्रकार के परिवार में एक स्त्री के अनेक पति होते हैं। इसके दो भेद हैं-

(क) **भ्रातृक बहुपतिविवाही परिवार** - इसमें सभी पति आपस में भाई होते हैं। नीलगिरि की टोडा व जौनसार की खस तथा मालाबार तट की नायर जनजाति में पाया जाता है।

(ख) **अभ्रातृक बहुपति विवाही परिवार** - इसमें कोई आवश्यक नहीं कि सभी पति आपस में भाई ही हों। टोडा व नायन में इस प्रकार का परिवार देखने को मिलता है।

(2) **बहुपत्नी विवाही परिवार** - इसमें एक पुरूष की अनेक पत्नियां रहती हैं नगा, गोंड, बैगा इत्यादि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं।

लिंटन ने संबंध के आधार पर परिवार के दो भेद किए हैं-

(क) **विवाह संबंधी परिवार** - जिनमें पति पत्नी के बीच के संबंध पाए जाते हैं। इनकी प्रकृति अस्थायी होती है।

(ख) **रक्त संबंधी परिवार** - इस प्रकार के परिवारों में रक्त संबंधी व्यक्ति रहते हैं तथा विवाह व धन की अपेक्षा रक्त पर ज्यादा जोर दिया है। भारत में संयुक्त परिवार इसी श्रेणी में हैं।

डब्ल्यू.एल. वार्नर ने परिवार को दो भागों में विभाजित किया है-

(क) **जन्ममूलक परिवार** - यह वह परिवार है जिसमें व्यक्ति पैदा होता है। बच्चों के लिए उसके माता-पिता का परिवार (जन्ममूलक) परिवार कहा जाएगा।

(ख) **प्रजननमूलक परिवार** - जिस परिवार को युवक-युवतियां विवाह कर स्थापित करते हैं, उसे प्रजननमूलक परिवार कहा जाता है।

जिमरमैन ने परिवार के तीन प्रकार बताते हैं-

(क) **न्यासिता परिवार** - जब किसी परिवार के अंतर्गत व्यक्तिगत स्वार्थ की तुलना में समस्त परिवार का स्वार्थ सर्वोपरि हो जाता है तो ऐसे परिवार को न्यासिता का परिवार कहा जाता है। भारतीय संयुक्त परिवार एवं विस्तृत परिवार न्यासिता परिवार के बहुत ही उपयुक्त उदाहरण हैं।

(ख) **अतिलघु परिवार** - जब परिवार में सदस्यों का अपना स्वार्थ सर्वोपरि हो जाता है तो उसे अतिलघु परिवार कहा जाता है। इसे व्यक्तिवादी परिवार भी कहा जाता है।

(ग) **घरेलू परिवार** - यह उपरोक्त दोनों परिवार के बीच की स्थिति है। यहां व्यक्ति के स्वार्थ एवं परिवार के स्वार्थ में एक समझौता की स्थिति होती है।

बर्गेस एवं लॉक ने दो प्रकार के परिवार की चर्चा की-

(ii) संस्थागत परिवार - ऐसा परिवार जिसमें सदस्यों का व्यवहार लोकाचारों तथा जनरीतियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है तो इसे संस्थागत परिवार कहते हैं।

(ii) **साहचर्य परिवार** - दांपत्य, स्नेह एवं एकात्मकता पर आधारित परिवार को साहचर्य परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवारों की मुख्य विशेषता विवाहित युग्म का साहचर्यात्मक जीवन बिताने की मनोकामना है। विवाहित युग्म स्थायी वैवाहिक बंधनों की अपेक्षा परिवर्तनशील मैत्रीवत संबंधों में रहना अधिक पसंद करते हैं।

बोध 2.

i) वह परिवार जिसमें स्त्री-पुरूष व उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं.....

ii) ऐसा परिवार जिसमे सदस्यों का व्यवहार लोकाचारों तथा जनरीतियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है, कहलाता है .....

17.11 परिवार के प्रकार्य

जॉर्ज पीटर मुर्डाक, जिन्होंने 250 समाजों का अध्ययन किया तथा 'परिवार को एक सार्वभौमिक संस्था कहा' मुर्डाक परिवार के चार कार्यों को महत्वपूर्ण मानते हैं-

(i) आर्थिक कार्य

(ii) प्रजनन संबंधी कार्य

(iii) धार्मिक और पालन पोषण का कार्य

(iv) शैक्षिक कार्य

- ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने परिवार के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया है-

(i) स्नेह एवं प्रेम संबंधी कार्य

(ii) आर्थिक कार्य

(iii) मनोरंजन संबंधी कार्य

(iv) पालन-पोषण अथवा रक्षा संबंधी कार्य

(v) धार्मिक कार्य

(vi) शिक्षा संबंधी कार्य

- रीक परिवार के कार्यों को चार भागों में बांटते हैं-

(i) वंश वृद्धि

(ii) समाजीकरण

(iii) यौन आवश्यकताओं की पूर्ति और नियंत्रण

(iv) आर्थिक कार्य

सामान्य रूप से हम परिवार के कार्यों की विवेचना निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं-

(1) परिवार के जैविकीय प्रकार्य

(क) यौन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति

(ख) संतानोपत्ति का कार्य

(ग) प्रजाति का विकास

(2) परिवार के शारीरिक सुरक्षा के कार्य-

(क) भोजन, निवास, एवं वस्त्र की व्यवस्था

(ख) बच्चों का पालन-पोषण

(ग) सदस्यों की शारीरिक रक्षा

(3) परिवार के मनोवैज्ञानिक प्रकार्य-

(क) श्रम विभाजन

(ख) आय का प्रबंध

(ग) संपत्ति का प्रबंध

(घ) उत्तराधिकार

(4) परिवार के सामाजिक प्रकार्य-

(क) परिवार सदस्यों को एक निश्चित स्थिति प्रदान करता है

(ख) परिवार सदस्यों का समाजीकरण करता है

(ग) परिवार मानव सभ्यता को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाता है

(घ) परिवार सदस्यों पर आवश्यक नियंत्रण रखता है

(घ) परिवार सदस्यों को भविष्य के निर्णय लेने में सहायता देता है

(5) परिवार के शैक्षिक कार्य

(6) परिवार के सांस्कृतिक कार्य

(7) परिवारक के राजनीतिक कार्य

(8) परिवार के धार्मिक कार्य

(9) परिवार के मनोरंजनात्मक कार्य

17.12 परिवार के महत्वपूर्ण स्वरूप

उभयवाही परिवार - जिस परिवार में संतान का माता-पिता दोनों के संबंधियों के साथ समान रूप से संबंध रहता है, उभयवाही परिवार कहलाता है। जैसे एक व्यक्ति अपने दादा-दादी और नाना-नानी से समान रूप से संबंधित होता है।

सम्मिश्रण परिवार- दो या अधिक मूल परिवारों से निर्मित एक ऐसा परिवार जिसका निवास एक ही स्थान पर एकल रूप में होता है, सम्मिश्रण परिवार कहलाता है। इसमें विस्तृत परिवार अथवा बहुपत्निक एवं बहुपतिक परिवार सम्मिलित होते हैं। यह यौगिक परिवार से मिलता-जुलता है।

यौगिक परिवार -बहुविवाह के आधार पर बने परिवार को यौगिक परिवार कहा गया है। इसमें दो या दो से अधिक केंद्रीय (मूल) परिवार किसी एक सामान्य निवास स्थान में साथ-साथ रहते हैं। यह परिवार साझा पति या पत्नी के द्वारा जुड़ा होता है। बहुधा बहुपत्नी विवाह की प्रणाली में जोड़ने वाला यह व्यक्ति पति होता है।

दांपतिक या दांपत्यमूलक परिवार -ऐसा परिवार जिसमें रक्त संबंधों की अपेक्षा पति-पत्नी के संबंधों को अधिक महत्व एवं प्राथमिकता दी जाती है, दांपत्यमूलक परिवार के नाम से जाना जाता है। विवाह के आधार पर निर्मित इस प्रकार के परिवार की रचना पति-पत्नी तथा उनकी अविवाहित आश्रित संतानों द्वारा होती है। यदि इनके साथ अन्य संबंधी (दंपत्ति के माता-पिता या भाई-बहन आदि) भी रहते हैं तो उनकी स्थिति महत्वहीन होती है। ऐसे परिवार में पति-पत्नी एवं बच्चों के संबंध प्रकार्यात्मक रूप मे प्राथमिक होते हैं तथा अन्य व्यक्ति उनके मात्रा सहयोगी या गौण होते हैं। इसे लघु या जैविक परिवार भी कहते हैं।

द्विस्थानीय परिवार -ऐसे परिवार जिसमें विवाहोपरांत पति-पत्नी साथ-साथ नहीं रहते हैं, अपितु वे अलग-अलग उन्हीं परिवारों में रहते हैं जिनमें उनका जन्म हुआ है। लक्षद्वीप व केरल के कुछ भागों में यह परिवार देखने को मिलता है। ऐसे परिवारों में पति केवल रात बिताने के लिए अपनी पत्नी के घर जाता है किंतु दिन में जीविकोपार्जन करने के लिए पुनः अपने जन्म के परिवार में लौट आता है।

उभयस्थानिक विस्तारित परिवार - जब विवाह के पश्चात पुत्र अथवा पुत्री अपने मूल परिवार में ही रहते हैं, तब इस प्रकार के उभयस्थानिक परिवार का जन्म होता है। इस प्रकार के बंधन सूत्र पिता तथा पुत्र अथवा माँ और पुत्री के बीच होता है।

17.13 धर्म का अर्थ

मानव-समाज के इतिहास में धर्म हमेशा रहा है। धर्म संस्कृति का एक भाग होने के साथ ही मानव के सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण आयाम है। यह मानव-व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए नैतिक आधारों को ग्रहण करता है। अलौकिक सत्ता के अस्तित्व में विश्वास की एक व्यवस्था धर्म है। वे किसी अलौकिक शक्ति से डरने लगें और उसमें विश्वास करने लगे। उस शक्ति को वे अपने से अधिक शक्तिशाली मानते थे।

धर्म की परिभाषा-

मानवशास्त्री टायलर ने धर्म को परिभाषित करते हुए एक अलौकिक सत्ता में विश्वास को धर्म कहा है समाजशास्त्री इस्माइल दुर्खीम के अनुसार धर्म विश्वास की एकबद्धता है और इसमें पवित्र वस्तुओं से संबंधित क्रियाएं होती हैं।

17.14 धर्म की आधरभूत विशेषताएं-

धर्म की मुलभूत विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

- प्राकृतिक शक्ति में विश्वास।
- यह विश्वास मन की भावनात्मक दशा जैसे भय, प्रसन्नता, भक्ति आदि से संबंधित है।
- धार्मिक प्रथाओं में बहुत सारी वस्तुएं सम्मिलित हैं। जैसे-वेदी, घंटी, वस्त्र, फूल, केला पत्तियां, बलिदान, क्रॉस, अगरबत्ती आदि।
- जो जीवित वस्तुएं धर्मिक क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होती हैं वे प्रत्येक संस्कृति में भिन्न प्रकार की हो सकती हैं।
- सामान्यतः धार्मिक अनुष्ठान, अकेले में क्रियान्वित होते हैं लेकिन अवसर विशेष पर इनका सामूहिक रूप में आयोजन भी होता है।

- प्रत्येक धर्म की अपनी विशिष्ट पूजा-विधि है।
- प्रत्येक धर्म का विशेष पूजा-स्थल है।
- स्वर्ग-नरक और पवित्र-अपवित्र की अवधारणा प्रत्येक धर्म में विद्यमान है।

17.15 धर्म के सिद्धांत -

मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने धर्म की उत्पत्ति के सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं। ये सिद्धांत सामान्यतया उद्विकासीय हैं क्योंकि ये धर्म की संस्था के विकास के क्रमिक स्तर का वर्णन करते हैं। ई. वी. टायलर ने अपनी पुस्तक प्रिमिटिव कल्चर में धर्म की उत्पत्ति के विषय में स्पष्टतः अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनका धर्म का सिद्धांत आत्मवाद के सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। इनके सिद्धांत के अनुसार धर्म आत्मा की धारणा से उत्पन्न हुआ। मृत्यु के तथ्य एवं स्वप्न की प्रघटना से आदिम लोगों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मृत्यु के बाद आत्मा का देहांतरण होता है और सोने के समय ये स्वतंत्र आत्माएं शरीर-आत्मा से संपर्क स्थापित करती हैं। उनके अनुसार स्वप्न इसी अंतःक्रिया की अभिव्यक्ति हैं।

जे. जी. जर ने अपनी पुस्तक गोल्डन बो में धर्म की उत्पत्ति का सिद्धांत जादू और धर्म के बीच अंतर करते हुए प्रस्तुत किया। जर के अनुसार जादू बलपूर्वक प्रकृति पर नियंत्रण का प्रयास है। इसमें व्यक्ति यह मानकर चलता है कि प्रकृति की शक्ति की अपेक्षा मानव की शक्ति अधिक है। इसके विपरीत धर्म में उस शक्ति को मनुष्य से श्रेष्ठ माना जाता है इसलिए उसे संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है फ्रेजर के अनुसार मानव की विचारधारा क्रमश: पहले जादुई अवस्था फिर धार्मिक अवस्था और फिर वैज्ञानिक अवस्था पर विकसित हुई है।

मैक्समूलर का धर्म की उत्पत्ति का सिद्धांत प्रकृतिवाद के नाम से जाना जाता है। टायलर की ही भांति मैक्समूलर का सिद्धांत भी आदिम मानव की बौद्धिक भूल पर आधारित है। आदिम मानव को प्रारंभ में प्रकृति विस्मयकारी, डरावनी और आश्चर्यजनक प्रतीत हुई। विस्मय एवं आतंक के इस वातावरण ने प्रारंभिक समय से ही धार्मिक विचार एवं भाषा के लिए मनोवेग प्रदान किया। इसी अनंत अनिश्चितता की संवेदना से धर्म का प्रादुर्भाव हुआ।

अपनी पुस्तक दा एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ रिलिजियस लाइफ में दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति के सभी विद्यमान सिद्धांतों को निरस्त कर दिया। उन्होंने धर्म का समाजशास्त्रीय सिद्धांत प्रस्तुत किया। दुर्खीम के अनुसार प्रत्येक धर्म में साधारण और पवित्र के रूप में वस्तुओं का विभाजन होता है। पवित्र वस्तुएं वे हैं जो विशेष और श्रेष्ठ के रूप में संरक्षित एवं पृथक रखी जाती हैं। साधारण वस्तुएं निषिद्ध होती हैं और पवित्र से दूर रखी जाती हैं। किसी वस्तु की पवित्रता उसकी अंतर्निहित विशेषता नहीं होती है। यह उसे दूसरे स्रोतों से प्राप्त होती है।

दुर्खीम के अनुसार टोटमवाद धर्म का अति प्राचीन रूप था। गिडेंस के अनुसार 'टोटम' शब्द की प्रथम उत्पत्ति उत्तरी अमेरिकन भारतीय जनजातियों में हुई लेकिन इसका व्यापक प्रयोग उन पौधों या पशुओं के संदर्भ में हुआ जिनमें अलौकिक शक्ति मानी गई। टोटम में विचारों की श्रृंखला होती है। उन विचारों में यह है कि एक सामाजिक समूह के लोग एक ही पूर्वज से संबंधित हैं (गोत्र, वंश आदि)। टोटम को दर्शाने के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। समान टोटम के समूह के सदस्यों के बीच यौन-संबंध या विवाह निषिद्ध होता है। टोटम के मारने, खाने तथा समारोह में बलि दिए जाने पर पूर्णतः प्रतिबंध होता है।

दुर्खीम का मूलभूत तर्क यह है कि सभी धार्मिक विचारों जैसे-टोटम की उत्पत्ति सामाजिक समूह से हुई, देवी-देवता, पवित्र तथा अपवित्र, स्वर्ग तथा नरक एवं टोटम स्वयं समूह के सामूहिक प्रतिनिधि हैं।

टोटम का संबंध पवित्रता से माना जाता है क्योंकि यह सामूहिक जीवन का प्रतीक है। लोग टोटम का सम्मान करते हैं क्योंकि वे सामाजिक मूल्यों का सम्मान करते हैं। टोटम सामूहिक संचेतना का प्रतिनिधित्व करता है। दुर्खीम के अनुसार धर्म के सामूहिक उत्सव होते हैं। लोगों का धर्म में विश्वास सामूहिक एकात्मकता को और अधिक दृढ़ करता है।

17.15.1 कार्ल मार्क्स का सिद्धांत -

यद्यपि कार्ल मार्क्स ने धर्म के उन्मूलन की बात नहीं की (जिस प्रकार व्यक्तिगत संपत्ति की समाप्ति की बात की) पर उसने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की भांति धर्म में भी मनुष्य के विलगाव (अलगाव) की कल्पना की। मार्क्स ने कहा है कि मनुष्य जितना ही ईश्वर में विश्वास रखेगा उतना ही स्वयं से दूर होता जाएगा। उसने कहा भी कि 'धर्म जनता के लिए अफीम है। लोग स्वयं व अन्य मानवों पर किए

गए अन्याय एवं असमानता को ईश्वरेच्छा के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं और इसके परिणामस्वरूप दमन के विरूद्ध प्रतिरोध कम हो जाता है। धर्म बाद के जीवन के सुखतर होने का विश्वास दिलाता है। मार्क्स का विचार है कि धर्म असमानता एवं शोषण के विरूद्ध बगावत की संभावना कम कर देता है।

17.15.2 मैक्स वेबर का सिद्धांत -

मैक्स वेबर ने आर्थिक विकास में धर्म की उपादेयता की खोज के लिए विश्व के धर्मों का अध्ययन किया जिसमें हिंदू धर्म भी सम्मिलित है। वेबर ने अपनी पुस्तक द प्रोटेस्टैंट इथिक एंड द स्प्रिंट ऑफ कैपिटलिज्म में लिखा है कि पश्चिम में प्रोटेस्टैंट धर्म के उदय के कारण आधुनिक पूंजीवाद का विकास हुआ। वेबर के अनुसार काल्विनवाद ने उद्यमियों के विकास में सहायता की, क्योंकि प्रोटेस्टैंट धर्म की मान्यता है कि भौतिक सफलता के लिए ईमानदारी से कठोर परिश्रम ही ईश्वर की सच्ची सेवा है। इसके विपरीत हिंदू धर्म पारलौकिकता के दर्शन और भौतिक संपत्ति के त्याग पर जोर देने के कारण विकास में सहायक नहीं है। हिंदू धर्म और भारतीय आर्थिक विकास में इसके प्रभाव से संबंधित वेबर के निष्कर्ष सही नहीं हैं। देखा जाए तो देश के अधिकांश प्रारंभिक उद्यमी जैसे मारवाड़ी प्रबल आस्थावान समुदायों में से एक हैं। इस तथ्य में भी सत्यता नहीं है कि पश्चिमी जगत में केवल प्रोटेस्टैंटों ने ही विकास किया, कैथोलिकों ने नहीं।

17.16 सारांश

इस इकाई में आपने विवाह, परिवार एवं धर्म के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त की तथा विवाह एक सामाजिक संस्था है जो समाज को आगे बढ़ाने का काम करती है। विवाह के द्वारा ही परिवार का निर्माण होता है। सभी धर्मो में विवाह के विभिन्न नियम हैं। जब विवाह के द्वारा परिवार का निर्माण होता है तो परिवार एकल परिवार एवं संयुक्त परिवारों के रूप में अस्तित्व में आता है। परिवार की उत्पत्ति के भी विभिन्न सिद्धांत हैं जो यह बताते हैं कि परिवार की उत्पत्ति किस तरह हुई है तथा परिवार के समाज के लिए महत्वपूर्ण प्रकार्य किस तरह करता है। संयुक्त परिवार की विशेषताएं क्या हैं इस इकाई में तीसरे तथ्य के रूप में धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई है तथा सामाजिक संरचना को धर्म किस तरह सपोट करता है। धर्म की विशेषताओं के साथ-साथ धर्म के सिद्धांतों जैसे टायलर के धर्म के सिद्धांतों कि धर्म अलौकिक सत्ता में विश्वास है, इत्यादि की जानकारी प्राप्त हुई है।

17.17 अभ्यास प्रश्न

1. विवाह से आप क्या समझते हो?
2. विवाह की विशेषताएं एवं उद्देश्यों का वर्णन करो?
3. विवाह के प्रकार एवं विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत बताइएं?
4. विभिन्न धर्मों के विवाहों का वर्णन कीजिए?
5. परिवार की अवधारणा बताएं? तथा उसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए?
6. परिवार की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों का वर्णन कीजिए?
7. परिवारों के प्रकार एवं प्रकार्य का वर्णन कीजिए?
8. संयुक्त परिवारों का अर्थ एवं विशेषताएं बताइए?
9. धर्म से क्या तात्पर्य है इसकी विशेषताएं बताइए?
10. धर्म के विभिन्न सिद्धांतों का वर्णन कीजिए?

17.18 पारिभाषिक शब्दावली

1.	उद्वह	-	वर-वधू को घर ले जाना।
2.	एक विवाह	-	एक ही स्त्री से विवाह।
3.	बहुपति विवाह	-	एक स्त्री कई पति।
4.	बहु पत्नी विवाह	-	ऐसा विवाह जिसमें एक पुरूष एकाधिक स्त्रियां से विवाह करता है।
5.	अधिमान्य विवाह	-	जीवन साथी के चुनाव के लिए किसी एक समूह को वरीयता।

6.	देवर विवाह	-	मृतक पति के छोटे भाई से विवाह।
7.	अंतर्विवाह	-	अपने समूह से जीवन साथी का चुनाव।
8.	बहिर्विवाह	-	अपने समूह से बाहर विवाह।
9.	सार्वभौमिकता	-	सभी जगह।
10.	पितृ सत्तात्मक	-	जहां पिता की सत्ता।
11.	मातृसत्तात्मक	-	जहां माता की सत्ता।
12.	न्यासिता परिवार	-	परिवार का स्वार्थ सर्वोपरि।
13.	पवित्र वस्तुएं	-	विशेष एवं श्रेष्ठ।
14.	टोटम	-	अलौकिक शक्ति का समावेश।

17.19 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गिडेंस, एंथनी, समाजशास्त्र, कैंब्रिज, पोरिटि प्रेस 1993।
2. हेरोलंबस, एम, समाजशास्त्र थीम्स एंड प्रेसपेक्टिव, न्यू दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1989।
3. जानसन, हेरी एम., समाजशास्त्र ए सिस्टेमेटिक इनट्रोडक्शन, न्यू दिल्ली, ऐलाईड पब्लिशर्स, प्राइवेट लिमिटेड, 1983।
4. मर्डाक, जार्ज पी, सामाजिक संरचना, न्यूयार्क, मैक्मिलन, 1949।
5. पी.एच. प्रभु, हिंदू सोशल आर्गेनाइजेशन, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई।
6. पी. ओबेराय, फेमिली मैरिज एंड किनशिप, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

7. दुर्खीय, इसमाइल, एलीमेंट्री फॉमर्स ऑफ रिलिजियस लाइफ, जार्ज.एलन एंड अनविन लि. लंदन, 1930।

8. मैक्स वेबर, सोशियोलॉजी ऑफ रिलिजन, दी प्रेस बोस्टन, 1963।

इकाई-18 - सामाजिक प्रक्रिया

Social Process

इकाई की रूपरेखा

18.0 परिचय

18.1 उद्देश्य

18.2 सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ एवं परिभाषाएं

18.3 सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार

18.3.1 सामान्य सामाजिक प्रक्रिया

18.3.2 सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

18.3.3 असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

18.4 सामाजिक अंतर्क्रिया के आधारभूत तत्व

18.4.1 सामाजिक संपर्क

18.4.2 संचार

18.5 सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया के प्रकार

18.5.1 सहयोग

18.5.2 आत्मसात/सात्मीकरण

18.5.3 एकीकरण

18.6 असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

18.6.1 प्रतिस्पर्धा

18.6.2 संघर्ष

18.7 सारांश

18.8 अभ्यास प्रश्न

18.9. पारिभाषिक शब्दावली

18.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

18.0 परिचय

इस इकाई में सामाजिक प्रक्रिया का विस्तार से अध्ययन करेंगे। सामान्यतः सामाजिक प्रक्रिया के अंतर्गत सामाजिक अंतर्क्रिया आती है। समाज में हमेशा अंतर्क्रिया के द्वारा सामाजिक प्रक्रियाएं चलती रहती हैं। कुछ क्रियाएं ऐसी होती हैं जो समाज के लिए सहयोग का कार्य करती हैं। उन्हें सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है। जैसेः सहयोग, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, एकीकरण इत्यादि तथा कुछ सामाजिक क्रियाएं ऐसी होती हैं जो समाज के लिए सहयोग का कार्य नहीं करती हैं उन्हें असहयोगी सामाजिक क्रियाएं कहा जाता है। जैसेः प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, विरोध, विद्रोह इत्यादि। ये क्रियाएं समाज में हमेशा चलती रहती हैं ये कभी नहीं रूकती हैं इसलिए इन्हें प्रक्रिया कहा गया है।

18.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ एवं परिभाषाओं के बारे में जान सकेंगे।
- सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकारों के बारे में जान सकेंगे।
- सहयोगी प्रक्रियाएं क्या होती हैं। के बारे में जान सकेंगे।
- असहयोगी प्रक्रियाएं क्या होती हैं। के बारे में जान सकेंगे।

- सामाजिक प्रक्रिया के आधारभूत तत्वों के बारे में जान सकेंगे।
- सहयोगी प्रक्रिया के प्रकारों को जान सकेंगे।
- असहयोगी प्रक्रिया के प्रकारों को जान सकेंगे।

18.2 सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ एवं परिभाषाएं

समाज में व्यक्ति की आवश्यकताएं अनंत हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आता है तथा समाज के नियमों के अनुसार उनसे व्यवहार करता है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में इसे सामाजिक अंतर्क्रिया कहते हैं अंतर्क्रिया में दो व्यक्ति या समूह आपस में क्रिया करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो समाज विभिन्न प्रस्थितियों में बंटा हैं। अतः अंतर्क्रिया दो प्रस्थितियों के बीच होने वाली क्रिया होती है। अंतर्क्रिया किसी न किसी प्रकार के संबंधों को जन्म देती है। अंतर्क्रिया का आधार हमेशा मधुर संबंध ही नहीं होता बल्कि ईर्ष्या, घृणा भी होता है। उदाहरणार्थ, दो व्यक्तियों या दो देशों के बीच संघर्ष सामाजिक अंतर्क्रिया ही है। अतः क्रिया का निरंतर रूप से होना ही सामाजिक प्रक्रिया कहलाता है। अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को भी हम सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं।

जैसा कि गिलिन व गिलिन ने कहा है कि 'सामाजिक प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य अंतर्क्रिया करने के वे तरीके हैं जिन्हें हम व्यक्तियों एवं समूहों के बीच संबंधों के समय देखते हैं। अथवा जब प्रचलित जीवन-विधियों के परिवर्तन में व्यवधान पहुंचाते हैं।'

बीसंज तथा बीसंज के शब्दों में 'अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूप ही सामाजिक प्रक्रिया कहलाते हैं।'

लुंडबर्ग तथा अन्य ने कहा है कि 'प्रक्रिया का अर्थ एक अपेक्षाकृत विशिष्ट तथा पूर्वानुमानित परिणामों की ओर ले जाने वाली संबंधित घटनाओं के अनुक्रम से है।'

इस प्रकार सामाजिक प्रक्रियाएं मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का आधार हैं और यह व्यक्ति से गहरे रूप से जुड़ी हुई होती हैं।

18.3 सामाजिक प्रक्रिया के प्रकार

- सामान्य सामाजिक प्रक्रिया

- सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया
- असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

18.3.1 सामान्य सामाजिक प्रक्रिया

सामान्य सामाजिक प्रक्रिया के अंतर्गत सामाजिक अंतर्क्रिया आती है। अंतर्क्रिया के बिना कोई समूह अथवा सामाजिक जीवन संभव नहीं है। व्यवहार प्रणालियां अंतर्क्रिया से विकसित होती हैं। अंतर्क्रिया सामाजिक संबंधों की मूल आवश्यकता है। इसलिए समाज अंतर्क्रिया पर आधारित है।

इस प्रकार सामाजिक अंतर्क्रिया संपूर्ण सामाजिक संबंधों का निर्देश करती है जिसमें व्यक्तियों के बीच पारस्परिक उत्तेजना एवं अनुक्रिया होती है। सामाजिक अंतर्क्रिया, अंतरूत्तेजना एवं पारस्परिक अनुक्रिया के माध्यम से मनुष्यों द्वारा एक दूसरे पर डाला गया पारस्परिक प्रभाव है।

इस प्रकार सामाजिक अंतर्क्रिया तीन स्तरों पर चलती है।

- व्यक्ति-व्यक्ति के बीच।
- व्यक्ति-समूह के बीच।
- समूह-समूह के बीच।

यह अंतर्क्रिया सामाजिक प्रक्रिया नहीं बल्कि उसकी यह प्रारंभिक स्थिति है।

18.4 सामाजिक अंतर्क्रिया के आधारभूत तत्व

सामाजिक अंतर्क्रिया के दो आधारभूत तत्व हैं जिनकी अनुपस्थिति में सामाजिक अंतर्क्रिया का होना असंभव है। ये हैं-

- सामाजिक संपर्क तथा
- संचार

सामाजिक संपर्क शारीरिक अथवा भौतिक संपर्क से भिन्न हैं। सामाजिक संपर्क रेडियो, पत्रों, टेलीफोन एवं संचार के अन्य साधनों द्वारा ऐसे व्यक्तियों के बीच भी स्थापित किया जा सकता है जो हमसे दूर हैं।

सामाजिक संपर्क दो प्रकार का हो सकता है-

- प्रत्यक्ष संपर्क
- अप्रत्यक्ष संपर्क

प्रत्यक्ष संपर्क में अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति या समूह एक-दूसरे के शारीरिक संपर्क में रहते हैं, जैसे दो व्यक्ति अभिवादन करते समय या उसके बाद वार्तालाप करते समय, किंतु अप्रत्यक्ष संपर्क में उनका आमने-सामने रहना आवश्यक नहीं है। वे पत्रों, टेलीफोन या अन्य साधनों द्वारा भी संपर्क कर सकते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष संपर्क अंतर्क्रिया की आवश्यक शर्त नहीं है, किंतु फिर भी यह अंतर्क्रिया के सरलीकरण में अधिक सहायक है। दो व्यक्ति जो आमने-सामने बैठकर बातचीत कर रहे हैं वे शिष्टाचार, परिपाटी या अन्य आचार-विचारों का अधिक पालन करते हैं अपेक्षाकृत उनके जो पत्र व्यवहार द्वारा अंतर्क्रिया कर रहे हैं।

संचार (Communication) : अंतर्क्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व संचार है। संचार का अर्थ है अपनी बातों, अपने विचारों, भावनाओं, उद्देश्यों, विश्वासों आदि को दूसरों तक पहुंचाना। मानव समाज में प्रतीकात्मक संचार होता है। गिलिन व गिलिन संचार को दो भागों में विभाजित करते हैं-

- पूर्ण संचार
- अपूर्ण संचार

पूर्ण संचार तब होता है जब अंतक्रिया करने के अर्थ में समझ लिया जाए जिस अर्थ में कहना चाहते हैं। जब अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति परस्पर अपनी बातों को नहीं समझ पाएं तो वह अपूर्ण संचार होता है।

संचार स्थिति-सापेक्ष होती है अर्थात प्रत्येक स्थिति में संचार विभिन्न प्रकार का हो सकता है। एक ही क्रिया का भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न अर्थ हो सकता है। यदि आप एक व्यक्ति के सामने

मुस्कराते हुए देखते हैं तो आप इसके अनेक अर्थ लगा सकते हैं। मुस्कराहट अभिवादन के लिए भी हो सकती है, व्यंग्य के रूप में भी हो सकती है, अपमान के रूप में भी हो सकती है तथा किसी कौतूहल के कारण भी हो सकती है।

18.5 सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार

समाज के सदस्यों को एकता के सूत्र में बांधने में आधारभूत होती हैं इसीलिए इन्हें 'एकीकरण की प्रक्रियाए (Integrative Processes) भी कहा जाता है। इन प्रक्रियाओं में सहयोग, समायोजन, सात्मीकरण और एकीकरण विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

18.5.1 सहयोग

यह मानव समाज की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। बिना सहयोग के समाज एक क्षण भी नहीं चल सकता। सहयोग समाज के सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। यह सहयोग ही है जो व्यक्तियों को एक साथ मिलकर काम करने और समाज को संगठित करने को निश्चित करता है । आज तक तो सहयोग न केवल स्थानीय स्तर पर बल्कि राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर देखने को मिलता है। सहयोग को पारस्परिक सहायता, एकता और परिश्रम की भावना उत्पन्न करती है।

सहयोग की आधारभूत विशेषताएं हैं।

- दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों का होना।
- एक सामान्य उद्देश्य का होना।
- हम की भावना का पाया जाना।
- सहयोग करने वालों का एक दूसरे के प्रति जागरूक होना (चेतन प्रक्रिया)।
- पारस्परिक सहायता एवं साथ-साथ मिलकर काम करने की भावना का पाया जाना।
- लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरंतर और संगठित प्रयत्न करना।

सहयोग के स्वरूप (Forms of Co-operation)

मैकाइवर व पेज सहयोग के दो स्वरूप बताते हैं।

- **प्रत्यक्ष सहयोग (Direct Co-operation) :** यह तब होता है जब अनेक व्यक्ति अथवा समूह आमने-सामने (Face to face) के संबंधों द्वारा संगठित होकर कोई कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए, खेल के मैदान में एक टीम के खिलाड़ियों द्वारा एक-दूसरे को दिया जाने वाला सहयोग, चुनाव में किसी प्रत्याशी को विजयी बनाने के लिए कुछ लोगों द्वारा मिलकर प्रचार करना प्रत्यक्ष सहयोग है। प्रत्यक्ष सहयोग के लिए संबंधित व्यक्तियों में समान उद्देश्य और समान कार्य की स्थिति का होना बहुत आवश्यक है।
- **अप्रत्यक्ष सहयोग (Indirect Co-operation) :** सहयोग का रूप अप्रत्यक्ष तब होता है जब सहयोग करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य तो समान होता है लेकिन इस उद्देश्य को वे असमान कार्यों द्वारा पूरा करते हैं। श्रम-विभाजन अप्रत्यक्ष सहयोग का सर्वोत्तम उदाहरण है। वर्तमान जटिल समाज में द्वितीयक संबंधों की अधिकता और विशेषीकरण की प्रधानता के कारण अप्रत्यक्ष सहयोग का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

महत्त्व अथवा प्रकार्य

- सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के लिए।
- सहयोग सामूहिकता का आधार है।
- सामाजिक एकता सहयोग पर ही निर्भर है।

18.5.2 आत्मसात/सात्मीकरण

इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिकन प्रजातीय संबंध अनुसंधान के संदर्भ में राबर्ट पार्क द्वारा किया गया था। चूंकि अमेरिका में विभिन्न संस्कृति के लोग आकर बस गए हैं। वहां के समाजशास्त्रियों द्वारा यह जानने का प्रयास किया गया कि विभिन्न नृजाति समूह के लोग किस प्रकार अमेरिकी समाज एवं संस्कृति को स्वीकार कर रहे हैं। अपने अध्ययनों के आधार पर राबर्ट पार्क ने बताया कि आत्मसातीकरण की प्रक्रिया चार चरणों से गुजरती है, जिसे उन्होंने 'प्रजातीय संबंधों का चक्र' Race Relations Cycleकहा है-

संपर्क (Contact), प्रतियोगिता (Competition), समायोजन (Accomodation) एवं आत्मसात (Assimilation)

एक लंबे समय तक आत्मसात का प्रयोग एक तरफी प्रक्रिया के लिए किया जाता रहा है। समाजशास्त्रियों के चिंतन में यही प्रमुख रहा कि किस प्रकार कोई बाहरी पहले सांस्कृतिक समूह नए परिवेश में अपने आपको समायोजित करता है। लेकिन वर्तमान समाजशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग दो तरफी प्रक्रिया के लिए होता है। समाजशास्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण यह है कि दो भिन्न किस्म के सांस्कृतिक समूह किस प्रकार नई परिस्थिति में अपने आपको समायोजित करते हैं। यही कारण है कि आत्मसात का प्रयोग संस्कृतिग्रहण, Acculturation के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया जा रहा है।

आत्मसात सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया है। संघर्ष से एकीकरण की ओर बढ़ने का प्रथम-चरण व्यवस्थापन है और आत्मसात अंतिम चरण। लंबे समय तक व्यवस्थापन करने पर आत्मसात का मार्ग तैयार होता है।

इस प्रकार आत्मसात संस्कृतिकरण की प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न संस्कृतियां एक संस्कृति में संयुक्त हो जाती हैं। एक व्यक्ति या समूह द्वारा अन्य व्यक्ति या समूह में अपने अस्तित्व को विलीन कर देना ही आत्मसात कहलाता है। इसमें एक संस्कृति खोती है तो दूसरी लाभ प्राप्त करती है। हिंदू समाज में पत्नी द्वारा अपना अस्तित्व पूर्णतः पति में समाहित कर देना भी आत्मसात का उदाहरण है।

आत्मसात्मीकरण की विशेषताएं-

- आत्मसात एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया है।
- आत्मसात एक प्रक्रिया एवं अवस्था दोनों ही है।
- आत्मसात एक मंद गति से चलने वाली प्रक्रिया है।
- यह खुले या मुक्त समाजों में अधिक पाई जाती है।
- आत्मसात एक वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है।
- आत्मसात की प्रक्रिया एकीकरण को बढ़ावा देती है।
- आत्मसात एक संगठनकारी प्रक्रिया है।

आत्मसात में सहायक कारक या दशाएं

निम्नांकित कारक आत्मसात की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देते हैं।

- सहिष्णुता।
- समीपता एवं सामाजिक संपर्क।
- समान आर्थिक अवसर।
- सांस्कृतिक समानता।
- मिश्रण।
- समान समस्याएं।
- उन्नत संचार।
- समान भाषा।
- परिवर्तन के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण।
- विदेशी संस्कृति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रूख।
- प्राथमिक संबंधों की बहुलता।
- नेतृत्व करने वाले समूह का विस्तृत एवं उदार दृष्टिकोण।

18.5.3 एकीकरण

आत्मसात में जहां दो असमान समूह एक समान हो जाते हैं, उनमें भिन्नता समाप्त हो जाती है वहीं एकीकरण में भिन्न-भिन्न समूह अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखते हुए सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मिलकर कार्य करते हैं। यहां एकीकरण का तात्पर्य सामान्यतः उन बंधनों से है जो एक समाज के सदस्यों को एक सूत्र में पिरोते हैं अर्थात् जो उन्हें एक-दूसरे से सम्बद्ध होने की दिशा में आगे बढ़ाते हैं।

भारतीय समाज में सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया सर्वोत्तम रूप में विद्यमान हैं जिसमें हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी अपनी-अपनी भिन्नताओं के बावजूद ये महसूस करते हैं कि वे सब एक राष्ट्र के घटक हैं, उनसे मिलकर राष्ट्र निर्मित हुआ है।

प्रत्येक समाज में एकीकरण की प्रक्रिया पाई जाती है, अंतर सिर्फ मात्रा को लेकर है। किसी समाज में अधिक तो किसी में कम । ऑगबर्न एवं निमकॉफ तीन कारकों का उल्लेख करते हैं जिस पर एकीकरण की मात्रा निर्भर होती है-

- समूह का आकार
- समरूपता तथा
- भौतिक गतिशीलता

ध्यातव्य हो कि पूर्ण एकीकरण किसी भी समाज में असंभव है।

18.6 असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

व्यक्तित्व के निर्माण और सामाजिक संगठन में सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं का योगदान यद्यपि प्रत्यक्ष और रचनात्मक होता है लेकिन सामाजिक जीवन की पूर्णता के लिए समाज में कुछ असहयोगी प्रक्रियाओं का होना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। असहयोगी प्रक्रियाएं सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक हैं और इन्हीं की सहायता से व्यक्ति सहयोग के वास्तविक मूल्य को समझ पाते हैं। प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा प्रतिकूलता इस प्रकार की महत्वपूर्ण असहयोगी सामाजिक प्रक्रियाएं हैं।

18.6.1 प्रतिस्पर्धा

नगरीकरण, उद्योगीकरण तथा श्रम विभाजन के फलस्वरूप प्रतिस्पर्धा का विकास हुआ है। आधुनिक समाजों में यह प्रक्रिया अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है। क्योंकि वस्तुएं सीमित होती जा रही हैं तथा उसके प्राप्त करने वाले दिनों दिन बढ़ते जा रहे हैं। अतः उनमें एक प्रकार की होड़ लगी हुई है जिसे प्रतिस्पर्धा के नाम से जानते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रतिस्पर्धा तभी होती है जब वस्तु सीमित मात्रा में होती है और उसको प्राप्त करने वालों की संख्या अधिक होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दो या दो से अधिक व्यक्तियों में सामान्य परंतु सीमित मात्रा वाले उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्न को प्रतिस्पर्धा कहते हैं।

प्रतिस्पर्धा का अर्थ

1.बोगार्डस, ई. एस.: प्रतिस्पर्धा किसी वस्तु को प्राप्त करने की प्रतियोगिता को कहते हैं जो कि इतनी मात्रा में कहीं नहीं पाई जाती जिससे मांग की पूर्ति हो सके।

2. फिशर, जे. एच.: प्रतिस्पर्धा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें दो या दो अधिक व्यक्ति अथवा समूह समान उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

3. ग्रीन, ए. डब्ल्यू: प्रतिस्पर्धा में दो या अधिक पार्टियां समान उद्देश्य के लिए प्रयत्य करती हैं जिसमें कोई भी एक-दूसरे के साथ सम्मिलन के लिए तैयार नहीं होता है अथवा सम्मिलन की कोई आशा नहीं रखता है।

प्रतिस्पर्धा शब्द अंग्रेजी भाषा Competition का हिंदी रूपांतर है। यदि हम इसका विश्लेषण करें तो इनकी विशेषताएं तथा इसका प्रत्यय स्पष्ट दिखता है।

Competition :

C=Common objective
M=Meaningful behaviour
E=Expectation of getting himself
I = Interaction less
I=Internal conflict
N=No knowledge of others (Some times)
O=Organized efforts
P=Preparation separately
T=Things in scarcity
T=Tendency of hate (internal)
O=Other feeling

इससे स्पष्ट होता है कि प्रतिस्पर्धा में यद्यपि समान उद्देश्य होता है परंतु सम्मिलित प्रयत्न नहीं होते हैं यदि होते भी हैं तो उसमें स्वार्थ की भावना अधिक होती है। जो व्यवहार उस समय होता है वह अर्थपूर्ण तथा नियोजित होता है। आंतरिक घृणा तथा संघर्ष की स्थिति होती है। 'हम भावना' के स्थान पर 'परभावना' महत्वपूर्ण कार्य करती है। कभी-कभी प्रतिस्पर्धा में भाग लेने वाले सभी के विषय में न तो जानकारी होती है और न ही प्राप्त की जा सकती है।

18.6.2 संघर्ष

संघर्ष उस समय उत्पन्न होता है जब प्रतियोगियों का ध्यान अभीष्ट उद्देश्यों से हटकर व्यक्तियों तथा समूहों पर केंद्रित हो जाता है। प्रतिद्वंद्वी सदैव एक दूसरे को उचित अनुचित सभी साधनों के द्वारा

पराजित करने तथा हानि पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक एकीकरण में बाधा पहुंचती है तथा विघटन की प्रक्रिया कार्य करने लगती है।

संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा

संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया है जो सभी समाजों में पाई जाती है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति अथवा समूह किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों को रोकने का प्रयत्न करते हैं।

परिभाषा

ग्रीन, ए. डब्लू.: संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की इच्छा का जानबूझकर विरोध करने अथवा उसे शक्ति से पूर्ण कराने से संबंधित प्रयत्न है।

गिलिन एंड गिलिन: संघर्ष सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने उद्देश्य की प्राप्ति अपने विरोधी को हिंसा अथवा हिंसा के भय द्वारा प्रत्यक्ष चुनौती देकर करते हैं।

संघर्ष प्रतिकूलता के पश्चात प्रारंभ होता है। स्वार्थपरता बढ़ने से व्यक्ति दूसरे को हानि पहुंचाने लगता है। इसके विरोध में दूसरा व्यक्ति अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है और उसको हानि पहुंचाने से रोकता है। जिससे मनोवैज्ञानिक स्तर पर संघर्ष की रूपरेखा बनती है तथा अवसर आने पर प्रत्यक्ष संघर्ष होने लगता है

18.7 सारांश

इस इकाई में सामाजिक प्रक्रिया के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त की तथा यह जाना कि अंतर्क्रिया के द्वारा कैसे सामाजिक प्रक्रिया का निर्माण होता है और कुछ सामाजिक प्रक्रियाएं समाज के लिए सहयोग का कार्य करती हैं तो वह सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया कहलाती हैं और कुछ प्रक्रियाएं समाज के लिए असहयोग का कार्य करती हैं उन्हें असहयोगी प्रक्रियाएं कहते हैं और ये सभी समाज में हमेशा चलती रही हैं सहयोग के रूप में चलने वाली प्रक्रियाएं-सहयोग, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, एकीकरण हैं और असहयोग के रूप में चलने वाली प्रक्रियाओं में प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, विरोध, विद्रोह आदि हैं।

18.8. अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक प्रक्रिया से आप क्या समझते हो?
2. सामाजिक प्रक्रिया के प्रकारों को बताएं?
3. सामाजिक सहयोगी प्रक्रिया से आप क्या समझते हो?
4. असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं?
5. सामाजिक प्रक्रिया के आधारभूत तत्व क्या हैं?
6. सहयोग क्या है?
7. समायोजन से क्या तात्पर्य है?
8. एकीकरण से क्या तात्पर्य है?
9. प्रतिस्पर्धा से आप क्या समझते हो?
10. संघर्ष से क्या तात्पर्य है?

18.9 पारिभाषिक शब्दावली

अमूर्त	-	निराधार
प्रत्यक्ष संपर्क	-	एक दूसरे के शारीरिक संपर्क में
संचार	-	अपनी बात को दूसरे तक पहुंचाना
सहयोग	-	एक दूसरे के साथ मिलकर काम करना
प्रतिबंध	-	रोक
प्रत्यक्ष सहयोग	-	आमने-सामने
व्यवस्थापन	-	सहयोग का प्रथम चरण

प्रतिस्पर्धा - जब सीमित लक्ष्यों को अनेक लोग प्राप्त करना चाहें।

प्रतिकूलता - विरोध पूर्व स्थिति

18.10 संदर्भ ग्रंथ

1. हार्टन, पी.डी. और हंट, सी.एल. (1972) सोशियोलॉजी, मैकग्रोहिल कोगाकुशा लिमिटेड, टोकियो।

2. ब्लेन, ई. मर्सर और वांडरर, जे.जे., (1970) द स्टडी ऑफ सोसायटी, वर्डस वर्थ पब्लिशिंग कंपनी, बेल मोंट, केलिफोर्निया।

3. पार्क, आर.ई. और बर्गेस, ई. डब्लू., (1924) इन्ट्रोडक्शन टू द साइंस ऑफ सोशियोलॉजी, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

इकाई 19-सामाजिक सहयोगी प्रक्रियाएं : सहयोग, अनुकूलन, समायोजन एवं आत्मसात्करण

Associative Processes Co-operation,Adaption, Accomodation, Assimilation

इकाई की संरचना

19.0 प्रस्तावना

19.1 उद्देश्य

19.2 सामाजिक सहयोगी प्रक्रियाएं

19.2.1 सहयोग

19.2.2 अनुकूलन

19.2.3 समायोजन

19.2.4 आत्मसातीकरण

19.3 सारांश

19.4 पारिभाषिक शब्दावली

19.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

19.6 संदर्भ ग्रंथ

19.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

19.0 प्रस्तावना

मैकाइवर एवं पेज (1985) ने अपनी पुस्तक सोसाइटी में समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि समाज सामाजिक संबंधों के विषय में है और संबंधों के इस जाल को हम समाज कहते हैं। इस प्रकार समाज 'सामाजिक संबंधों का जाल है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा वह समूह में रहता है। वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता है, अतः वह इन संबंधों के माध्यम से दूसरों के सहयोग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति व समूह से तथा एक समूह के दूसरे समूह से अनेक प्रकार के संबंध पाए जाते हैं। इन संबंधों में पिता और पुत्र का, पति और पत्नी का, भाई और भाई का, मित्र और मित्र का, शत्रु और शत्रु का तथा इसी प्रकार के अन्य असंख्य संबंध आते हैं। इन विभिन्न प्रकार के संबंधों के अभाव में समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, लेकिन संबंधों के लिए अंतर्क्रिया का होना आवश्यक है। जहां कहीं भी व्यक्तियों का समूह पाया जाता है वहां निश्चित रूप से किसी-न-किसी प्रकार की अंतर्क्रिया या सामाजिक प्रक्रियाएं अवश्य होती हैं। समाज में व्यक्ति की आवश्यकताएं अनंत हैं वह कभी भी पूरी तरह से स्वावलंबी नहीं हो सकता है। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के बीच संबंधों का आधार अंतर्क्रिया ही है। एक व्यक्ति या समूह की दूसरे के साथ अंतक्रिया होती है और वह अंतक्रिया सहयोग,संघर्ष,अनुकूलन,सात्मीकरण, प्रतिस्पर्धा आदि के रुप में हो सकती है। अंतर्क्रिया का आधार हमेशा मधुर संबंध ही नहीं होता बल्कि ईष्या,घृणा भी होता है। उदाहरणार्थ दो व्यक्तियों या दो देशों के बीच संघर्ष सामाजिक अंतर्क्रिया ही है। सर्वप्रथम हम इस अध्याय में सामाजिक अंतर्क्रिया को समझने का प्रयास करेंगे।

सामाजिक अंतर्क्रिया - दो या दो से अधिक व्यक्तियों के एक दूसरे के संपर्क में आने पर अंतर्क्रिया शुरू हो जाती है। अंतर्क्रिया के अंतर्गत दो या दो से अधिक व्यक्तियों के द्वारा किसी भाषा या संकेत के माध्यम से भावनाओं का आदान-प्रदान होता है। भाषा, हाव-भाव, मुख-मुद्रा, प्रतीक आदि के माध्यम से विचारों या भावों का आदान-प्रदान होता है और वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इससे दोनों के व्यवहार में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता है और वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इससे दोनों के व्यवहार में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो जाता है। इसे अंतर्क्रिया कहा जाता है। एक व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया दूसरे के लिए उत्तेजना का काम करती है जिस कारण दोनों पक्षों का कम या अधिक मात्रा में एक-दूसरे को प्रभावित करना आवश्यक है।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ (1958) ने बताया है कि सामाजिक अंतर्क्रिया तीन स्तरों पर चलती है- (1) व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, (2) व्यक्ति और समूह के बीच, (3) समूह समूह के बीच/यह अंतर्क्रिया सामाजिक/प्रक्रिया नहीं है।

19.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सहयोगी सामाजिक प्रर्कियाओं, सहयोग, अनुकूलन, समायोजन एवं आत्मसातीकरण का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओंतथा समाज में उनके महत्व को समझना है।

19.2 सामाजिक प्रक्रियाएं

एक व्यक्ति या समूह की दूसरे के साथ अंतर्क्रिया होती है और वह अंतर्क्रिया सहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि किसी भी रुप में हो सकती है। अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरुपों को ही सामाजिक प्रक्रिया के नाम से पुकारा गया है । जब अंतर्क्रिया में निंरतरता पाई जाती है और साथ ही जब वह किसी निश्चित परिणाम की ओर बढ़ती है तो ऐसी अंतर्क्रिया सामाजिक प्रक्रिया के नाम से जानी जाती है। उदाहरणार्थ लड़के-लड़कियों का आपस में मिलना अंतर्क्रिया है पर बार-बार मिलने से यदि दोनों के बीच प्रेम-विवाह हो जाता है तो वह एक सामाजिक प्रक्रिया है। उसी तरह यदि कोई व्यक्ति कभी किसी का हल्के-फुल्के ढंग से विरोध करता है तो वह अंतर्क्रिया कही जाएगी, लेकिन यदि वह विरोध जाति या वर्ग संघर्ष का रुप ले लेता है तो वह सामाजिक प्रक्रिया कही जाएगी।

सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए मैकाइवर एवं पेज (1985)के अनुसार, 'एक प्रक्रिया का अर्थ परिस्थिति में पहले से ही मौजूद शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम से एक निश्चित तरीकों से होने वाले निरंतर परिवर्तन से है।'

गिलिन के अनुसार (1948) 'सामाजिक प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य अंतर्क्रिया करने के उन तरीकों से जिन्हें हम व्यक्तियों एवं समूहों के बीच संबंधों के समय देखते हैं । अथवा जब प्रचलित जीवन-विधियों के परिवर्तन में व्यवधान पहुंचाते हैं।

लेस्ली एवं उनके सहयोगी (1980) के अनुसार- 'बार-बार दुहराई गई परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक प्रक्रियाएं मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का आधार हैं और यह व्यक्ति से गहरे रुप से जुड़ी हुई होती हैं। सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक जीवन में सदैव बनी रहने वाली और साथ ही परस्पर संबंधित घटनाओं का वह क्रम है जो एक विशिष्ट परिणाम या परिवर्तन को जन्म देने के लिए उत्तरदायी है। उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट होता है कि किसी सामाजिक प्रक्रिया को प्रक्रिया कही जाने के लिए कम से कम दो बातों का होना आवश्यक है।- (1) सामाजिक संपर्क (2) संचार/बेशक अलग-अलग अवसर पर एक ही तरह की मुद्रा, भंगिमा या शाब्दिक अभिव्यक्ति की व्याख्या अलग-अलग ढंग से की जा सकती है और यह फर्क ऐसे प्रत्येक अवसर पर उस व्यक्ति की प्रवृत्ति या रुचियों पर निर्भर करता है। अपनी अंतर्प्रवृति और सामाजिक संबंधों पर उसके प्रभाव के परिपेक्ष्य में सामाजिक प्रक्रियाओं को सहचारी या सहयोगी और पृथक्कारी या असहयोगी-मुख्यत; इन दो कोटियों में बांटा जा सकता है। पहली कोटि की अंतर्क्रियाएं सामाजिक गठबंधनों को मजबूत बनाती है। जबकि दूसरी कोटि की अंतर्क्रियाएं इन्हें कमजोर करती हैं। सहयोग या सहकारिता, समझौता या समायोजन या अनुकूलन और आत्मसातीकरण या सात्मीकरण पहली कोटि के तथा प्रतिस्पर्धा और संघर्ष या द्वंद्व दूसरी कोटि के अंतर्गत आते हैं। परंतु इस अध्याय में सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाएं के विषय में ही चर्चा करेंगे। जिनमे प्रमुख रुप से सहयोग, समझौता एवं अनुकूलन जिनकी चर्चा हम आगे विस्तार पूर्वक करेंगे।

19.2.1 सहयोग

सहयोग- सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग सबसे अधिक व्यापक तथा अबाध प्रक्रिया है। यह एक समकालीन क्रिया है जिसे प्रतियोगिता का विपरीतार्थक माना जाता है। वास्तव में प्रतियोगिता की अपेक्षा संघर्ष सहयोग का विपरीतार्थक है। सहयोग का सामान्यतया अर्थ है-सामाजिक क्रिया का वह रुप जिसमें दो या दो से अधिक लोग एक ही साध्य की प्राप्ति के लिए साथ-साथ काम करते हैं जैसे- टीम के खिलाड़ी अपनी टीम में सहयोग करते हैं । सहयोग के बिना समाज और राष्ट्र की कल्पना तक नहीं की जा सकती। मनुष्य अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं के एकाकी प्रयत्नों से नहीं कर सकता। यह सहयोग ही है जो व्यक्तियों को एक साथ मिलकर काम करने और समाज को संगठित बनाने में योग देता है।

सहयोग का अर्थ एवं परिभाषा- अंग्रेजी भाषा का शब्द Co-operation दो लैटिन शब्दों Co अर्थात् इकट्ठे तथा operation अर्थात् काम करना से मिलकर बना है। इस प्रकार सहयोग सामान्य उद्देश्यों या संभागी हितों की प्राप्ति के लिए संयुक्त् क्रिया है। इसमें दो तत्व निर्मित हैं।- (1) सामान्य उद्देश्य एवं (2)संगठित प्रयत्न। सहयोग एक चेतन प्रक्रिया है जिसमें सहयोग करने वाले व्यक्ति या समूह एक-दूसरे के प्रति जागरुक रहते हैं।

ग्रीन (1956) के अनुसार 'सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्वियों द्वारा कोई कार्य करने या सामान्य रुप से इच्छित किसी लक्ष्य तक पहुचने के लिए किया जाने वाला निरन्तर एवं सामूहिक प्रयास है।'

डेविस (1948) के अनुसार 'एक सहयोगी समूह वह है जो एक ऐसे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिल-जुलकर कार्य करता है जिसको सभी चाहते है।'

मैकाइवर एवं पेज (1985) ने कहा है कि 'संघर्ष से पार उतरा हुआ सहयोग ही समाज है।'

लेस्ली एवं उनके सहयोगियों (1980) के अनुसार- 'वैयक्तिक या सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों या समूहों के द्वारा किया गया साझा प्रयास सहयोग कहा जाता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सहयोग सामाजिक अंतर्क्रिया का वह स्वरुप कहा जा सकता है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साथ-साथ कार्य करते हैं और इस चेतना से प्रभावित रहते हैं कि वास्तव में वे सब एक हैं। यही स्थिति उनमें ऐच्छिक भावना उत्पन्न करती है जो सहयोग की आधारभूत विशेषताएं है।

(1) दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों का होना।

(2) एक सामान्य उद्देश्य का होना।

(3) हम की भावना का पाया जाना।

(4) सहयोग करने वालों का एक दूसरे की प्रति जागरुक होना (चेतन प्रक्रिया)

(5) पारस्परिक सहायता एवं साथ-साथ मिलकर काम करने की भावना का पाया जाना।

(6) लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरंतर और संगठित प्रयत्न करना।

सहयोग के स्वरुप/प्रकार

सामाजिक जीवन में सहयोग के अनेक रुप हैं। मैकाइवर ने उसके दो रुपों का वर्णन किया है-

1. **प्रत्यक्ष सहयोग**- इस श्रेणी में वे क्रियाएं सम्मिलित हैं जिनमें व्यक्ति समान कार्य को मिलकर करते हैं, अर्थात् एक -सा कार्य करते हैं। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह समान उद्देश्य के लिए एक-दूसरे के साथ मिलकर समान कार्य करें, तो इसे प्रत्यक्ष सहयोग कहते हैं । इसमें व्यक्तियों के बीच आमने-सामने के संबंध पाये पाये जाते हैं। उदाहरण स्वरुप पत्थरों के ढेर को हटाना,आमचुनाव में किसी प्रत्याशी को विजयी बनाने के लिए कुछ लोगों द्वारा मिलकर प्रचार करना, प्रत्यक्ष सहयोग का उदाहरण है। इस प्रकार के सहयोग में आमने-सामने की स्थिति कार्यपूर्ति की प्रेरणा प्रदान करती है या इसमें उन्हें सामाजिक संतुष्टि मिलती है।

2. **अप्रत्यक्ष सहयोग**- इस श्रेणी में वे क्रियाएं सम्मिलित हैं जिनमें व्यक्ति समान उद्देश्य की पूर्ति हेतु असमान अर्थात् भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के सहयोग में व्यक्तियों का उद्देश्य तो समान होता है, परंतु वे इस उद्देश्य को असमान कार्यों द्वारा प्राप्त करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट कार्य होता है। उदाहरणस्वरुप किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय के विभिन्न कर्मचारियों के बीच पाया जानेवाला सहयोग अप्रत्यक्ष सहयोग का ही उदाहरण है। यहां कर्मचारी अलग-अलग कार्य करते हुए समान उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग देते हैं। श्रम विभाजन अप्रत्यक्ष सहयोग का सबसे अच्छा उदाहरण है जो दुर्खीम के द्वारा दिया गया है। वर्तमान समाज में प्रत्यक्ष सहयोग की अपेक्षा अप्रत्यक्ष सहयोग की अधिकता है ,क्योंकि विशेषीकरण वर्तमान औद्योगिक युग की विशेषता है।

ग्रीन ने सहयोग को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया है-

1. **प्राथमिक सहयोग**-प्राथमिक सहयोग का संबंध प्राथमिक समूहों द्वारा दिए जाने वाले सहयोग से है। इस प्रकार के सहयोग में व्यक्ति एवं समूह के बीच हितों की समरूपता होती है। व्यक्ति अपने उद्देश्यों को समूह के उद्देश्यों से भिन्न नहीं समझता। वह समूह के कल्याण को अपना कल्याण समझता है।

2. द्वितीयक सहयोग-इस प्रकार का सहयोग द्वितीयक समूहों यथा सरकार, उद्योग, ट्रेड-यूनियन, चर्च आदि में पाया जाता है। इस प्रकार के सहयोग में व्यक्ति अपनी स्वार्थ-पूर्ति की दृष्टि से दूसरों के

साथ सहयोग करता है। इस प्रकार के सहयोग में नि:स्वार्थ भाव नहीं होता। व्यक्ति दूसरों को उतना ही सहयोग देता है जितना उसके स्वार्थ की पूर्ति की दृष्टि से आवश्यक हो।

3. तृतीयक सहयोग- जब व्यक्ति अथवा समूह अपने हित को ध्यान में रखकर एक समय विशेष परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करना चाहते हैं तो उसे तृतीयक सहयोग कहते हैं। व्यवस्थापन/समायोजन इस प्रकार के सहयोग का ही उदाहरण है। जब समाज में विभिन्न समूह एक दूसरे से समायोजन करने के लिए सहयोग करते हैं तब ऐसे सहयोग को तृतीयक सहयोग कहा जाता है। यह सहयोग पूर्णतया अवसरवादी होता है तथा इसकी प्रकृति बहुत ढीली और अस्थिर पाई जाती है। अत: हम कह सकते है कि तृतीयक सहयोग संघर्ष से उत्पन्न सहयोग की स्थिति का नाम है।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ (1958) सहयोग के तीन स्वरूपों का उल्लेख करते हैं-

1. सामान्य सहयोग-कुछ व्यक्ति मिलकर जब सामान्य कार्य करने का प्रयत्न करते हैं तब ऐसे सहयोग को सामान्य सहयोग कहा जा सकता है। इस सहयोग में व्यक्तियों की मनोवृतियां सामान्य होती हैं।

2. मित्रवत सहयोग-जब हम सामूहिक आनंद तथा सुख-प्राप्ति के लिए एक-दूसरे को सहयोग देते हैं तो ऐसे सहयोग को मित्रवत सहयोग कहा जाता है। सहयोग के इस स्वरूप में सामूहिकता का तत्व होने के साथ ही व्यक्तिगत स्वार्थ का भी कुछ अंश आवश्यक रूप में पाया जाता है।

3. सहायता मूलक अथवा विभेदीकृत सहयोग-सहयोग के इस रूप में पारस्परिक सहायता का तत्व अवश्य पाया जाता है। जब समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति असमान कार्य करता है तो इसे विभेदीकृत सहयोग कहते हैं ।

19.2.2अनुकूलन

संघर्ष एक निरंतर यद्यपि सविराम सामाजिक प्रक्रिया है। परंतु यदि समूह संघर्षरत रहें तो जीवन चल नही सकता। अतएव सामाजिक जीवन को शांतिपूर्ण बनाने के लिए संघर्षो का वियोजन होना चाहिए। समायोजन संघर्षो का वियोजन है जिसका सामान्य अर्थ स्वयं को नए वातावरण के अनुकूल ढालना। सामाजिक वातावरण के साथ हो सकता है। भौतिक वातावरण के साथ सामंजस्य वंशानुगति द्वारा हस्तांतरित जैविक या संरचनात्मक संशोधन के माध्यम से शुरू होता है जिसे

अनुकूलन कहा जाता है। अनुकूलन एक जैविक प्रक्रिया है। जबकि समायोजन सामाजिक प्रक्रिया है। वेब लिंक्ड डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी के अनुसार 'अनुकूलन वह है जिसके माध्यम से किसी भी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था अपने वातावरण में तारतम्यता स्थापित करती है'।

टॉलकॉट पारसंस के अनुसार, यदि व्यक्ति को समाज में बने रहना है तो अनुकूलन चार प्रकार्यात्मक पूर्वाकांक्षित में से एक है जो सभी सामाजिक वयवस्था को संतुष्ट करने के लिए आवश्यक है। समाजशास्त्र वस्तुतः विभिन्न अंतर्क्रिया की भूमिकाओं की एक व्यवस्था है। अतः एक से अधिक कर्ता मानक व मूल्य के अनुसार परस्पर अंतर्क्रिया करते हैं और यह अंतर्क्रिया निरंतर होती है तो इसे सामाजिक प्रक्रियाएं कहते हैं। अनुकूलन सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया की वह अंतर्क्रिया या प्रक्रिया है जिसकी शुरूआत संघर्ष होती है। जब लंबे समय तक संघर्ष चलता रहता है तो उसे विराम देने के लिए सामंजस्य (Adujstment) किया जाता है जहां से अनुकूलन व समायोजन की प्रक्रिया शुरू होती है। व्यक्ति को सामाजिक समंजन करने से पहले शारीरिक एवं जीवशास्त्रीय समंजन करना होता है जो कि अनुकूलन (Adapatation) है क्योंकि व्यक्ति जब पर्यावरण से ही सामंजस्य नहीं कर पाता तो उसके लिए सामाजिक सामंजस्य कर पाना काफी मुश्किल हो जाता है अतः अनुकूलन को सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं में बहुत ही महत्वपूर्ण माना गया है।

पारसंस ने सामाजिक व्यवस्था को अपनी पुस्तक द सोशल सिस्टम में विस्तार से बताया है। पारसंस ने अपनी पुस्तक में इस तर्क को रखा है कि क्रियाओं की सामाजिक व्यवस्था को जीवित रखने में चार प्रमुख समस्याएं सामने आती हैं। इन समस्याओं को पारसंस प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं इसलिए कहते हैं कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर व्यवस्था का जीवन में संकट में पड़ सकता है। ये पूर्व-आवश्यकतां व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक हैं और व्यवस्था के अस्तित्व को बनाए रखने वाली हैं 1.लक्ष्य प्राप्ति, 2.अनुकूलन, 3.यथास्थिति एवं एकीकरण। जिनमें से पारसंस ने अनुकूलन को महत्वपूर्ण माना है।

व्यवस्था को जीवित रखने के लिए, अनुकूलन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। अनुकूलन का मतलब है कि सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भौतिक पर्यावरण में जो भी सुविधा उपलब्ध है उनका संग्रहण किया जाए। इस संग्रहण के बाद इन सुविधाओं को इस भांति संपूर्ण व्यवस्था पर फैला दिया जाए कि व्यवस्था अपने लक्ष्य प्राप्ति में सक्षम हो जाए। सामाजिक व्यवस्था की अनुकूलन प्रवृत्ति

व्यवस्था की जीवंतता को बताती है। यदि व्यवस्था पर्यावरण में निहित सुविधाओं का उपयोग नहीं करती तो न तो व्यवस्था अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल होगी और न यह जीवित रह सकेगी।

सामान्यतया भारतीय समाज में लिंग संबंध जटिल समस्या के रूप में सामाजिक व्यवस्था को ऊंचा नीचा करते रहे हैं। भारतीय नारी को एक ऐसी छवि के रूप में रखा गया है जो असहाय, पीडित और शोषित है। स्त्रियों की इस सामाजिक स्थिति में यदि क्रांतिकारी बदलाव नहीं आता तो भारतीय सामाजिक व्यवस्था संविधान में निहित अपने लक्ष्यों की प्राप्त नहीं कर सकती। आज जो नारी मुक्ति आंदोलन चला रही है, वह कुछ और न होकर व्यवस्था द्वारा अपनाई गई अनुकूलन की प्रक्रिया है। वास्तव में विकसित देशों की सामाजिक व्यवस्थाओं में इस प्रकार के अनुकूलन पर अंकुश लगा दिया, समझिए उस दिन व्यवस्था का पतन प्रारंभ हो जाएगा, उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। इसी कारण पारसंस सामाजिक व्यवस्था की अनुकूलन प्रक्रिया को व्यवस्था की जीवन रेखा कहते हैं।

मैकाइवर तथा पेज (1985) ने अनुकूलन के तीन प्रकारों की विवेचना की हैः 1.शारीरिक अनुकूलन, 2. जीवशास्त्री अनुकूलन, 3.सामाजिक अनुकूलन।

शारीरिक अनुकूलन से तात्पर्य है कि व्यक्ति का शरीर जो शारीरिक कमजोरी, धूप से बचाव, स्वच्छ हवा आदि महसूस करता है तो कुछ हानिकारक, परंतु मानव शरीर धीरे-धीरे ऐसा हो जाता है कि वह चीजों का समंजन करना शुरू कर देता है।

जीवशास्त्रीय अनुकूलन को हम इस अर्थ में देख सकते हैं कि प्रत्येक जीव का जीवन को जीने की पर्यावरण में कुछ शर्तें होती हैं जैसे मछली पानी में ही जीवित रहती हैं तथा शेर जंगल में। परंतु कुछ कारणों से मछली को कांच के जार में भी नदी या समुद्र का पर्यावरण उपलब्ध कराया जाता है तो शेर को चिड़ियाघर में जंगल जैसा वातावरण बनाया जाता है तो ऐसी स्थिति में मछली तथा शेर अपने-अपने पर्यावरण तथा भोजन से समंजन कर लेते हैं।

मैकाइवर तथा पेज ने सामाजिक अनुकूलन की भी चर्चा की है जिसे उन्होंने समायोजन के रूप में परिभाषित किया है अर्थात् यदि अनुकूलन सामाजिक जीवन से होता है तो उस स्थिति को समायोजन कहा जाता है जो कि सामाजिक अनुकूलन ही है।

19.2.3 समायोजन

समाज में सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं के साथ-ही-साथ असहयोगी सामाजिक प्रक्रियाएं भी चलती रहती हैं जिनमें प्रतियोगिता एवं संघर्ष प्रमुख हैं। संघर्ष एक निरंतर यद्यपि सविराम सामाजिक प्रकिया है। परंतु यदि समूह संघर्षरत रहें तो जीवन चल नहीं सकता। व्यक्ति या समूह की यह स्वाभाविक वृति रही है कि वे संघर्ष को पसंद नहीं करते हैं। अतएव, सामाजिक जीवन को शांतिपूर्ण बनाने के लिए संघर्षों का वियोजन होना चाहिए। समायोजन संघर्षों का वियोजन है। जिसका सामान्य अर्थ स्वयं को नए वातावरण के अनुकूल ढालना।

समायोजन एक सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया है। समायोजन समाज में व्यक्ति या समूह को जोड़नेवाली प्रक्रिया है। यह संघर्ष से सहयोग की ओर बढ़ने का प्रथम चरण है। जब भी दो विरोधी पक्ष प्रतिस्पर्द्धा या संघर्ष समाप्त करके सहयोग करना चाहते हैं। तो सर्वप्रथम वे एक-दूसरे से समायोजन स्थापित करते हैं। समनर समायोजन को 'विरोधपूर्ण समायोजन' (Antagonistic co-operation) के नाम से संबोधित करते हैं। समायोजन में संघर्ष के बीज अवश्य ही मौजूद होते हैं। इस प्रकार समायोजन द्वारा संघर्ष को कुछ समय के लिए टाला जा सकता है। समायोजन की कुछ परिभाषाएं निम्नलिखित हैं:-

- मैकाइवर एवं पेज (1985) के अनुसार, 'समायोजन शब्द विशेषकर उस प्रक्रिया को अभिव्यक्त करता है जिसके द्वारा मानव अपने पर्यावरण के साथ संतुलन स्थापित करता है।''
- ऑगबर्न एवं निमकॉफ (1985) के अनुसार, 'समायोजन वह शब्द है जिसका प्रयोग समाजशास्त्री आक्रामक व्यक्तियों या समूह द्वारा किए जाने वाले सामंजस्य के लिए करते हैं।'
- गिलिन एवं गिलिन (1948) के अनुसार, 'समायोजन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रतियोगी एवं संघर्षरत व्यक्ति एवं समूह प्रतिस्पर्द्धा, विरोध या संघर्ष के कारण उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक-दूसरे के साथ अपने संबंधों का सामंजस्य कर लेते हैं।'

इस प्रकार समायोजन संघर्षरत व्यक्तियों या समूहों को जोड़ने की प्रक्रिया का नाम है। जब कभी भी समाज में कोई तनाव या संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है तो उसे समाप्त करने की बात भी सोची

जाती है। जब समाज या व्यक्ति तनावपूर्ण या संघर्ष की स्थिति से बाहर निकलता है तो उस स्थिति को समायोजन कहा जाता है।

समायोजन की प्रकृति/विशेषताएं-

समायोजन की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर इसकी प्रकृति का उल्लेख निम्न प्रकार से कर सकते हैं-

1.अधिकांशतः अचेतन प्रक्रिया- समायोजन की प्रक्रिया अधिकांशतः अचेतन रूप से चलती है। कई बार जब समायोजन जान-बूझकर किया जाता है तो वह एक चेतन प्रक्रिया होती है, किंतु हम जीवन में अचेतन रूप से कई परिस्थितियों एवं व्यक्तियों से समायोजन करते रहते हैं।

2.निरंतरता-समायोजन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है।

3.सार्वभौमिक-यह प्रक्रिया धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती है। यह एक सार्वभौकिम प्रक्रिया है।

4. प्रेम व घृणा का मिश्रण - समायोजन में प्रेम एवं घृणा का मिश्रण पाया जाता है। जब समायोजन करने वाले व्यक्ति एवं समूह अपनी पुरानी बातों को याद करते हैं तो एक-दूसरे के प्रति उनमें घृणा पैदा होती है, किंतु वर्तमान में वे सहयोग चाहते है, अतः प्रेम का प्रदर्शन भी करते हैं।

5. **संघर्ष का परिणाम-** समायोजन संघर्ष का परिणाम है। कोई भी संघर्षकारी पक्ष अधिक समय तक संघर्ष नहीं कर सकता है, उसे सामंजस्य और आवश्यकतानुसार सहयोग करना ही होता है। इसलिए समायोजन को सहयोग की ओर बढ़ने का प्रथम चरण कहा गया है।

गिलिन व गिलिन के अनुसार समायोजन दो प्रकार के होते हैं -

1. समन्वित समायोजन - यदि दो समान हैसियत वाले व्यक्तियों के बीच संघर्ष या प्रतियोगिता होती है और यदि उसे समाप्त करने के लिए कोई एक स्थिति बनती है तो उसे समन्वित समायोजन कहा जाएगा।

2. **उच्च कोटि-अधीनस्थ समायोजन -** यदि दो असमान हैसियत वाले व्यक्तियों के बीच संघर्ष या प्रतियोगिता की स्थिति बनती है और ऐसी स्थिति में यदि कोई समझौता होता है तो उसे हम उच्च कोटि-अधीनस्थ समायोजन कहेंगे।

गिलिन एवं गिलिन ने समायोजन की निम्नांकित पद्धतियों का उल्लेख किया है -

1. **शक्ति या बल प्रयोग -** बल प्रयोग मानसिक एवं शारीरिक दोनों हो सकता है। इसमें हमेशा कमजोर पक्ष शक्तिशाली पक्ष के सामने झुकता है। कमजोर पक्ष अपने को नष्ट होने से बचाने की भावना से शक्तिशाली पक्ष की इच्छा एवं शर्तो के अनुसार कार्य करने को तैयार हो जाता है।

2. **समझौता -** जब दोनों पक्षों की शक्ति समान होती है और उनमें से कोई भी दूसरे को पराजित नहीं कर पाता तो वे समझौते द्वारा समायोजन कर लेते हैं। समझौते में दोनों पक्षों को एक-दूसरे की कुछ बातें माननी पड़ती हैं और कुछ झुकना पड़ता है। 'समग्र या कुछ नहीं' की सहजवृति कुछ की प्राप्ति के लिए कुछ को त्यागने को सहमत हो जाती है।

3. **मत परिवर्तन -** मत परिवर्तन की प्रक्रिया वह होती है जिसमें दोनों विरोधी पक्षों में से एक पक्ष यह मान लेता है कि वह गलत था और दूसरा पक्ष सही था। परिणामस्वरूप वह दूसरे पक्ष की बात मान लेता है और नए दृष्टिकोण को अपना लेता है। इस प्रक्रिया में विरोधी पक्ष अपने विचारों को त्याग देता है और नए विचार धारण कर लेता है।

4. **सहिष्णुता -** सहिष्णुता समायोजन का वह रूप है जिसमें मतभेद या झगड़े को हल नहीं किया जाता बल्कि प्रत्यक्ष संघर्ष को टाल दिया जाता है। इसमें दोनों पक्ष एक-दूसरे के विचारों एवं भावनाओं की कद्र करते हैं एवं एक-दूसरे के प्रति सद्भाव एवं सहानुभूति का भाव रखते हैं। दोनों पक्ष के विचार भिन्न भिन्न हो सकते हैं परंतु पारस्परिक सहिष्णुता के द्वारा दोनों एक-दूसरे के निकट आ सकते हैं।

5. **युक्तिकरण -** युक्तिकरण के माध्यम से समायोजन का तरीका यह है कि इसमें व्यक्ति अपनी गलती स्वीकार नहीं करता बल्कि अपने आचरण या व्यवहार को ठीक प्रमाणित करने के लिए व समुचित बहाने या सफाई पेश करता है। इस प्रकार, व्यक्ति अपनी योग्यता की कमी को स्वीकार नहीं करता बल्कि अपनी हार का कारण भेदभाव बता कर अपने

व्यवहार को उचित सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। केवल व्यक्ति ही नहीं, समूह भी ऐसे काल्पनिक आधारों पर अपने कामों का औचित्य प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं।

6. **अनूकुलन -** समायोजन के लिए कभी-कभी एक सामान्य कार्यक्रम तैयार करने की आवश्यकता होती है । जिसे दोनों पक्ष स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। इस सामान्य कार्यक्रम में दोनों पक्षों की बुनियादी बातों को यथासंभव समाविष्ट किया जाता है। यह एक तरह परिस्थिति के साथ समझौता है।

19.2.4 आत्मसातीकरण

इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिका प्रजातीय संबंध अनुसंधान के संदर्भ में हुआ था, चूंकि अमेरिका में विभिन्न संस्कृति के लोग आकर बस गए हैं। अपने अध्ययनों के आधार पर राबर्ट पार्क (1950) ने बताया है कि आत्मीकरण की प्रक्रिया चार चरणों से गुजरती है। जिसे उन्होंने प्रजातीय संबंधों का चक्र कहा है - संपर्क, प्रतियोगिता, समायोजन एवं सात्मीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से होता है जिसके द्वारा एक खास समूह के लोग लंबे समय तक एक अन्य समूह के लोगों के बीच रहने के बाद उनकी जीवन-शैली को इस तरह अपना लेते है कि उन दोनों के बीच कोई फर्क नहीं रह जाता है। निम्नांकित परिभाषाएं सात्मीकरण की प्रक्रिया की महत्वपूर्ण विशेषताओं को दर्शाती हैं।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ (1958) के अनुसार 'सात्मीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा कभी एक-दूसरे से भिन्न रह चुके व्यक्ति या समूह एक दूसरे जैसे हो जाते हैं और अपने हितों व रूपरंग के आधार पर एक-दूसरे से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।'

गिलिन एवं गिलिन (1948) ने सात्मीकरण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'सात्मीकरण या आत्मसात एक प्रगतिशील प्रक्रिया है जिसमें व्यक्तियों और समूहों के बीच मतभेद कम होते हैं तथा क्रिया, मनोवृति और मानसिक क्रिया में सामान्य हित के प्रति आदर के साथ समानता में वृद्धि होती है। जब व्यक्तियों एवं समूहों में आत्मसात हो जाता है तो उनके बीच पाए जाने वाले मतभेद समाप्त हो जाते हैं और उद्देश्यों और हितों में समानता आ जाती है।'

पार्क एवं बर्गेस के अनुसार,'सात्मीकरण एक-दूसरे में बैठने और मिल जाने की एक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों या समूहों की स्मृतियों, भावनाओं और रूखों को अपना लेते हैं

और उनके अनुभव तथा इतिहास में हिस्सा लेकर एक सामान्य सांस्कृतिक जीवन में शामिल हो जाते हैं।'

इस प्रकार जब दो विभिन्न संस्कृतियों का संपर्क होता है, तो प्रारंभ में उन दोनों के बीच पारस्परिक संघर्ष की भावना पाई जाती है, परंतु वे धीरे-धीरे एक दूसरे के सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात कर लेती हैं। सात्मीकरण में दो विभिन्न समूह केवल समझौता ही नहीं करते अथवा एक दूसरे के साथ मिलकर चलने को अन्यथा सहमत ही नहीं होते, अपितु वह एक-दूसरे के समान इतना अधिक हो जाते है कि पृथक समूह के रूप में उनकी पहचान कठिन हो जाती है। समाजीकरण की भांति सात्मीकरण भी सीखने की प्रक्रिया है परंतु इस प्रक्रिया का आरंभ तभी होता है जब व्यक्ति अन्य संस्कृतियों के संपर्क में आता है।

आत्मसातीकरण की विशेषताएं -

1. आत्मसातीकरण एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया है।
2. आत्मसातीकरण एक प्रक्रिया एवं अवस्था दोनेां ही है।
3. आत्मसातीकरण एक मंद गति से चलने वाली प्रक्रिया है।
4. यह खुले या मुक्त् समाजों में अधिक पाई जाती है।
5. आत्मसातीकरण एक वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है।
6. आत्मसातीकरण की प्रक्रिया एकीकरण को बढ़ावा देती है।
7. आत्मसातीकरण एक संगठनकारी प्रक्रिया है।

आत्मसातीकरण केवल एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है -

आत्मसातीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण उन विदेशियों का है जो अपनी संस्कृति को छोड़कर उस देश की संस्कृति को अपना लेते हैं जहां वे जाकर रहने लगते है। परन्तु सात्मीकरण को केवल इसी क्षेत्र तक सीमिति रखना गलत होगा। सात्मीकरण अन्य अवस्थाओं में भी होता है। उदाहरण के लिए, जब बच्चे बड़े हो जाते हैं और व्यवहार की विधि सीख लेते हैं तो उनका वयस्क समाज मे सात्मीकरण

हो जाता है। गोद लिए हुए बच्चे कभी-कभी अपने गोद लेने वाले माता-पिता के रहन-सहन के नए ढंगों को इस प्रकार पूरी तरह अपना लेते हैं कि उनमें पूर्ववर्ती घर के प्रभाव बिल्कुल ही समाप्त हो जाते हैं। धार्मिक क्षेत्र में धर्म परिवर्तन द्वारा एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म में लाए जाते हैं। चूंकि सात्मीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है, अतः यह सामान्य समूह जीवन का लक्षण है, न कि किसी विशेष प्रकार के समूहों का।

आत्मसातीकरण में सहायक कारक-

1. **सहिष्णुता** - जब विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों में धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीति क्षेत्र में सहिष्णुता होती है तो सात्मीकरण के अधिक अवसर होते हैं। सहिष्णुता के कारण उनमें संचार एवं मिलना-जुलना संभव हो पाता है।

2. **समीपता एवं सामाजिक संपर्क -** आत्मसातीकरण उसी दशा में अधिक होता है जब व्यक्ति या समूह एक-दूसरे के समीप निवास करते हों तथा उनमें निरंतर प्रत्यक्ष सामाजिक संपर्क बना हुआ हो।

3. **समान आर्थिक अवसर**- यदि दो व्यक्तियों एवं समूहों की आर्थिक स्थिति एवं उद्देश्यों में समानता हो तो उनमें आत्मसातीकरण शीघ्र होगा। इसके विपरीत जिनके आर्थिक हित टकराते हों, उनमें आत्मसातीकरण के बजाय संघर्ष की संभावना अधिक रहेगी।

4. **सांस्कृतिक समानता -** जिन संस्कृतियों में समानता के तत्व अधिक होते हैं, उनमें भी आत्मसातीकरण के अवसर मौजूद रहते हैं, अर्थात् जिन संस्कृतियों की प्रथाओं, खान-पान, वेश-भूषा, धर्म, भाषा आदि में समानता पाई जाती है उनसे संबंधित लोगों में संपर्क होने पर आत्मसातीकरण शीघ्र हो जाता है।

5. **मिश्रण -** मिश्रण से तात्पर्य यहां रक्त मिश्रण से है। जब विभिन्न प्रजातियों एवं रक्त समूहों से संबंधित व्यक्तियों में परस्पर विवाह हो जाता है तो रक्त मिश्रण हो जाता है। समान प्रजाति के लोगों में भिन्न प्रजातियों की तुलना में सात्मीकरण अधिक होता है। प्रजाति मिश्रण संस्कृतियों के मिश्रण को बढ़ावा देता है।

6. **समान समस्याएं** - जिन लोगों या समूहों की समान आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याएं होती हैं, वे उन्हें हल करने के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। उनमें समान विचार एवं भावनाएं पैदा होती हैं जो आत्मसातीकरण में सहायक होती हैं ।

7. **समान भाषा** - एक ही भाषा का प्रयोग करने वाले लोगों में भी विभिन्न भाषा बोलने वालों की तुलना में आत्मसातीकरण अधिक होता है।

समायोजन और आत्मसातीकरण में अंतर

1. आत्मसातीकरण स्थायी है, समायोजन अस्थायी - आत्मसातीकरण समायोजन का एक रूप है और अंतर्समूह भेदभावों में समंजन पैदा करने का एक अधिक अच्छा तथा स्थायी ढंग है। अपने आस-पास के समूह से भिन्न सांस्कृतिक समूह कालांतर में लगभग स्थायी आधार पर उसमें समाविष्ट हो जाता है। परंतु समायोजन में समूहों के पारस्परिक अंतर स्थायी रूप से समाप्त नहीं होते, जैसा कि हम समायोजन के विभिन्न रूपों के संबंध में पढ़ चुके हैं।

2. आत्मसातीकरण मंद प्रक्रिया है, समायोजन अचानक प्रक्रिया है - आत्मसातीकरण मंद तथा निरंतर प्रक्रिया है। जबकि समायोजन अचानक तथा कई बार क्रांतिकारी प्रक्रिया है। एक बड़े समुदाय में जब छोटा समुदाय आ मिलता है तो कालांतर में वह उसमें धुल-मिल जाता है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे होती है, कारण कि इसमें अधिक तथा सूक्ष्म परिवर्तन निहित होते हैं। दूसरी ओर समायोजन तुरंत हो जाता है तथा इसमें क्रांतिकारी परिवर्तन भी तुरंत हो सकते हैं।

3. आत्मसातीकरण अचेतन प्रक्रिया है, समायोजन विचारशील है - तीसरे, आत्मसातीकरण की प्रक्रिया किसी समूह की सोची-समझी तथा सचेत कोशिश के बिना होती है। वास्तव में आत्मसातीकरण के अंदर व्यक्ति अथवा समूह इस बात का ध्यान किए बिना कि क्या हो रहा है, दूसरी संस्कृति में ढल जाते हैं जिसका उन्हें पूर्वज्ञान नहीं होता है। दूसरी ओर समायोजन संबंधित पक्षों द्वारा किसी समझौते पर पहुंचने के लिए सोचे-समझे प्रयत्नों का परिणाम होता है। इस प्रकार यह एक सचेत प्रक्रिया है।

19.3 सारांश

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा वह समूह में रहता है। वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नही कर सकता है, अतः वह इन संबंधों के माध्यम से दूसरों के सहयोग पर निर्भर रहता है। अंतर्क्रिया एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से अपनी आवश्यकतओं की पूर्ति करता है। इस प्रकार की अंतर्क्रियाएं तथा सामसजिक प्रक्रियाएं निरंतर चलती रहती हैं, जो समाज के अस्तित्व, निरंतरता या परिवर्तन के लिए परम आावश्यक हैं। सामाजिक अंतर्क्रिया का कोई भी ऐसा स्वरूप जो न्यूनाधिक मात्रा में पुनरार्वतक, अभिज्ञेय, तथा निरंतर प्रवाहित होने वाला हो, सामाजिक प्रक्रिया कहलाती है। सामाजिक प्रक्रियाएं दो प्रकार की हाती हैं; सहयोगी तथा असहयोगी। सहयोग, अनुकूलन समायोजन एवं आत्मसातीकरण प्रमुख सहयोगी प्रक्रियाएं हैं। असहयोगी प्रक्रियाओं में प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष प्रमुख हैं।

19.4 पारिभाषिक शब्दावली

सामाजिक अतंर्किया - दो या दो से अधिक व्यक्तियों के एक दूसरे के संपर्क में आने पर किसी भाषा या संकेत के माध्यम से भावनाओं का आदान-प्रदान होना।

चेतन प्रक्रिया - वह प्रक्रिया है जिसमें सहयोग करने वाले व्यक्ति या समूह एक-दूसरे के प्रति जागरूक रहते हैं।

सहयोग - सामाजिक क्रिया का वह रूप जिसमें दो या दो से अधिक लोग एक ही साध्य की प्राप्ति के लिए साथ-साथ काम करते हैं।

प्राथमिक सहयोग - प्राथमिक सहयोग का संबंध प्राथमिक समूहों द्वारा दिए जाने वाले सहयोग से है।

सहिष्णुता - सहिष्णुता समायोजन का वह रूप है जिसमें मतभेद या झगड़े को हल नहीं किया जाता, बल्कि प्रत्यक्ष संघर्ष को टाल दिया जाता है।

19.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक सहयोगी प्रक्रियाओं से क्या अभिप्राय है?

2. सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में सहयोग के महत्व की व्याखया कीजिए।

3. समायोजन और आत्मसातीकरण में अंतर स्पष्ट कीजिए।

4. सहयोग के प्रकारों की व्याखया कीजिए।

5. अनुकूलन से क्या अभिप्राय है?

19.6 संदर्भ ग्रंथ

A.L.Kroeber, Anthropology, New Delhi, Oxford & IBHk~ publishing Co.k (1967)

· Gillin, J.l~ and Gillin, J.P.k~ An Introduction to Sociolgy, Macmillan, New york, (1948)

· Green, A.W, Sociology : An Analysis of life in a Modern Society, New york, Mc Graw- Hill, (1956)

· Leslie , G.R.et al.k Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

· Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

· Ogburn, W.Fk and Nimkffo, M.F.k Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

19.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Leslie , G.R., Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

Ogburn, W.F and Nimkffo, M.F.k~ Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

इकाई -20-असहचर्यात्मक प्रक्रियाएं: प्रतियोगिता एवं संघर्ष

Dissociative Processes:Competition & Conflict

इकाई की रूपरेखा

20.0 प्रस्तावना

20.1 उद्देश्य

20.2 सामाजिक प्रक्रिया से अभिप्राय

20.2.1 सामाजिक प्रक्रिया के आवश्यक तत्व

20.2.2 सामाजिक प्रक्रिया के प्रकार

20.3 सहयोग

20.3.1 सहयोग की विशेषताएं

20.3.2 सहयोग के स्वरूप

20.4 प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा

20.4.1 प्रतिस्पर्धा की विशेषताएं

20.4.2 प्रतिस्पर्धा के स्वरूप

20.5 संघर्ष

20.5.1 संघर्ष की विशेषताएं

20.5.2 संघर्ष के स्वरूप

20.6 सार संक्षेप

20.7 बोध प्रश्न

20.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

20.0 प्रस्तावना

सामाजिक प्रक्रिया समाजशास्त्र की बहुत महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा ही समाज में निरंतरता आती है। सामाजिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत व्यक्तियों के बीच में अंतर्क्रियाएं होती हैं। मनुष्य अपने स्वभाव, आवश्यकता तथा भूमिकाओं के कारण समाज में अनेक क्रियाएं करता है। सामाजिक क्रियाओं को करते समय वह दूसरों के संपर्क में आता है और संपर्क के माध्यम से संचार होता है। अतः अंतर्क्रियाओं के बीच में संपर्क और संचार होता है और यही अंतर्क्रिया समाज को गति देती है।

सामाजिक संबंधों, सामाजिक व्यवस्था और स्वयं समाज को भली-भांति समझने के लिए सामाजिक प्रक्रिया एवं इनके प्रमुख स्वरूपों को समझना आवश्यक है। सामाजिक प्रक्रिया या अंतर्क्रिया के अनेक प्रकार हैं। कुछ अंतर्क्रियाओं द्वारा व्यक्ति एक दूसरे के निकट आते हैं और मिलजुल कर काम करते हैं। दूसरी अंतर्क्रियाएं व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच दूरी को बढ़ाती हैं। इस इकाई में तीन प्रमुख सामाजिक प्रक्रिया - सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष का अध्ययन किया जाएगा।

20.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत सामाजिक प्रक्रिया और उसके विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन किया जाएगा। सामाजिक प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूप सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष हैं। सामाजिक प्रक्रिया और उनके विभिन्न स्वरूपों को समझना और उनका अध्ययन करना ही इस इकाई का मुख्य उदेश्य है। इस इकाई में निम्नलिखित बिंदुओं का समावेश किया गया है:-

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- सामाजिक प्रक्रिया की अवधारणा समझ सकेंगे।
- सामाजिक प्रक्रिया के मुख्य तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- सामाजिक प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूप के बारे में समझ सकेंगे।

- सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष की अवधारणा, परिभाषाएं, विशेषताएं और प्रकार समझ सकेंगे।

20.2 सामाजिक प्रक्रिया का अभिप्राय

समाज सामाजिक संबंधों की एक क्रमबद्ध प्रणाली है। प्रत्येक समाज में व्यक्ति अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आते हैं तथा समाज के नियमों के अनुसार व्यवहार करते हैं। किसी भी क्रिया का निरंतर रूप से होना ही प्रक्रिया कहलाता है।

सामाजिक प्रक्रिया अंतर्क्रिया से प्रारंभ होती है। अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है। यह अंतर्क्रिया दो या अधिक व्यक्तियों से होती है। व्यक्ति और समूह में होती है या समूह और समूह में होती है। जब अंतर्क्रिया में निरंतरता पाई जाती है और साथ ही जब वह किसी निश्चित परिणाम की ओर बढ़ती है तो ऐसी अंतर्क्रिया सामाजिक प्रक्रिया के नाम से जानी जाती है। सामाजिक जीवन के बीच लगातार लोग एक दूसरे के निकट आते हैं, आपस में सहयोग करते हैं, अपने हितों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी करते हैं।

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, 'सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अंतर्क्रिया के उन तरीकों से है, जिन्हें हम, जब व्यक्ति और समूह मिलते हैं और संबंधों की व्यवस्था स्थापित करते हैं या जब जीवन के प्रचलित तरीकों में गड़बड़ होती है, देख सकते हैं'।

बीसेंज तथा बीसेंज के अनुसार,'अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूप ही सामाजिक प्रक्रिया कहलाते हैं।'

मेक्स लर्नर के अनुसार,'सामाजिक प्रक्रिया के मूल में इस प्रकार गति, परिवर्तन, प्रवाह और समाज के सतत परिवर्तित होने का अभिप्राय होता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक जीवन में सदैव बनी रहने वाली और साथ ही परस्पर संबंधित घटनाओं का वह क्रम है जो विशिष्ट परिणाम या परिवर्तन को जन्म देने के लिए उत्तरदायी है।

20.2.1 सामाजिक प्रक्रिया के आवश्यक तत्व

सामाजिक प्रक्रिया अंतर्क्रिया से प्रारंभ होती है। अंतर्क्रिया सामाजिक प्रक्रिया की बुनियादी इकाई है।

जोनाथन टर्नर के अनुसार अंतर्क्रिया वह 'सामाजिक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों को पारस्परिक रूप से प्रभावित करती है और ऐसा करने में लोग संयुक्त क्रियाओं के प्रतिमान में नई क्रियाओं की शुरूआत करते हैं, उनमें परिवर्तन लाते हैं या इन क्रियाओं को बंद कर देते हैं। मतलब हुआ जन्म के बाद ही लोगों में अंतर्क्रिया प्रारंभ हो जाती है''

अतः अंतर्क्रिया व्यक्तियों को पारस्परिक रूप से प्रभावित करने की क्रिया को कहते हैं। अंतर्क्रिया दो या अधिक व्यक्तियों, व्यक्ति और समूह या समूह और समूह में होती है। समाज और संस्कृति दोनों ही सामाजिक अंतर्क्रिया की उपज हैं।

अंतर्क्रिया में दो तत्व महत्वपूर्ण हैं -

- उत्तेजना
- अनुक्रिया

अंतर्क्रिया के लिए दोनों ही तत्व महत्वपूर्ण हैं क्योंकि अंतर्क्रिया दो पक्षीय प्रक्रिया है। मान लीजिए, आप आपके अध्यापक से कक्षा में आने के लिए अनुमति मांगते हैं और अध्यापक आपको अंदर आने के लिए कहते हैं। यहां आपका अध्यापक से पूछना अध्यापक के लिए उत्तेजना हुआ और आपके लिए अनुक्रिया।

अंतर्क्रिया के तत्व: सामाजिक अंतर्क्रिया के लिए संपर्क तथा संचार का होना आवश्यक है। गिलिन और गिलिन ने अंतर्क्रिया के दो आवश्यक तत्व बताए हैं -

- सामाजिक संपर्क
- संचार

किसी भी समाज में जब अंतर्क्रिया होती है तो लोगों के बीच सामाजिक संपर्क होते हैं और इसके बाद में संचार होता है। सामाजिक अंतर्क्रिया की इन दशाओं का उल्लेख यहां किया गया है -

सामाजिक संपर्क: संपर्क सामाजिक अंतर्क्रिया की पूर्वापेक्षा है। सामान्य बोलचाल की भाषा में दो व्यक्तियों का पास आना संपर्क कहलाता है। आंतरिक अर्थ के अभाव में भौतिक निकटता से ही संपर्क नहीं बनता है।

किंग्सले डेविस के अनुसार संपर्क का स्वरूप तभी सामाजिक होता है, जब संबद्ध व्यक्तियों के लिए उसमें कोई अर्थ हो और उनमें पारस्परिक प्रत्युत्तर की भावना हो। दूसरे शब्दों में मानवीय संपर्क और अंतर्क्रिया स्वयं संचारात्मक हैं।

संपर्क दो प्रकार के हो सकते हैं -

- प्रत्यक्ष संपर्क/प्राथमिक संपर्क
- अप्रत्यक्ष संपर्क/ द्वैतीयक संपर्क

प्रत्यक्ष संपर्क या प्राथमिक संपर्क में अंतर्क्रिया करने वाले एक-दूसरे के शारीरिक संपर्क में रहते हैं या संपर्क में उनका आमना सामना होता है, जिसे दो व्यक्ति अभिवादन करते समय या उसके बाद वार्तालाप करते समय आदि। इस तरह के संपर्क में एक-दूसरे पर इंद्रियों का प्रभाव पड़ता है और यहां इंद्रियों का प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है।

अप्रत्यक्ष या द्वैतीयक संपर्क में अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्तियों का एक-दूसरे के आमने-सामने रहना आवश्यक नहीं है। वे पत्र, टेलीफोन या अन्य साधनों द्वारा संपर्क करते हैं। द्वैतीयक संपर्कों में इंद्रियों का प्रभाव कम हो जाता है और व्यक्ति इंद्रियों से केवल देखता और सुनता मात्र है। इसी से संपर्क का ज्ञान होता है।

सामाजिक संपर्क सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी। सकारात्मक संपर्क उसे कहते हैं जो सहयोगी अंतर्क्रिया को जन्म देता है, जैसे समझौता, सहयोग, सात्मीकरण आदि। उदाहरण के लिए, यदि आप अपने अध्यापक से समाजशास्त्र पढ़ने के लिए संपर्क करते हैं, तो यह सकारात्मक संपर्क होगा। नकारात्मक संपर्क सकारात्मक संपर्क का विपरीत है। यह संपर्क असहयोगी अंतर्क्रिया को जन्म देता है, जैसे संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि। उदाहरण के लिए यदि आप अपने विवाह के लिए किसी लड़की-लड़के को देखने जाएं और उससे विवाह करने की सहमति न दें तो वह नकारात्मक संपर्क होगा।

संचार - अंतर्क्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व संचार है। केवल संपर्क होने से ही सामाजिक क्रिया का उद्देश्य प्राप्त नहीं होता। संपर्क को सफल बनाने के लिए संचार का होना आवश्यक है। संचार में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहारों से दूसरे व्यक्ति के विचार अथवा भावना के विषय में अनुमान

लगाता है। डेविस के अनुसार संपर्क का स्वरूप प्रतीकात्मक और अर्थपूर्ण होता है। एक व्यक्ति के विचारों अथवा भावना को दूसरे व्यक्ति तक भाषा के द्वारा सबसे आसानी से पहुंचाया जा सकता है। भाषा के द्वारा किया गया संचार या तो बोल कर अथवा लिखकर होता है। लेकिन अलिखित और अवाचित संचार भी चिह्नों और प्रतीकों द्वारा संभव है। जन्म दिन के अवसर पर दिया गया फूल शुभकामना को व्यक्त करता है, आदि। संचार तब ही हो सकता है, जब वह -

- अर्थपूर्ण हो।
- अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति जागरूक हों।
- अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के उद्देश्यपूर्ण व्यवहार को समझें।

गिलिन और गिलिन ने संचार के दो प्रकार बतलाए हैं -

- पूर्ण संचार
- अपूर्ण संचार

पूर्ण संचार तब होता है जब अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति जो कुछ कहना चाहते हैं वह उसी अर्थ में समझ लिया जाए जिस अर्थ में वह कहना चाहते हैं। जब अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति परस्पर अपनी बातों को नहीं समझ पाएं तो वह अपूर्ण संचार होता है।

उदाहरण के लिए यदि आपसे आपके अध्यापक आपकी कॉपी मांगते हैं और आप समझ जाते हैं कि सर कॉपी मांग रहे हैं तो यह पूर्ण संचार होता है। इसके अतिरिक्त यदि आपकी कक्षा में एक जर्मन प्रोफेसर आकर जर्मन भाषा में भाषण देना शुरू करते हैं जो आप नहीं समझ पाते तो यह अपूर्ण संचार होगा।

20.2.2 सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार

सामाजिक प्रक्रियाओं के विभिन्न प्रकारों या स्वरूपों को दो भागों में बांटा गया है। सामाजिक प्रक्रिया सहयोगी, सामाजिक प्रक्रिया, असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया, सहयोग व्यवस्थापन, सात्मीकरण, एकीकरण, प्रतिस्पर्धा, प्रतिकूलन, संघर्ष, सहभागी या संगठनात्मक सामाजिक

प्रक्रियाएं: सामाजिक प्रक्रियाएं जो समाज में एकीकरण, संगठन और सहयोग बढ़ाने में योग देती हैं, वे सहगामी या संगठनात्मक सामाजिक प्रक्रियाएं कहलाती हैं।

20.3 सहयोग

सहगामी सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग एक अत्यंत महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है। सहयोग सामाजिक जीवन का एक मूलभूत आधार है। इसके अभाव में सामूहिक जीवन, समाज और राष्ट्र की कल्पना तक नहीं की जा सकती। मनुष्य अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं एकाकी प्रयत्नों से नहीं कर सकता। वह अन्य व्यक्तियों या समूहों पर निर्भर रहता है। वह निर्भरता ही सहयोग की शुरूआत करती है। सहयोग का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रो. ग्रीन ने लिखा है: 'सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा किसी कार्य को करने या किसी समान इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाने वाला निरंतर एवं सामूहिक प्रयत्न है।'

सदरलैंड तथा वुडवर्ड के अनुसार - 'किसी समान लक्ष्य के लिए विभिन्न व्यक्तियों या समूहों का परस्पर मिलकर कार्य करना ही सहयोग है।'

मेरिल और एल्ड्रिज के अनुसार -'सामाजिक अंतर्क्रिया के उस रूप को सहयोग कहते हैं जिसमें दो या अधिक व्यक्ति एक सामान्य ध्येय की पूर्ति के लिए साथ-साथ काम करते हैं।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सहयोग सामाजिक अंतर्क्रिया का वह स्वरूप है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति अथवा समूह किसी सामान्य रूप से इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संगठित रूप से मिलकर प्रयत्न करते हैं।

मानवीय सृजन के मूल में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण और सहयोग की भावना सन्निहित है। परिवार के सदस्य के पारस्परिक सहयोग के द्वारा ही बच्चों का पालन पोषण होता है। परिवार के सदस्यों तथा निकट संबंधियों के पारस्परिक सहयोग पर नातेदारी संबंध टिके हैं। कृषि और औद्योगिक उत्पादन प्रणाली में सहयोग की भूमिका महत्वपूर्ण है। मनुष्य की मनोवैज्ञानिक, जैवकीय, सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक आवश्यकताएं समूह के सदस्यों को पारस्परिक सहयोग के लिए प्रेरित करती हैं।

20.3.1 सहयोग की विशेषताएं

सहयोग की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूह का होना।
2. एक सामान्य उद्देश्य का होना।
3. 'हम की भावना' का पाया जाना।
4. सहयोग करने वालों का एक-दूसरे के प्रति जागरूक होना (चेतन प्रक्रिया)।
5. पारस्परिक सहायता एवं साथ-साथ मिलकर काम करने की भूमिका का पाया जाना।
6. लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरंतर और संगठित प्रयत्न करना।

सहयोग के लिए अनिवार्य तत्व:

सहयोग के लिए अनिवार्य तत्व हैं:

1. पारस्परिकता
2. समान लक्ष्य
3. सहयोग के लाभ के विषय में चेतना
4. अंतर्क्रिया
5. मध्यस्थता
6. श्रम विभाजन
7. लेन-देन
8. विनिमय और उपहार
9. कुशलता

चॉर्ल्स हॉर्टन कूले के अनुसार सहयोग के लिए समान हित, यथेष्ट बुद्धि, आत्म नियंत्रण तथा संगठन की क्षमता अनिवार्य तत्व है।

20.3.2 सहयोग के स्वरूप

सहयोग के स्वरूपों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया गया है -

- समूह की प्रकृति और आकार
- संबंधों का स्वरूप
- व्यवहारों के नियमन की पद्धति

ग्रीन ने समूहों की प्रकृति और आकार के आधार पर सहयोग के तीन प्रकार बताए हैं -

- प्राथमिक सहयोग
- द्वैतीयक सहयोग
- तृतीयक सहयोग

1. प्राथमिक सहयोग - प्राथमिक सहयोग वह है जिसमें व्यक्ति समाज के उद्देश्य को अपना उद्देश्य समझता है और उसी के अनुरूप काम भी करता है। यहां व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होते। प्राथमिक सहयोग सामान्यतः प्राथमिक समूहों में पाया जाता है, जहां घनिष्ठ व आमने-सामने के संबंध होते हैं। परिवार, मित्र-समूह, पड़ोस, समुदाय आदि समूहों में प्राथमिक सहयोग पाया जाता है।

2. द्वैतीयक सहयोग -इस प्रकार का सहयोग आधुनिक जटिल समाजों और द्वैतीयक समूह में पाया जाता है। इस तरह के सहयोग का स्वरूप प्रायः अवैक्तिक तथा अत्यंत जटिल होता है। यह औपचारिक प्रकार का सहयोग होता है क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वतः व स्वेच्छा से सहयोग नहीं देता बल्कि औपचारिक सहयोग देता है। इस प्रकार के सहयोग में व्यक्ति स्वार्थ-प्रधान होते हैं। जब स्वार्थ पूरे हो जाते हैं तो सहयोग समाप्त हो जाता है। श्रम विभाजन की प्रक्रिया द्वैतीयक सहयोग का अच्छा उदाहरण है।

3. तृतीयक सहयोग -जब व्यक्ति अथवा समूह अपने हित को ध्यान में रखकर एक समय विशेष में परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करना चाहते हैं तो उसे तृतीयक सहयोग कहते हैं। व्यवस्थापन इसी प्रकार के सहयोग का उदाहरण है। जब दो समूह या राष्ट्र एक-दूसरे के साथ संघर्ष करते-करते थक जाते हैं और बदली हुई परिस्थितियों में परस्पर अनुकूलन कर लेते हैं तो उनमें पाए जाने वाले सहयोग को तृतीयक सहयोग कहा जाता है।

मैकाइवर और पेज ने संबंधों के स्वरूप के आधार पर सहयोग के दो प्रकार बताए हैं -

- प्रत्यक्ष सहयोग ।
- अप्रत्यक्ष सहयोग।

1. प्रत्यक्ष सहयोग - जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह समान उद्देश्य के लिए एक-दूसरे के साथ मिलकर समान कार्य करें तो उसे प्रत्यक्ष सहयोग कहा जाएगा। परिवार और रक्त समूहों के बीच के संबंध अत्यंत निकटता पर आधारित होते हैं, अतः इनमें प्रत्यक्ष सहयोग पाया जाता है। खेल के मैदान में विरोधी टीम को हराने के उद्देश्य में जब किसी टीम के सदस्यों में सहयोग पाया जाता है और सभी मिलकर कार्य करते हैं तो इसे प्रत्यक्ष सहयोग कहा जाता है।

2. अप्रत्यक्ष सहयोग - जब किसी समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहयोग करने वाले लोग असमान या भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करते होते हैं तो इसे अप्रत्यक्ष सहयोग कहते हैं। आधुनिक समाज में श्रम विभाजन इसका सबसे अच्छा उदाहरण है, जिसमें विभिन्न व्यक्ति एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए अलग-अलग कार्य करते हैं। एक कपड़ा बनाने वाली फैक्ट्री में लोग अलग-अलग कार्यों में लगे होते हैं परंतु उनका सबका उद्देश्य एक ही है-कपड़ा बनाना।

असहगामी या विघटनात्मक सामाजिक प्रक्रियाएं: असहगामी सामाजिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत वे प्रक्रियाएं आती हैं जो समाज में विघटन उत्पन्न करती हैं। इनमें प्रतिस्पर्धा और संघर्ष प्रमुख हैं।

बोध प्रश्न 1

1 अंतर्क्रिया से आप क्या समझते हैं ?

2 सामाजिक प्रक्रिया को परिभाषित कीजिए।

3 सामाजिक प्रक्रिया के आवश्यक तत्वों पर प्रकाश डालिए।

4 सामाजिक प्रक्रिया के रूप में सहयोग को समझाइए।

20.4 प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा

प्राकृतिक व मानव जीवन दोनों में ही प्रतिस्पर्धा घटित होती है, वास्तव में मनुष्य की आवश्यकताएं अनंत हैं प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा तब पैदा होती है, जब सीमित लक्ष्यों को अनेक लोग प्राप्त करना चाहते हैं। प्रतिस्पर्धा के दौरान व्यक्तियों या समूह में कम या अधिक मात्रा में एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव पाए जाते हैं। इस कारण से इसे असहगामी प्रक्रिया माना जाता है। प्रतिस्पर्धा में सभी व्यक्ति एक-दूसरे को पीछे रख कर आगे बढ़ना चाहते हैं, अपने उद्देश्य को पाना चाहते हैं। अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा जहां एक ओर विघटन पैदा करती है, वहीं दूसरी ओर यह व्यक्तियों, समूहों और राष्ट्रों को प्रगति की ओर ले जाने, अपनी स्थिति को ऊंची उठाने और कुशलतापूर्वक प्रयत्न करने की प्रेरणा भी देती है।

गिलिन और गिलिन के अनुसार -'प्रतिस्पर्धा वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें प्रतिद्वंद्वी व्यक्ति या समूह किसी जनता के समर्थन तथा प्राथमिकता के माध्यम से लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उस व्यक्ति या समूह को अपने हितों के समर्थन में अनुरोध करते हैं, न कि अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हिंसा या इससे भय का प्रयोग।'

बीसेंज और बीसेंज के अनुसार -'प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समान उद्देश्य जो इतने सीमित हैं कि सब उसके भागीदार नहीं बन सकते, को पाने के प्रयत्न को कहते हैं'।

ग्रीन ने लिखा है -'प्रतिस्पर्धा में दो या दो से अधिक व्यक्ति या समूह समान लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जिससे कोई भी दूसरों के साथ बांटने के लिए न तो तैयार होता है और न ही इसकी अपेक्षा की जाती है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच किसी सीमित वस्तु, अधिकार या सेवा को प्राप्त करने के लिए प्रथा या नियम के अंतर्गत किया गया प्रयत्न है।

20.4.1 प्रतिस्पर्धा की विशेषताएं

1. प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच किसी सीमित वस्तु, अधिकार या सेवा जिसकी पूर्ति मांग की तुलना में कम है, की प्राप्ति का प्रयत्न है।

2. प्रतिस्पर्धा में कुछ निश्चित नियम होते हैं। यह नियम लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों को सीमित कर देते हैं।

3. प्रतिस्पर्धा में किसी तीसरे पक्ष का होना आवश्यक है जिसके समर्थन को प्राप्त करने का प्रयत्न दोनों पक्षों के द्वारा किया जाता है। दो व्यक्तियों के लिए तीसरा पक्ष ग्राहक, परीक्षार्थियों के लिए परीक्षक तीसरा पक्ष है, आदि।

4. प्रतिस्पर्धा सामान्यतः एक अवैयक्तिक प्रक्रिया है। आई.ए.एस. या आर.ए.एस. या माध्यमिक बोर्ड की परीक्षाओं में बैठने वाले परीक्षार्थियों की संख्या हजारों-लाखों में होती है जो अपने-अपने तरीकों से परीक्षा की तैयारी करते हैं और जिन्हें एक-दूसरे के बारे में कुछ भी जानकारी साधारणतः नहीं होती।

5. प्रतिस्पर्धा की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विषेशता अहिंसात्मक तरीके से लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न है।

6. प्रतिस्पर्धा सामान्यतः एक अचेतन प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य है कि प्रतिस्पर्धी एक-दूसरे के प्रयत्नों के प्रति सामान्यतः जागरूक नहीं होते हैं। वे तो अपने स्वयं के उद्देश्यों और प्रयत्नों के प्रति ही जागरूक होते हैं।

7. प्रतिस्पर्धा एक निरंतर प्रक्रिया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा पाई जाती है।

8. प्रतिस्पर्धा एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिस्पर्धा प्रत्येक समाज, स्थान एवं काल में मौजूद रहती है।

9. प्रतिस्पर्धा की प्रकृति परिवर्तनशील होती है। इसमें सफलता भी मिल सकती है, महत्वाकांक्षाओं का विकास भी होता है, इसमें असफलता भी प्राप्त हो सकती है तथा प्रतिस्पर्धा करने वालों में तनाव व संघर्ष भी हो सकता है।

20.4.2 प्रतिस्पर्धा के प्रकार

गिलिन और गिलिन ने प्रतिस्पर्धा के दो प्रमुख प्रकार बताए हैं -

- वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा
- अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा

1. वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा - गिलिन और गिलिन इसे चेतन प्रतिस्पर्धा भी कहते हैं। इसमें प्रतिस्पर्धा करने वाले एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से भली-भांति जानते हैं। दो प्रतिद्वंद्वी प्रेमियों में किसी युवती के प्रेम को प्राप्त करने के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा वैयक्तिक या चेतन प्रतिस्पर्धा का उदाहरण है।

2. अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा - गिलिन और गिलिन इसे अचेतन प्रतिस्पर्धा भी कहते हैं। इसमें प्रतियोगी एक-दूसरे को जानते-पहचानते नहीं हैं। वे अपने लक्ष्यों एवं प्रयत्नों के प्रति ही जागरूक होते हैं, न कि अन्य प्रतियोगियों के प्रति। भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाएं इसका उदाहरण हैं। यह प्रतिस्पर्धा व्यक्तिगत उद्देश्यों को लेकर होती है।

प्रतियोगिता के स्वरूप: गिलिन और गिलिन ने प्रतिस्पर्धा के चार स्वरूपों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं:

- आर्थिक प्रतिस्पर्धा
- सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा
- भूमिका या प्रस्थिति के लिए प्रतिस्पर्धा
- प्रजातीय प्रतिस्पर्धा

1. आर्थिक प्रतिस्पर्धा -आर्थिक प्रतिस्पर्धा उत्पादन व व्यापार के क्षेत्र में होती है। व्यापारियों और उद्योगपतियों के बीच यह प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। वे अधिक लाभ कमाने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं।

2. सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा - जब दो संस्कृतियों के लोग एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं तो सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा प्रारंभ होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ समझकर उसे दूसरों पर थोपने का प्रयास करता है। प्रोटेस्टेंट व कैथोलिक धर्म को मानने वाले लोगों में भी इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा है। दोनों ही धर्मों के लोग अपने-अपने धर्मों को ज्यादा ऊंचा दिखाने में लगे रहते हैं।

3. भूमिका या प्रस्थिति के लिए प्रतिस्पर्धा -प्रत्येक मनुष्य सामाजिक स्तरीकरण के श्रृंखलाक्रम में अपनी प्रस्थिति ऊंची रखना चाहता है। वह इसके लिए प्रयास भी करता है। व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने या महत्वपूर्ण मानी जाने वाली भूमिका निभाने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं। कला, साहित्य और संगीत में भी इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है।

4. प्रजातीय प्रतिस्पर्धा -जब हम मनुष्यों को उनकी आनुवंशिक शारीरिक विशेषताओं के आधार पर अलग करते हैं तो हमारा तात्पर्य प्रजातीय से होता है। यद्यपि शारीरिक आधार पर कोई प्रजाति दूसरी प्रजाति से ऊंची या नीची नहीं होती, फिर भी प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण की भावना आज भी संसार के विभिन्न भागों में देखने को मिलती है। प्रजाति के आधार पर भेदभाव की भावना के शारीरिक कारणों की अपेक्षा, सांस्कृतिक कारण अधिक प्रभावशाली तरीके से कार्य कर रहे हैं।

अमेरिका में श्वेत और नीग्रो लोगों तथा अफ्रीका में अंग्रेजों तथा मूल निवासियों के बीच पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा प्रजातीय प्रतिस्पर्धा के अंतर्गत ही आती है। गिलिन और गिलिन द्वारा बताए गए प्रतिस्पर्धा के उपर्युक्त चार स्वरूपों के अतिरिक्त भारत में एक अन्य स्वरूप जातीय प्रतिस्पर्धा भी देखने को मिलती है। यहां विभिन्न जातियां सामाजिक संस्तरण की प्रणाली में ऊपर उठने का प्रयत्न करती हैं, जिसे डॉ. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण के नाम से पुकारा है।

20.5 संघर्ष

समाज में एक ओर जहां सहयोग देखने को मिलता है, वहां दूसरी ओर संघर्ष भी पाया जाता है। संघर्ष को एक मौलिक और सार्वभौमिक सामाजिक प्रक्रिया माना गया है जो प्रत्येक समाज और

काल में कम या अधिक मात्रा में पाया जाता है। पूर्णतः संघर्ष-रहित समाज का पाया जाना असंभव है। संघर्ष सामाजिक संबंधों में हर समय मौजूद रहता है। यह जीवन की एक वास्तविकता है, इसे अस्वाभाविक नहीं माना जाता।

जब कोई व्यक्ति या समूह अपने किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विरोधी को नुकसान पहुंचाने, नष्ट करने, उसके हितों को चोट पहुंचाने या उसके कार्यों में बाधा डालने का प्रयत्न करता है तो इस स्थिति को संघर्ष के नाम से पुकारा जाता है।

डब्ल्यू ग्रीन के अनुसार - 'संघर्ष दूसरे या दूसरों की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को कहते हैं।'

गिलिन और गिलिन के अनुसार -'संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति विरोधी को प्रत्यक्ष हिंसा की चुनौती देकर करते हैं।'

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार -'सामाजिक संघर्ष में वे सभी क्रिया-कलाप सम्मिलित हैं जिनमें मनुष्य किसी भी उद्देश्य के लिए एक-दूसरे के विरूद्ध लड़ते या विवाद करते हैं।'

स्पष्ट है कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बल-प्रयोग या हिंसा की धमकी द्वारा दूसरों की इच्छाओं को दबाना या उसके उद्देश्यों की प्राप्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित करना ही संघर्ष है।

किंग्सले डेविस के अनुसार जहां प्रतिस्पर्धियों का ध्यान प्रतिस्पर्धा से हटकर प्रतिद्वंद्वियों पर केंद्रित हो जाता है, वहीं संघर्ष प्रारंभ हो जाता है।

20.5.1 संघर्ष की विशेषताएं

1. संघर्ष के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूह का होना आवश्यक है जो एक-दूसरे के हितों को हिंसा की धमकी, आक्रमण, विरोध या उत्पीड़न के माध्यम से चोट पहुंचाने की कोशिश करते हैं।

2. संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया है, जिसमें संघर्षरत व्यक्तियों या समूहों को एक-दूसरे की गतिविधियों का ध्यान रहता है।

3. संघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है। संघर्ष में ध्यान लक्ष्य पर केंद्रित न होकर प्रतिद्वंद्वियों पर केंद्रित हो जाता है।

4. संघर्ष एक अनिरंतर प्रक्रिया है। संघर्ष सदैव नहीं चलता बल्कि रूक-रूक कर चलता है। इसका कारण यह है कि संघर्ष के लिए शक्ति और साधन जुटाने पड़ते हैं जो किसी भी व्यक्ति या समूह के पास असीमित मात्रा में नहीं पाए जाते।

5. संघर्ष एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। संघर्ष किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल में कम या अधिक मात्रा में अवश्य पाया जाता है।

20.5.2 संघर्ष के स्वरूप

संघर्ष के विभिन्न प्रकारों में गिलिन और गिलिन द्वारा बताए हुए निम्नलिखित पांच स्वरूप प्रमुख हैं:

1. वैयक्तिक संघर्ष - आपसी हितों के टकराने से व्यक्ति-व्यक्ति के बीच होने वाला संघर्ष वैयक्तिक संघर्ष के अंतर्गत आता है। वैयक्तिक संघर्ष की प्रकृति निरंतर नहीं होती, कभी संघर्ष चलता है तो कभी बंद हो जाता है तथा फिर चल सकता है। जब तक संघर्ष सकता है। जब तक संघर्ष की परिणति सहयोग में न हो जाए यह चलता रहता है।

2. प्रजातीय संघर्ष - जब आनुवांशिक शारीरिक भेदभाव के कारण हम व्यक्तियों का वर्गीकरण करते हैं तो उसे हम प्रजाति कहते हैं। प्रजातीय संघर्ष समूहगत होता है। जब दो भिन्न प्रजातियां एक-दूसरे के संपर्क में आती हैं तो कई बार उनमें संघर्ष भड़क उठता है। इसे ही प्रजातीय संघर्ष कहते हैं। इस प्रकार के संघर्ष अमेरिका में श्वेत और नीग्रो प्रजातियों और अफ्रीका में श्वेत और श्याम प्रजातियों के लोगों के बीच पाए जाते हैं।

3. वर्ग संघर्ष -वर्ग संघर्ष इतिहास में आरंभ से हो रहा है। कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि -'आज तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास, वर्ग संघर्ष का इतिहास है।'

वर्तमान में उद्योगीकरण एवं पूंजीवादी व्यवस्था ने पूंजीपति एवं श्रमिक दो वर्गों को जन्म दिया है। इन दोनों में अपने-अपने हितों को लेकर होने वाला संघर्ष वर्ग-संघर्ष कहलाता है।

4. राजनीतिक संघर्ष -राजनीतिक संघर्ष के दो रूप देखने को मिलते हैं - पहला अंतर्राज्यीय व दूसरा अंतर्राष्ट्रीय। एक ही राष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच होने वाला संघर्ष अंतर्राज्यीय कहलाता है। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाला संघर्ष जिसे अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष कहा जाता है। सत्ता में आने के लिए विभिन्न दलों में होने वाला संघर्ष राजनीतिक संघर्ष है।

5. अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष -इस प्रकार का संघर्ष सामूहिक संघर्ष का ही एक प्रकार है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच समय-समय पर होने वाले युद्ध अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष के ही उदाहरण हैं। भारत और पाकिस्तान तथा भारत और चीन के बीच होने वाले युद्ध अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष के अंतर्गत आते हैं।

मैकाइवर और पेज ने संघर्ष के दो प्रकार -प्रत्यक्ष संघर्ष और अप्रत्यक्ष संघर्ष बताए हैं -

1. प्रत्यक्ष संघर्ष -व्यक्ति-व्यक्ति और समूह-समूह के बीच होने वाले आमने-सामने के संघर्ष प्रत्यक्ष संघर्ष ही हैं।

2. अप्रत्यक्ष संघर्ष -इसमें दो विरोधी प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे के संपर्क में नहीं आकर इस प्रकार से कार्य करते हैं कि एक-दूसरे के हितों या लक्ष्यों की पूर्ति में बाधा पड़ती है। अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा और विभिन्न राष्ट्रों के बीच चलने वाला शीत-युद्ध अप्रत्यक्ष संघर्ष के ही उदाहरण हैं।

संघर्ष के कारण: संघर्ष के कई कारण हो सकते हैं। अतीत में संघर्ष का मुख्य कारण एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर अथवा एक समूह द्वारा दूसरे पर प्रभुत्व जमाना होता था। वर्तमान काल में संघर्ष का मुख्य कारण अधिक प्रभुत्व अधिक लगता है। संघर्ष के मुख्य कारण निम्नांकित हैं:

1. व्यक्तिगत भिन्नताएं - व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता होती है, कोई दो व्यक्ति एक से नहीं होते। शारीरिक गठन, बौद्धिक क्षमता, आदतों, अभिवृत्तियों, मूल्यों एवं स्वभाव में भिन्नता संघर्ष को जन्म देते हैं।

2. सांस्कृतिक भिन्नताएं -व्यक्ति का जिस समाज में समाजीकरण हुआ है, उस समाज के मूल्यों, मान्यताओं व रीति-रिवाजों को वह व्यवहार में लाता है। वे सांस्कृतिक भिन्नताएं जो समूह के बीच में होती है, व्यक्तियों में भी देखने को मिलती हैं, अतः संघर्ष होता है। परस्पर विरोधी संस्कृतियों में संघर्ष के अवसर अक्सर होते हैं।

3. परस्पर स्वार्थों का टकराव -परस्पर स्वार्थों का टकराव भी संघर्ष को जन्म देता है। जब दो व्यक्ति या समूहों में परस्पर विरोधी स्वार्थ होंगे तो संघर्ष होगा। मिल-मालिकों का ध्येय अधिक पूंजी का अर्जन करना है जबकि मजदूर अधिक धन लेना चाहता है। अतः संघर्ष होता है। सरकार कम वेतन में अपने कर्मचारियों से काम लेना चाहती है जबकि कर्मचारी अधिक से अधिक वेतन प्राप्त करना चाहते हैं, फलतः दोनों में संघर्ष होता है।

4. सामाजिक परिवर्तन -सामाजिक परिवर्तन भी संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण है। जब समाज की व्यवस्था में परिवर्तन होता है, तब नवीन, विचारों, मूल्यों के कारण संघर्ष पैदा होता है। नवीन परिवर्तन के साथ नए प्रतिमान उभरते हैं जो पुरानी व्यवस्था से मेल नहीं खाते। अतः संघर्ष होता है।

20.6 सारांश

इस इकाई में अंतर्क्रिया, प्रक्रिया की अवधारणा, सामाजिक प्रक्रिया के रूपों, सहगामी सामाजिक प्रक्रिया जैसे सहयोग और असहगामी सामाजिक प्रक्रिया जैसे प्रतिस्पर्धा और संघर्ष पर विचार किया गया है।

यह सभी प्रक्रियाएं प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। सामाजिक प्रक्रियाएं ही समाज को निरंतरता और गति प्रदान करती है। मानव समाज में सहयोग का स्थान प्राथमिक है। सहयोग के बिना मानवीय अस्तित्व के विषय में सोच भी नहीं सकते हैं। लेकिन कोई कितना भी सहयोगी समूह हो, उसमें संघर्ष के कोई न कोई लक्षण अवश्य मिलेंगे। इसी प्रकार, किसी भी संघर्ष में सहयोग या व्यवस्थापन की संभावनाएं अवश्य छिपी रहती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्रतिस्पर्धा में भी सहयोग के तत्व छिपे रहते हैं।

किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को दृष्टिगत रख कर करना आवश्यक है। सामाजिक संबंधों, सामाजिक व्यवस्था और स्वयं समाज को भली-भांति समझने के लिए सामाजिक प्रक्रिया एवं इनके प्रमुख स्वरूपों को समझना आवश्यक है।

20.7 बोध प्रश्न

1. प्रतियोगिता की परिभाषा और विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. संघर्ष की व्याख्या कीजिए।
3. संघर्ष के कारणों और स्वरूपों पर प्रकाश डालिए।
4. प्रतियोगिता और संघर्ष में भिन्नता बताइए।

20.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गिलिन, जे. एल. और गिलिन जे.पी; कल्चरल सोशियोलॉजी, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1954, पृ. 488.
2. डेविस, के,; ह्यूमन सोसायटी, मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 1960, पृ. 149.
3. मैकाइवर, आर.एम. और पेज सी.एच.; सोसायटी, मैकमिलन, लंदन, 1959, पृ.63.
4. ग्रीन, डब्ल्यू.ए.; सोशियोलॉजी, एन एनालिसिसि ऑफ माडर्न सोसायटी, मेकैग्राओ हिल, 1952, पृ. 61.
5. दोशी एस.एल., जैन पी.सी.; समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 2000, पृ. 333
6. सिंघी, नरेंद्र कुमार, गोस्वामी वसुधाकर; समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2003, पृ. 214.
7. अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

इकाई-21-समाजीकरण: अर्थ , चरण ,अभिकरण

Socialization:Definitions, Forms, Agencies

इकाई की रूपरेखा

21.0 प्रस्तावना

21.1 उद्देश्य

21.2 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

21.3 समाजीकरण की विशेषताएं

21.4 समाजीकरण के स्तर

21.4.1 मौखिकावस्था

21.4.2 शौच सोपान

21.4.3 ऑडियन सोपान

21.4.4 किशोरावस्था

21.5 समाजीकरण के अभिकरण

21.5.1 प्राथमिक संस्थाएं

21.5.2 द्वितीयक संस्थाएं

21.6 सारांश

21.7 बोध प्रश्न

21.8 पारिभाषिक शब्दावली

21.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

21.0 प्रस्तावना

प्रत्येक शिशु जन्म के समय एक शारीरिक ढांचा मात्र होता है। वह न तो अपने बारे में और न ही समाज के बारे में कुछ जानता है और न ही किसी सामाजिक गतिविधि में भाग लेने की स्थिति में होता है। उसमें किसी प्रकार के सामाजिक गुण नहीं होते। वह न तो सामाजिक होता है, न असामाजिक और न समाज विरोधी। समाज में उसे किस तरह का व्यवहार करना चाहिए, समाज के क्या नियम कानून हैं, समाज के रीति रिवाजों, मूल्यों व मानदंडों आदि से वह अनभिज्ञ होता है लेकिन वह कुछ शारीरिक क्षमताओं के साथ पैदा होता है, इन क्षमताओं के कारण ही वह बहुत कुछ सीख लेता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बन जाता है। यह सीखने की क्षमता समाज व सामाजिक संपर्क से ही विकसित होती है। सामाजिक संपर्क के कारण ही व्यक्ति समाज के रीति-रिवाजों, प्रथाओं, मूल्यों, विश्वासों, संस्कृति एवं सामाजिक गुणों को सीखता है और सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त करता है। इस सीखने की प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहते हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया प्राणी शास्त्रीय प्राणी को सामाजिक प्राणी में बदल देती है।

बालक का जन्म परिवार में होता है। परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है। सर्वप्रथम परिवार के माध्यम से ही बालक अपने सामाजिक, सांस्कृतिक व भौतिक पर्यावरण को आत्मसात करता है। परिवार ही बालक को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाता है। परिणामस्वरूप वह समाज की गतिविधियों में भाग लेने में समर्थ होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को सामान्य व्यवहार करने में समर्थ बनाती है।

21.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- व्यक्ति के लिए समाज व सामाजिक संपर्क क्यों आवश्यक है यह जान सकेंगे।
- समाजीकरण के विभिन्न स्तरों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार, पड़ोस व मित्र समूह की भूमिका के संदर्भ में विवेचना कर सकेंगे।

21.2 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

समाजीकरण का अर्थ नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाने की प्रक्रिया से लिया जाता है। समाजीकरण की अवधारणा का प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है जिनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक- सांस्कृतिक संसार से परिचित कराया जाता है। इस अर्थ में समाजीकरण वह विधि है जिसके द्वारा संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित किया जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने समूह एवं समाज के मूल्यों, जनरीतियों, लोकाचारों, आदर्शों एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है। समाजीकरण का अर्थ निम्न परिभाषाओं से और स्पष्ट हो जाएगा।

जॉनसन के अनुसार: 'समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने के योग्य बनाती है।' इसका तात्पर्य है कि अपनी प्रस्थिति का बोध व उसके अनुरूप भूमिका निभाने की विधि को हम समाजीकरण द्वारा सीखते हैं।

गिलिन व गिलिन: 'समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनने हेतु समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है उसकी परंपराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहन शक्ति की भावना को विकसित करता है।' गिलिन व गिलिन ने समाजीकरण का आशय एक ऐसी प्रक्रिया से लिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का क्रियाशील सदस्य बनता है। समाजीकरण ही व्यक्ति का सामाजिक परिस्थिति से अनुकूलन कराता है और व्यक्ति में सहनशक्ति की भावना को विकसित करता है।

ब्रूम व सेल्जनिक: के अनुसार समाजीकरण के दो पूरक अर्थ हैं - 'संस्कृति का हस्तांतरण और व्यक्तित्व का विकास' इसका अर्थ है कि समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही एक व्यक्ति अपनी संस्कृति को सीखता है। संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है और संस्कृति को सीखकर ही बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है।

टालकॉट पारसंस: व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखने और उन्हें आंतरीकृत करने को ही समाजीकरण कहते हैं। व्यक्ति समाजीकरण के द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखता ही नहीं वरन् उनको आत्मसात करता है। ये मूल्य उसके मस्तिष्क व व्यक्तिव की स्थायी निधि बन जाते हैं जिससे एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक स्थिति में वह हमेशा वैसा ही व्यवहार करता है।

हारोलांबोस ने लिखा है: 'वह प्रक्रिया जिसके द्वारा लोग अपने समाज की संस्कृति को सीखते हैं समाजीकरण के नाम से जानी जाती है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदंडों को सीखता है और समाज के साथ अपना अनुकूलन करता है, इससे समाज में नियंत्रण बना रहता है। समाजीकरण सभी सदस्यों को समाज सम्मत व्यवहार सिखाकर सामाजिक नियंत्रण की समस्या को हल कर देता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक मानदंडों, मूल्यों व समाज सम्मत व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है जो व्यक्ति को समाजोचित व्यवहार करना सिखाती है।

21.3 समाजीकरण की विशेषताएं

समाजीकरण के अर्थ एवं परिभाषा द्वारा इसकी कुछ विषेशताएं उभर कर सामने आती हैं जो निम्नलिखित हैं:

- **समाजीकरण आजीवन चलने वाली प्रक्रिया:** समाजीकरण कुछ विशेष समय तक चलने वाली प्रक्रिया नहीं है वरन् बच्चे के जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाली प्रक्रिया है। समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक प्रस्थितियां धारण करता है और उनके अनुसार भूमिका निर्वाह करना सीखता है। बचपन में वह पुत्र-पुत्री के रूप में माता-पिता भाई-बहिन व अन्य संबंधियों के साथ व्यवहार करना सीखता है। बड़े होकर नए पदों के अनुरूप भूमिका का निर्वाह करना सीखता है। समाज में व्यक्ति को अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जैसे पदाधिकारी के रूप में यात्रा करते समय क्रेता या विक्रेता के रूप में अलग अलग भूमिकाएं होती हैं जिनके अनुसार उसे व्यवहार करना होता है। इस प्रकार जन्म से मृत्यु तक नई-नई प्रस्थितियां हमारे सामने आती रहती हैं तथा हम उनसे संबंधित व्यवहार को सीखते रहते हैं। मनुष्य के जीवन काल में समाजीकरण की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती।

- **सीखने की प्रक्रिया:** समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। इस सीखने की प्रक्रिया में सामाजिक मूल्यों, मानदंडों एवं समाज स्वीकृत व्यवहारों को लिया जा सकता है। इन समाज सम्मत व समायोजित क्रियाओं को सीखकर व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बन जाता है। अतः समाज सम्मत व्यवहारों, प्रतीमानों व मूल्यों को सीखना ही समाजीकरण है क्योंकि ये क्रियाएं व्यक्ति को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाती हैं, जबकि चोरी करना, गाली देना आदि को समाजीकरण नहीं कहा जाएगा क्योंकि ये क्रियाएं ना तो समाज-स्वीकृत हैं और ना ही इन्हें सीख कर व्यक्ति समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है।
- **समय व स्थान सापेक्ष प्रक्रिया:** समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है। जो व्यवहार एक समाज में मान्य है किसी दूसरे समाज या स्थान पर वही व्यवहार अमान्य ठहराए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ अफ्रीका की मसाई जनजाति में एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए एक-दूसरे पर थूकना सिखाया जाता है, किंतु यह व्यवहार भारत में अनुचित व निंदनीय माना जाता है। समाजीकरण की प्रक्रिया समय सापेक्ष भी है। समय सापेक्ष का अर्थ है एक समाज में दो भिन्न कालों में समाजीकरण की विषय वस्तु अलग-अलग हो सकती है। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत में नव विवाहित वधू से पर्दे की अपेक्षा की जाती थी लेकिन आधुनिक भारत में नए मूल्यों के प्रादुर्भाव से इस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा नव वधू से नहीं की जाती।
- **संस्कृति को आत्मसात करने की प्रक्रिया:** समाजीकरण की प्रक्रिया में हम संस्कृति को आत्मसात करते हैं जिससे संस्कृति व्यक्तित्व का अंग बन जाती है। संस्कृति के दो रूप हैं (1) भौतिक संस्कृति (2) अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानव निर्मित मूर्त वस्तुएं आती हैं जैसे मकान, पंखा, टेबल , पैन आदि। अभौतिक संस्कृति में मानव निर्मित अभौतिक या अमूर्त वस्तुएं आती है जैसे विचार, रीति रिवाज, मानदंड व मूल्य आदि समाजीकरण संस्कृति के दोनों रूपों भौतिक व अभौतिक स्वरूपों को आत्मसात करने की प्रक्रिया है।
- **समाजीकरण समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाने की प्रक्रिया**: समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति सामाजिक कार्यों में भाग लेने योग्य बनता है। इसी के द्वारा वह प्राणीशास्त्रीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में बदल जाता है। पद-प्रस्थिति के अनुसार भूमिका

निर्वाह करना सीख जाता है और अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाओं के अनुसार व्यवहार करने लगता है । समाजीकरण के अभाव में व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य नहीं बन सकता।

- **स्व का विकास**: समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति में स्वयं के प्रति चेतना तथा जागरूकता का विकास होता है। व्यक्ति में इस ज्ञान का विकास होता है कि समाज के अन्य सदस्य उसके संबंध में क्या सोचते हैं। समाजीकरण प्रक्रिया की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि इसके द्वारा व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन दूसरे व्यक्तियों की दृष्टि से करना सीखता है । इसी को समाज शास्त्रियों ने जैसे - कूले ,मीड, दुर्खीम आदि ने 'स्व' का विकास कहा है जो कि समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है।

बोध प्रश्न -

1. समाजीकरण क्या है ?

2. समाजीकरण की प्रक्रिया के टॉलकॉट पारसंस ने कितने स्तर बताए हैं ?

बोध प्रश्नों के उत्तर

1.सामाजिक मानदंडों, मूल्यों व समाज समस्त व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण हैं।

2.टॉलकॉट पारसंस ने समाजीकरण प्रक्रिया के चार स्तर बताए हैं वे इस प्रकार से हैं -

(i) मौखिक स्तर

(ii) शौच सोपान

(iii) ऑडियस

(iv) किशोरावस्था स्तर

21.4 समाजीकरण के स्तर

समाजीकरण सीखने की ऐसी प्रक्रिया है जो आजीवन चलती रहती है। यह प्रक्रिया काफी लम्बी होती है अतः विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं समाज शास्त्रियों ने समाजीकरण को कई स्तरों में विभक्त कर देखने का प्रयास किया है। मानव शरीर की विशिष्ट संरचना के कारण उसमें सीखने की विशिष्ट क्षमता पायी जाती है और सामाजिक सीख के द्वारा वह अपने व्यक्तिव का विकास करता है। सीखने का कार्य केवल समाज में ही संभव है। अतः पारसन्स कहते हैं कि बच्चा उस पत्थर के समान है जिसे जन्म के समय समाज रूपी तालाब में फेंक दिया जाता है, जिसमें रहकर वह अपना समाजीकरण करता है और समाज का अंग बन जाता है।टॉलकट पारसन्स ने समाजीकरण के किशोरावस्था तक चार ही सोपान निम्न प्रकार से बताये हैं:-

- मौखिकावस्था
- शौच सोपान
- ऑडियस सोपान
- किशोरावस्था

मौखिकावस्था: गर्भ में भ्रूण आरामपूर्वक रहता है। जन्म के समय शिशु प्रथम संकट का सामना करता है, उसे सांस लेनी पड़ती है, उसे भूख लगती है , पेट भरने के लिए उसे श्रम करना पड़ता है। उसे सर्दी, गर्मी, गीलेपन आदि से पीड़ा होती है, वह रोता चिल्लाता है। इस अवस्था में बालक का मुंह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि वह अपने मन का संतोष या दुख मुंह के हाव भावों द्वारा ही अभिव्यक्त करता है। इस स्थिति में वह मौखिक निर्भरता स्थापित करता है। समाजीकरण का यह प्रथम स्तर है। इस अवस्था में शिशु अपने भोजन के बारे में संकेत देना शुरू करता है। शिशु अपना सुख दुख मुंह के माध्यम से व मुंह के हाव भाव से प्रकट करता है इसलिए इसे मौखिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में बच्चा परिवार के सभी सदस्यों से संबंध स्थापित नहीं कर पाता, केवल माता से ही वह अंतर्क्रिया कर पाता है। पारसंस कहते हैं कि माता व शिशु की उप-प्रणाली बन जाती है। परिवार के दूसरे सदस्यों के लिए तो बालक महज एक संपदा है। पिता या परिवार का कोई अन्य सदस्य माता की तरह बालक की देखभाल करने लगे तो भी भूमिका विभेद नहीं होता, वह भी माता की भूमिका ही निभाता है। इस अवस्था में बालक अपनी व अपनी मां की भूमिका में अंतर

नहीं कर पाता । अतः माता व शिशु 'मिले हुए' रहते हैं । इस स्थिति को फ्रायड ने 'प्राथमिक परिचय' कहा है । मौखिक अवस्था में शिशु कुछ आंतरीकृत करने की स्थिति में नहीं होता । इतना जरूर है कि उसे माता के साथ शारीरिक संपर्क से धुंधली सी उद्दीपन भाव की अनुभूति होने लगती है । इस मौखिक सोपान की अवधि लगभग एक से डेढ़ वर्ष तक की होती है ।

शौच सोपान: विभिन्न समाजों में इस स्तर का काल भिन्न-भिन्न है । वैसे सभी समाजों में यह स्तर एक से पांच वर्ष के बीच की अवधि में माना जाता है । इस स्तर पर बच्चे से यह अपेक्षा की जाने लगती है कि वह अपने-आपको थोड़ा बहुत स्वयं संभाले । इस संदर्भ में उसे शौच प्रशिक्षण दिया जाता है । इस स्तर में बालक दो भूमिकाओं को आंतरीकृत करता है - (1) अपनी और अपनी माता की भूमिका, जिसे वह अपने से भिन्न करने लग जाता है । (2) इस स्तर पर बालक को सही और गलत के बीच भेद करना सिखाया जाता है । सही कार्यों के लिए एक ओर जहां उसे प्यार का पुरस्कार प्राप्त होता है वहीं पर गलत कार्यों के लिए उसे दंड भी दिया जाता है । बालक इस स्तर पर परिवार के अन्य सदस्यों के साथ भी अंतर्क्रिया करता है और पारिवारिक व्यवहार प्रतिमान को अपनाता है ।

यह अवस्था शौच संकट से आरंभ होती है जिसके अंतर्गत बच्चा स्वयं भी अपना ध्यान रखने लग जाता है । माता से उसका तादात्म्य हो जाता है । वह माता का प्यार पाता ही नहीं बल्कि अपनी ओर से देता भी है। मां उसे शौच संबंधी प्रशिक्षण देती है । मां की भूमिका इस स्तर पर भी समाजीकरण में महत्वपूर्ण होती है । माता का यहां द्विपक्षीय कार्य है । प्रथम तो मां-शिशु उप प्रणाली में साधक नेता के रूप में कार्य करती है, दूसरे पूरे परिवार में बच्चे का प्रतिनिधित्व करती है । अतः इस स्तर पर समाजीकरणकर्ता को स्वयं सामाजिक मूल्यों तथा सामाजिक व्यवहार प्रतिमान के प्रति सजग रहना पड़ता है ताकि बालक का समाजीकरण उचित हो सके । इस स्तर पर बालक बातचीत करना सीखता है तथा चलने-फिरने लगता हैं अब उसके सामाजिक संबंध भी बढ़ जाते हैं क्योंकि वह परिवार के अन्य सदस्यों के साथ अंतर्क्रिया करने लगता है । इस अवस्था में बालक को थोडा कष्ट भी होता है क्योंकि यही वह अवस्था है जिसमें मां उनकी दूध पीने की आदत में परिवर्तन लाना चाहती है।

ऑडियस या गुप्तावस्था स्तर: ऑडियस स्तर सामान्यतया चौथे वर्ष से प्रारंभ होकर बारह या तेरह वर्ष की आयु तक रहती है । मनोवैज्ञानिकों ने इस चरण को ऑडियस संकट का काल कहा है।

इस अवस्था में बालक यौन भेद की ओर सहज आकर्षण का अनुभव करता है। यही वह समय है जब उसमें ऑडियस कॉम्पलैक्स व इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स दो प्रकार की ग्रंथियां जन्म लेती है । (1) ऑडियस कॉम्पलैक्स लड़के की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह अपनी मां से प्यार करता है और वह चाहता है कि उसका पिता उसकी मां को प्यार न करें। (2) इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स लड़कियों की उस भावना को कहते हैं जिसमें वह चाहती है कि उनके पिता उनसे प्यार करें न कि उनकी माता से। ये भावनाएं चार से बारह वर्ष की अवस्था में होती है। इसमें लड़के व लड़कियां क्रमशः माता-पिता से प्यार करना चाहते हैं और चाहते हैं कि पति-पत्नी (माता-पिता) आपस में प्यार न करें। उन्हें अपने माता-पिता से ईर्ष्या होती है। फ्रायड ने कहा है कि इस अवस्था में बच्चों में यौन भावना जाग्रत हो जाती है , जिससे लड़के अपनी मां व लड़कियां अपने पिता से प्यार करने लग जाते हैं।

इस अवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया दो रूपों में होती है **(1) सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण-**सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह अपनी भूमिका को आंतरीकृत करता है, उससे संबंधित योग्यता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है अर्थात बालक पिता, भाई व परिवार के अन्य सदस्यों की आशाओं के अनुरूप भूमिका निभाना सीखता है। **(2) सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण -** सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह परिवार, अपने लिंग के साथियों, विद्यालय के साथियों व मित्रों के अनुरूप कार्य करता है। जॉनसन के अनुसार बालक समाजीकरण के तीसरे सोपान में तीन प्रकार से तादात्म्य स्थापित करता है। (1) परिवार (2) मित्र मंडली (3) समाज के अनुरूप व्यवहार करके।

किशोरावस्था स्तर: किशोरावस्था मानव जीवन का एक संक्रांति काल है। इस स्तर पर बच्चे अपने माता-पिता के नियंत्रण से मुक्त होना चाहते हैं। इसी काल में कैशोर्य संकट उपस्थित होता है। इस अवस्था में लड़के-लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगते हैं। यौन संबंधी ज्ञान होने लगता है लेकिन यौन संबंधों की स्वतंत्रता न होने से किशोरावस्था में विभिन्न प्रकार के तनाव देखने को मिलते हैं। यह वह काल है जब वह सीमांत संस्कृति पर होता है अर्थात किशोर को बड़े व छोटे दोनों ही से खुले मन से स्वीकार नहीं करते। यह स्थिति उसके जीवन में उदात्तीकरण के रूप में अभिव्यक्त होती है। उदात्तीकरण के अनुसार वह छोटो का साथ छोड़ने व बड़ों का साथ न मिल पाने के कारण इस मानसिक तनाव की स्थिति का हल अन्य कार्यों में देखता है अतः या तो

वह अच्छा विद्यार्थी बन जाता है या बुरी प्रवृत्तियों में पड़ जाता है। इस काल में उसके साथ किए जाने वाले व्यवहार पर ही उसकी उन्नति व अवनति निर्भर करती है।

इस स्तर पर किशोर से यह आशा की जाती है कि वह अपने बारे में स्वयं निर्णय ले लेकिन साथ-साथ यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह निर्णय परंपरागत हो तथा सामाजिक व्यवहार प्रतिमान से मेल खाता हो। किशोर को न केवल परिवार के सदस्यों अपितु पास-पड़ोस, विद्यालय तथा अन्य द्वितीयक समूहों के सदस्यों से सामंजस्य स्थापित करना होता है। किशोरावस्था एक तनाव का काल होता है। पश्चिमी जगत में तो इस स्तर पर एक किशोर आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर अपना अलग परिवार भी बसाता है। इस स्तर पर व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुरूप व्यवहार करे।

ये चारों समाजीकरण के प्रमुख सोपान हैं। यहां यह नहीं समझा जाना चाहिए कि इन चार चरणों के बाद जीवन में समाजीकरण की प्रक्रिया रूक जाती है या समाप्त हो जाती है। यह प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि उपर्युक्त चार सोपान व्यक्तिव के लिए रचनात्मक हैं क्योंकि हमारा मूलभूत व्यक्तित्व इस काल तक बन चुका होता है। इन सोपानों के पश्चात अन्य सोपान भी समाजीकरण के लिए महत्वपूर्ण हैं। जो निम्नलिखित हैं -

युवावस्था: इस अवस्था में व्यक्ति को अनेक नए पद प्राप्त होते हैं। उसे पति, पिता, दामाद, अधिकारी आदि की प्रस्थितियां प्राप्त होती है। युवा होने पर व्यक्ति को जितनी भी नई प्रस्थितियां मिलती हैं उन सबकी भूमिका - अपेक्षाओं का उसे निर्वाह करना पड़ता है। यह अवस्था उत्तरदायित्वों से भरी हुई होती है। इस अवस्था में परिवार व बाह्य जगत में महत्वपूर्ण दायित्वों को निभाता है। अतः कभी-कभी उसे भूमिका संघर्ष की स्थिति का सामना करना पड़ता है क्योंकि विभिन्न प्रस्थितियों का एक साथ पालन करना कठिन होता है।

प्रौढ़ अवस्था: इस अवस्था में व्यक्ति पर और अधिक जिम्मेदारियां आ जाती हैं। उस पर बच्चों की शिक्षा, विवाह की जिम्मेदारी आ जाती हैं एवं व्यवसाय या वरिष्ठ अधिकारी के रूप में दायित्व संभालना होता है। जॉनसन कहते हैं कि वयस्कों का समाजीकरण सरल होता है क्योंकि (अ) वयस्क साधारणतः उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने को प्रेरित होता है जो स्वयं देख चुका है (ब) जिस नई प्रस्थिति को वह आंतरीकृत करने का प्रयास करता है उसमें और पुरानी स्थितियों में

काफी साम्य होता है (स) समाजीकरण करने वाला भाषा के माध्यम से आसानी से बोधगम्य संबंध स्थापित कर सकता है। इन तीनों से समाजीकरण की प्रक्रिया सरल हो जाती है।

वृद्धावस्था: वृद्धावस्था में व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक व सामाजिक दृष्टि से कई परिवर्तन आ जाते हैं। अब उसे दादा, परदादा, नाना, श्वसुर आदि के रूप में नई प्रस्थितियां प्राप्त होती हैं और वह उनके अनुसार भूमिका निभाता है । क्षीणकारी शारीरिक परिवर्तनों के कारण क्षमताएं और आकांक्षाएं भी घट जाती हैं। उसमें दुर्बलता आ जाती है। कार्य करने का पूर्ववत सामर्थ्य नहीं रहता। इस अवस्था में वह सेवा निवृत्त हो जाता है। अब वह आर्थिक रूप से कमाने योग्य नहीं रहता। अतः उसे पराश्रित रहना पड़ता है। अधिक कार्य न कर पाने के कारण वृद्ध प्रायः भार समझे जाने लगते हैं। अतः पारिवारिक तनाव की स्थिति भी उपस्थित हो जाती है। पीढ़ीगत भेद के कारण नवीन पीढ़ी से उसका सामंजस्य नहीं हो पाता जिससे वह कुंठाग्रस्त हो जाता है। अतः यहां भी वृद्ध व्यक्ति को समाजीकरण की आवश्यकता पड़ती है । इस अवस्था में वृद्धों में एक तरफ पूर्वावस्थाओं में समाजीकृत भूमिकाओं के विसर्जन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है तो दूसरी तरफ अवकाश कार्यों से सामंजस्य की । यद्यपि वृद्ध महत्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्वों का परित्याग कर देते हैं फिर भी सामाजिक परिस्थितियों व परंपराओं के अनुसार वे अनेक हल्के फुल्के कार्य करते हैं जैसे बच्चों की, घर की व बगीचे की देखभाल आदि। अनुभवी परामर्शक के रूप में उनका महत्व समाज में सदैव ही बना रहता है। संक्षेप में वृद्ध व्यक्तियों को सामाजिक व्यावसायिक व वैचारिक क्षेत्रों में अनेक प्रकार के समझौते करने पड़ते हैं। नई परिस्थितियों में व्यावहार के नए प्रतिमान उन्हें सीखने ही नहीं पड़ते अपितु उनके संदर्भ में उन्हें आचरण भी करना पड़ता है।

इस प्रकार किसी व्यक्ति के व्यक्तिव के विकास में समाजीकरण की सबसे प्रमुख भूमिका होती है। व्यक्तिव का विकास सिर्फ जैविक प्रक्रिया नहीं है बल्कि सामाजिक प्रक्रिया है। व्यक्ति जन्म से ही अपने गुणों को प्राप्त नहीं करता बल्कि समाज के सदस्य के रूप में वह धीरे-धीरे अर्जित करता है। लुंडबर्ग ने अपनी कृति 'सोशयोलॉजी' में समाजीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि व्यक्ति का व्यवहार जब समाज के अनुरूप होता है तो उसे समाजीकरण से व्यक्त करते हैं।

21.5 समाजीकरण के अभिकरण

बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक व्यक्ति के जीवन में जितने भी लोग आते हैं उन सभी से वह कुछ न कुछ अवश्य सीखता है । इसलिए कहा जाता है कि समाजीकरण के बहुत सारे अभिकरण होते हैं। इसके बावजूद कुछ ऐसे अभिकरण हैं जो विश्वव्यापी स्तर पर समाजीकरण की प्रक्रिया में अहम भूमिका निभाते हैं। किंबाल यंग ने लिखा है कि 'समाज के अंतर्गत समाजीकरण के विभिन्न साधनों में परिवार सबसे महत्वपूर्ण है । परिवार के अंतर्गत माता-पिता ही साधारणतया सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं । समाजीकरण के अन्य साधनों में पड़ोस, सगे-संबंधी, प्राथमिक समूहों के सदस्य तथा बाद में द्वितीयक समूहों की सदस्यता आती है । समाजीकरण करने वाली संस्थाओं को दो भागों में विभाजित किया गया है -

- प्राथमिक संस्थाएं
- द्वैतीयक संस्थाएं

21.5.1 प्राथमिक संस्थाएं: प्राथमिक संस्थाएं वे हैं जहां बालक का प्रारंभिक स्तर का समाजीकरण होता है , जिसमें उसके मूलभूत व्यक्तित्व का निर्माण होता है। ये संस्थाएं निम्न हैं

(अ) परिवार: समाज का निर्माण और उसकी निरंतरता परिवार के द्वारा ही संभव है । शिशु परिवार में जन्म लेता है अतः सर्वप्रथम अपने समाज एवं संस्कृति के बारे में परिवार में ही सीखता है। बोलना, खड़ा होकर चलना, ढंग से रहना, वस्त्र पहनना, विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ व्यवहार करने के संबंध में सर्वप्रथम वह परिवार में ही सीखता है । परिवार में ही वह उचित अनुचित में भेद करना सीखता है उसमें नैतिकता के भाव उत्पन्न होते हैं । भाषा का प्रयोग विभिन्न लोगों के साथ अनुकूलन करना, बड़ों की आज्ञा पालन करना, पारिवारिक आदर्श व मूल्य व आदर्श नागरिकता का पाठ परिवार से ही सीखता है। अतः कहा जाता है कि परिवार शिशु की प्रथम पाठशाला है। बच्चा परिवार का ही प्रतिरूप होता है। परिवार से ही बालक को प्रस्थिति व भूमिका का ज्ञान होता है।

परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है, अतः समस्त विश्व में यह समाजीकरण की आधारभूत संस्था है। पारसंस ने व्यक्तित्व निर्माण के लिए परिवार को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि परिवार बालक के व्यक्तित्व को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है इसी कारण व्यक्ति के समाजीकरण में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

(ब) मित्रों का समूह: बच्चा घर से बाहर जिस दूसरी समाज व्यवस्था में अंतर्क्रिया करता है वह मित्र समूह होता है । बच्चा घर से बाहर निकल कर अपने साथियों के साथ खेलता है जहां वह अनेक प्रकार के व्यवहारों को सीखता है - खेल के नियम, अनुशासन, नेतृत्व के गुण, अन्य साथियों से अनुकूलन करना आदि वह अपने साथी समूह में ही सीखता है । खेलते समय उसमें परस्पर सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, सहकारिता आदि गुण विकसित होते हैं। ब्रूम व सेल्जनिक ने कहा है कि मित्रों के समूह का आधुनिक युग में अत्यंत महत्व है क्योंकि 'आधुनिक व्यक्ति' दूसरों के मूल्यों व विश्वासों में अधिक आस्था रखता है।

(स) पड़ोस: पड़ोस का भी बच्चे के समाजीकरण में महत्वपूर्ण योगदान होता है । शहरों की तुलना में गांवों में पड़ोस का अधिक प्रभाव होता है। बच्चे अनजाने में ही पड़ोसी से ही कई बातें सीख जाते हैं उसका वहां के लोगों व बच्चों पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति जिस ढंग के परिवेश में रहता है उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व में अवश्य दिखाई पड़ता है।

(द) नातेदारी समूह: नातेदारी समूह में रक्त एवं विवाह से संबंधित सभी रिश्तेदार आ जाते हैं। अतः भाई-बहिन, पति-पत्नी, साले- साली, सास-ससुर व उनके भी दूर के संबंधी हमारे संबंधी हो जाते हैं। इन सबसे हमारा पृथक-पृथक व्यवहार होता है। किसी के साथ परिहास का तो किसी के साथ परिहार का व किसी से माध्यमिक संबंध है। इन सब के पृथक-पृथक व्यवहार प्रतिमानों को हम सीखते हैं। प्रस्थिति व भूमिका की श्रृखलाएं व्यवहार के द्वारा हम आत्मसात करते जाते हैं।

(य) विवाह: विवाह का भी व्यक्ति के जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है । विवाह के बाद लड़के व लड़की को पति-पत्नी की भूमिका निभानी होती है । उन्हें नए दायित्वों का निर्वाह करना होता है । एक दूसरे के लिए त्याग करना होता है , परस्पर निष्ठा व विश्वास रखना होता है । नई प्रस्थितियां व भूमिकाएं विवाह के उपरांत ही ग्रहण की जाती हैं जिनके साथ तादात्म्य व आंतरीकरण करना होता है।

21.5.2 द्वितीयक संस्थाएं

(अ) **शिक्षण संस्थाएं**: शिक्षण संस्थाएं हमें समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाती हैं और यही समाजीकरण है । शिक्षण संस्थाओं में समाजीकरण के तीन स्त्रोत है (1) गुरूजन (2) सहपाठी (3) पुस्तक। इन्हीं तीन चीजों के मिलने से स्कूली शिक्षा का वातावरण निर्मित होता है जिसके प्रभाव से

व्यक्तित्व का विकास होता है। यहां व्यक्ति नवीन ज्ञान अर्जित करता है, उसकी मानसिक क्षमता का विकास होता है। व्यक्ति समाज व संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर व्यक्तित्व में निखार लाता है।

(ब) **राजनीतिक संस्थाएं**: राजनीतिक संस्थाएं व्यक्ति को शासन, कानून, अनुशासन आदि सीखाती हैं। ये व्यक्ति को उसके कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति जागरूक करती हैं। ये संस्थाएं समाज की दिशा का ज्ञान कराती हैं जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना समाजीकरण कर सकता है।

(स) **धार्मिक संस्थाएं**: व्यक्ति के जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव होता है। धार्मिक संस्थाएं हमें ईश्वर के बोध से अवगत कराती हैं। व्यक्ति में पवित्रता, न्याय, सच्चरित्रता, कर्तव्य परायणता, ईमानदारी, दया आदि गुणों का विकास करने में धर्म प्रमुख भूमिका निभाता है। धार्मिक संस्थाएं सीखाती हैं कि मंदिर या पवित्र स्थल पर कैसा व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार ये संस्थाएं व्यक्ति को धार्मिक शास्त्रों से परिचित कराती हैं।

(द) **आर्थिक संस्थाएं**: आर्थिक संस्थाएं व्यक्ति को जीवन यापन के लिए समर्थ बनाती हैं। ये संस्थाएं व्यक्ति को व्यावसायिक संघों से परिचित कराती हैं। व्यक्ति में सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा एवं समायोजन के भाव उत्पन्न करती हैं। मार्क्स व वेबलिन का मत है कि अधिक संस्थाएं ही व्यक्ति के जीवन और सामाजिक ढांचे को निर्धारित करती हैं।

(य) **सांस्कृतिक संस्थाएं**: सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा व्यक्ति समाज की संस्कृति से परिचित होता है। नगरों व महानगरों में कवि सम्मेलन, नाटक, गोष्ठियां आदि के आयोजनों द्वारा व्यक्तियों को उस समाज की संस्कृति से अवगत कराया जाता है। ये संस्थाएं व्यक्ति को अपनी संस्कृति से परिचित कराती हैं। इनके द्वारा व्यक्ति अपनी प्रथाओं, परंपराओं, वेशभूषा, साहित्य, कला, भाषा आदि से परिचित होता है और ये संस्थाएं उसके व्यक्तित्व के विकास में योग देती है।

इन सभी संस्थाओं के अतिरिक्त व्यक्ति व्यवसाय समूह द्वारा द्वारा भी सीखता है। किसी अजनबी के संपर्क में आने पर भी उससे विशिष्ठ प्रकार के व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती है इस प्रकार प्राथमिक व द्वितीयक संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति का समाज में समाजीकरण होता है जो आजन्म चलता रहता है।

21.6 सारांश

इस प्रकार समाजीकरण वह तरीका है जिसके द्वारा संस्कृति संचारित होती है और इससे व्यक्ति का जीवन संगठित रहता है। समाजीकरण जीवन पर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के द्वारा बच्चा समूह जीवन में भाग लेना सीखता है और अपने समाज के मूल्यों को ग्रहण करता है। समाजीकरण न केवल हमारे व्यवहार को नियमित करता है बल्कि व्यक्तित्व और आत्म जागरूकता के विकास के लिए भी अपरिहार्य शर्त है। इस प्रकार समाजीकरण के द्वारा जहां एक ओर संस्कृति का संचरण होता है वहीं व्यक्तित्व का विकास भी होता है।

बिना परिवार व समाज के समाजीकरण संभव नहीं। समाजीकरण के बिना मनुष्य पशुवत रहता है। डेविस ने अन्ना व इसाबिले नामक दो ऐसे समाज से विलग बालकों का उल्लेख किया है जो समाज से पृथक रहे। इसी कारण उनमें मानवोचित गुणों का विकास नहीं हो पाया। मानवोचित गुणों के विकास के लिए समाज से संपर्क जरूरी है। इस प्रकार समाज में रहते हुए ही समाजीकरण हो सकता है उसी के द्वारा व्यक्तित्व व संस्कृति का विकास संभव है।

बोध प्रश्न

1. ऑडियस व इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स क्या है ?

2. समाजीकरण की प्रक्रिया जीवन पर्यंत चलती है, कैसे ?

21.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ऑडियस कॉम्पलैक्स लड़के की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह अपनी मां से प्यार करता है। चाहता है कि उसके पिता उसकी मां को प्यार न करें। इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स लड़की की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह यह चाहती है कि उनके पिता उनसे प्यार करेंण, न कि माता से।

2. समाजीकरण कुछ विषेश समय तक चलने वाली प्रक्रिया नहीं अपितु आजन्म चलती रहने वाली प्रक्रिया है क्योंकि मनुष्य को जीवन पर्यंत मनुष्य को नई-नई प्रस्थितियां मिलती रहती हैं। जिनके लिए वह पहले से तैयार नहीं होता उसे सीखना पड़ता है कि वह इन प्रस्थितियों में कैसा व्यवहार करे

21.8 शब्दावली

1. **समाजीकरण** - समाज सम्मत मानदंडों को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है।

2. **प्रस्थिति** - किसी विशिष्ट व्यवस्था में निर्दिष्ट समय में व्यक्ति को जो स्थान प्राप्त होता है, वह उनकी प्रस्थिति कहलाती है।

3. **भूमिका** - प्रस्थिति का गतिशील पहलू भूमिका है।

4. **मानदंड** - संस्कृति द्वारा अनुमोदित व्यवहार के तरीके मानदंड हैं।

21.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

(1) सिंह, जे.पी., समाजशास्त्र: अवधारणाएं एवं सिद्धांत, प्रेंटिस - हाल इंडिया, नई दिल्ली, 2003।

(2) दोषी, एस.एल. एवं जैन पी.सी., समाजशास्त्र नई दिशाए, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 1998।

(4) सिंधी, एन.के. एवं गोस्वामी , वसुधाकर, समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर: 2005

(5) अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009